वर्ष - 13, अंक - 13 ISSN - 0975-2560 पंजीयन क्र. 04/14/01/08825/06

पारमिता

सम्पादक

प्रो. श्रीकान्त मिश्र

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

कार्यसमिति

प्रो. भरत कुमार तिवारी
अध्यक्ष
दर्शन एवं योग विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन विभाग
अ.प्र. सिंह विश्वविद्यालय,
रीवा (म.प्र.)

डॉ. अवनीश चन्द पाण्डेय
उपाध्यक्ष
दर्शन विभाग
सतीश चन्द्र कालेज, बलिया, (उ.प्र.)

डॉ. राजेश कुमार चौरसिया
उपाध्यक्ष
बसंत महाविद्यालय, राजघाट,
वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. देवदास साकेत
कोषाध्यक्ष
दर्शन विभाग
अ.प्र.सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

डॉ. विवेक कुमार पाण्डेय
सहसचिव
दर्शन एवं धर्म विभाग,एम.एम.व्ही.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. रेनू चौधरी
सहसचिव
सी.एम.पी.डिग्री कालेज
प्रयागराज (उ.प्र.)

डॉ. दिनेश पाटीदार
सहसचिव
दर्शन विभाग
शास.कमलाराजा कन्या स्वशासी
महाविद्यालय, ग्वालियर(म.प्र.)

सम्पादक मण्डल

1. डॉ. रंजना शर्मा, रायपुर
2. डॉ. बी.के. पटेल, नवागढ
3. डॉ. प्रबुद्ध मिश्र, अमरकंटक
4. डॉ. सिंधू पौडियाल, त्रिपुरा
5. डॉ. गोविन्द प्रसाद मिश्र, अमरकंटक
6. डॉ. विजय कुमार, मुजफ्फरपुर
7. डॉ. श्याम किशोर सिंह, वैशाली
8. डॉ. सूर्य प्रकाश पाण्डेय, वर्धा
9. डॉ. राजेश तिवारी, प्रयागराज
10. डॉ. आशुतोष कुमार सिंह, रीवा

परामर्शदात्री समिति

1. प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल, वाराणसी
2. प्रो. श्रीप्रकाश पाण्डेय, वाराणसी
3. प्रो. सच्चिदानन्द मिश्र, वाराणसी
4. प्रो. हरिशंकर उपाध्याय, प्रयागराज
5. प्रो. ऋषिकान्त पाण्डेय, प्रयागराज

पारमिता

वर्ष – 13, अंक – 13

सम्पादक
प्रो.श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र.एवं छ.ग.)

दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

पारमिता

वर्ष – 13, अंक – 13

प्रकाशक : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

सर्वाधिकार : दर्शन परिषद् (मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

प्रकाशन वर्ष : 2024

मुद्रक : अनिल प्रिंटर्स एण्ड स्टेशनर्स
विवेकानन्द नगर, रीवा (म.प्र.)

नोट : शोध पत्रिका में प्रकाशित शोध–पत्र के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होंगे। लेखक के विचारों से परिषद् की सहमति अनिवार्य नहीं है।

महासचिव की कलम से...

जबलपुर अधिवेशन में प्रस्तुत शोध–पत्रों/आलेखों के साथ पारमिता का यह अंक आपके कर कमलों में है। आप सभी के सहयोग, सदिच्छा तथा शुभ संकल्प से परिषद् शनैः शनैः एक वृहत् आकार ग्रहण करने की ओर अग्रसर है। जिस उदारता से पार्षदों ने व्याख्यानमालाओं तथा पुरस्कारों हेतु स्थाई निधि प्रदान की है तथा आगे निरंतर किए जाने की सम्भावना बनी हुई है, उससे हमारा परिषद् तो समृद्ध हो ही रहा है, साथ–साथ अधिवेशनों में सुदूर प्रदेशों से विभिन्न विद्वानों की सहभागिता एवं शोध पत्र वाचन से पारमिता के अकादमिक स्तर में भी विकास परिलक्षित हो रहा है। हम आशा करते हैं कि आप सभी का सतत सहयोग एवं मार्गदर्शन हमें प्राप्त होता रहेगा और हम सभी समवेत रूप में 'परिषद्' को तथा 'पारमिता' को एक भव्य स्वरूप प्रदान करने में सफल हो सकेंगे।

आगामी अधिवेशन दिनांक 24–25 फरवरी 2024 को नवीन शासकीय महाविद्यालय, नवागढ़ (छ.ग.) के आयोजकत्व में चाँपा जिला जाँजगीर, छ.ग. में आयोजित है। पूर्व की भाँति भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली 19 वें अधिवेशन का प्रायोजक है। इस अवसर पर छत्तीसगढ़ शासन का भी सहयोग उल्लेखनीय है। परिषद् के महासचिव के रूप में मैं सभी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ तथा अधिवेशन की सफलता हेतु परम पिता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

यह गौरव का विषय है कि निरंतर हमारी सदस्य संख्या में वृद्धि हो रही है। कोई भी अकादमिक संस्था अपने सदस्यों के अकादमिक क्षमता से अपनी पहचान बनाती है। हमारे पार्षदों के अकादमिक उन्नयन हेतु मंच प्रदान करना परिषद् का मुख्य ध्येय है। समस्त पार्षदों के लिए मेरी हार्दिक शुभकामना है, वे आगे बढ़ें, अपना व समाज का कल्याण करें और निरंतर करते रहें ....। इन्हीं शुभकामनाओं के साथ चाँपा में मिलन हेतु प्रतीक्षारत ....

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
महासचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.)

अनुक्रमणिका

क्र.	शोध–पत्र का शीर्षक	प्रतिभागी का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	वास्तविक धर्म – चेतना का धर्म	डॉ. रंजना शर्मा	01
2.	धर्म का स्वरूप (संस्कृत साहित्य के विशेष संदर्भ में)	डॉ. बी.एल.आर्मो	05
3.	दर्शन, दार्शनिक विधि और इसकी कार्यप्रणाली	डॉ. राकेश सोनी	10
4.	बौद्ध दर्शन के संदर्भ में चेतना का भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप	रघुनाथ पटेल	13
5.	योग दृष्टि (तत्वबोध प्रकरण ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)	डॉ संदीप कुमार चौरसिया	17
6.	नास्तिक भारतीय दर्शन में रहस्यवाद : बौद्ध एवं जैन के संदर्भ में	राकेश कुमार	26
7.	योग दर्शन में ध्यान संस्कृति के मूल तत्व	डॉ. देवेन्द्र कुमार जाटव	33
8.	बौद्ध परम्परा में शिक्षण–पद्धति	प्रवीण कुमार यादव	36
9.	वैदिक युग में शिक्षा	डॉ. नेहा शाक्य	42
10.	जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप	अनिता यादव	46
11.	भारतीय संस्कृति में मूल्य–बोध	कपिल नेमा	53
12.	दर्शन का विकास : यूनानी नीतिशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में	लेखा मिश्रा	56
13.	धर्म और नैतिकता : स्वामी विवेकानंद के विशेष सन्दर्भ में	रेनू उरॉव	59
14.	दर्शन का स्वरूप : वर्तमान परिस्थितियों के दृष्टिगत परिवर्तित होते आयाम	सौरभ द्विवेदी	62
15.	पातंजल योग में शौच की नैतिक उपादेयता	शशिभूषण प्रजापति	65
16.	बौद्ध धर्म का पर्यावरण में योगदान	डॉ. भारत वालोंद्रे	68
17.	जैन, बौद्ध तथा गांधी दर्शन का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव : एक तुलनात्मक अध्ययन	लालबिहारी कुशवाहा प्रो.श्रीकान्त मिश्र	72
18.	सत्यानंद योग परंपरा: योग अभ्यास से योग संस्कृति तक की यात्रा	डॉ.विनय पटेल	77
19.	ईशावास्योपनिषद–भाष्य में आचार्य शंकर कृत ज्ञान कर्म समुच्चय की आलोचना का समीक्षात्मक अनुशीलन	विकास पाण्डेय	81
20.	भारतीय दर्शन में धर्म	रितेश कुमार सिंह	84
21.	स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गाँधी के मानवतावाद का दार्शनिक अन्वेषण	सुन्दर लाल तिवारी	86
22.	भारतीय संस्कृति का दार्शनिक आधार	डॉ.सूर्यप्रकाश द्विवेदी	89
23.	भारतीय संस्कृति एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद	डॉ.आशुतोष कुमार सिंह	92
24.	भारतीय दर्शन में धर्म एवं नैतिकता की अवधारणा	डॉ.वर्षा चौरसिया	95

25.	भारतीय दर्शनमेंरोग योग एवं विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ	डॉ.एच.एन.सिंह	98
26.	स्फोटवाद का विवेचन	डॉ.रेनू चौधरी	100
27.	योग के विभिन्न आयाम : एक अनुशीलन	डॉ.प्रमोद कुमार सिंह	102
28.	अद्वैत वेदान्त की सर्वजनीन प्रयोजनीयता	डॉ.जयन्त उपाध्याय	106
29.	मनीषा पंचकम् का दार्शनिक विमर्श	जाहिरा खातून	115
30.	भारतीय संस्कृति : एक शाश्वत प्रक्रिया	कविता कुमारी	121
31.	Lingayat a native religion	Dr. Nagshetty K Shetkar	124
32.	Concept of faith in Christianity	Dr.Noel Dan	130
33.	Environmental Protection and Islam : A Philosophical Analysis	Dr. Aamir Riyaz	133
34	The Nature of God and Human Destiny : An Appraisal of the Philosophy of Descartes and Yoga System	Rinki Mishra	138
35.	An Analysis of Dharma in Classical Indian Philosophy	Pragya Ghosh	143
36.	Ethics of the Middle Way : Comparing Theravada Buddhism and Aristotle	Dr Mahak Uppal	147
37.	Metaphysical Doctrines of the Trka or Advaitasaiva Philosophy of Kashmir	Dr Saurabh Rawat	155
38.	Saivite Philosophy as an Indispensable Principle of Sangita	Monidipa Ghosh	158
39.	Dharmic tradition: The role of debate in theological faith and the underlying scientific temperament.	Manisha Rao	163
40.	The Functions of Philosophy in the light of Logicalempiricism	Surbala Verma	166
41.	Insights on Rorty's Critique of Philosophy	Mansi Vaish	170
42.	Transcendence in Art	Dr. Rinki Jadwani	175
43.	Karma and Dharma: Differences and Relation	Arjun Kumar	178
44	Relation of some religious state of affairs spects with the Human	Aryan Kumar Mall	180
45.	भारतीय संस्कृति की मूल्य–बोधक अवधारणा	डॉ.देवदास साकेत	182

व्याख्यानमाला / पुरस्कार

स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारि वेदान्त व्याख्यानमाला	185
स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव स्मृति योग व्याख्यानमाला	185
श्री रमण महर्षि व्याख्यानमाला	186
स्वामी श्री विष्णुतीर्थ स्मृति वेदान्त व्याख्यानमाला	187
स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ नीति दर्शन व्याख्यानमाला	188
स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज योग व्याख्यानमाला	189
संत कबीरदास दर्शन व्याख्यानमाला, संत रविदास व्याख्यानमाला	190
तैलंग स्वामी योग व्याख्यानमाला	191
स्वामी तारकेश्वरानन्द वेदान्त व्याख्यानमाला, श्री श्याम सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला	192
श्री कीर्तियोग व्याख्यानमाला	193
प्रो.सुरेन्द्र सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला	194
श्रीमती मालती देवी–पुन्नी लाल पटेल स्मृति पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला	194
श्री हजारीलाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला	195
श्री झाडूराम मरावी श्रीरामचरित मानास व्याख्यानमाला	196
प्रो.अशोक कुमार चटर्जी बौद्ध व्याख्यानमाला	196
राय बहादुर डॉ.हीरालाल राय ग्रन्थ पुरस्कार	197
प्रो.सरेन्द्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार	198
श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार, पंडित रामबिलास मिश्र युवा दार्शनिक पुरस्कार	199

वास्तविक धर्म – चेतना का धर्म

डॉ. रंजना शर्मा
विभागाध्यक्ष
दुर्गा महाविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि हमारे पास एक दूसरे से घृणा करने के लिए पर्याप्त धर्म है, किंतु एक दूसरे को प्यार करने के लिए नहीं है। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए डॉ. राधाकृष्णन अपने दर्शनिक मत को धर्म का मूल आधार मानते हुए वास्तविक धर्म चेतना के धर्म को मानते है, जो आंतरिक व आत्मिक है। आत्मज्ञान से दीप्त जीवन ही चेतना का धर्म है। चैतन्य का बोध ही ज्ञान और आनंद हैं। यह अनुभूति का विषय है, यह अवर्णनीय है। वाणी स्वयं इससे प्रकाशित होती है किंतु स्वयं इसको प्रकाशित नहीं कर सकती। यह आत्मा है जो अनुभूत करता है कि सब मे मै ही स्थित हूं और मुझ में सब स्थित है। इस चेतन को समझना और उसके अनुरूप कर्म करना ही धर्म है। मानव जीवन, आत्मा, चेतना व धर्म का जीवन है। इसकी परिपूर्णता प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार चेतना का धर्म आत्मिक एकता का धर्म है जो जीवन को उसकी समग्रता में स्वीकार करता है। मंदिर में और घर मे, व्यावसायिक जीवन मे और व्यावहारिक गृहस्थ जीवन मे, एक ही चैतन्य विद्यमान है। आत्मा का धर्म आंतरिक धर्म है जो चैतन्य का धर्म है। आत्मा प्रत्येक के अंदर निवास करती है, चैतन्य प्रत्येक के अंदर निवास करता है। इसे बाहर से प्राप्त नही करना होता, इसे अपने अंदर खोजना होता है अपनी चेतना में जानना होता है, उसका अपने अंदर बोध करना होता है। यही आत्मबोध है, यही आंतरिक सत्य है। धर्म को आत्मज्ञान, आत्मप्राप्त, आत्म–परिक्षित और आत्म–मनोनीत सत्य इसीलिए कहा जाता है। चूंकि हर व्यक्ति के अंदर आत्मा है, हर व्यक्ति के अंदर चेतना है, अतः सत्य ज्ञान को, चेतना के ज्ञान को, आत्मज्ञान को प्राप्त करने का अधिकारी हर व्यक्ति है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार आत्मज्ञान की प्राप्ति की सबसे बड़ी बाधा दूसरों के मत को बिना सोचे समझे स्वीकार कर लेना है। प्राचीन काल मे भारतीय मनीषि इसीलिए प्रश्नोत्तर पद्धति को अपनाते थे। केवल जिज्ञासु व्यक्ति ही आत्म सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन को इसीलिए सत्य प्राप्ति का साधन माना जाता था। निदिध्यासन के बिना श्रवण मनन का कोई महत्व, कोई औचित नहीं रह जाता। सत्य आत्मानुभव का विषय है, यह केवल धर्मग्रंथो के पठन –पाठन से प्राप्त नहीं होता। धर्मग्रंथों का पठन–पाठन केवल आत्म–सत्य को समझने सहायक होता है। स्वयं परीक्षण किये बिना आप्त–वचनों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं धार्मिक वह है जो सत्य को समझने की कोशिश करता है। जो परंपरावादी, लकीर के फकीर हैं, वे धार्मिक नहीं है। धार्मिक वह है जिसका हृदय उदार है, जिसका दृष्टिकोण व्यापक है, जो सहिष्णु है। महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था कि वे उनका कथन केवल तभी मानें जब उनकी बुद्धि उसे स्वीकार करे। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं आत्म–प्राप्त धर्म, जो चेतना का धर्म है, किसी अदृश्य, अद्वितीय शक्ति की वाणी मात्र नहीं है, न ही वह धार्मिक अर्थ में ईश्वर प्रदत्त है और न ही कोई चमत्कार है। यह मनुष्य द्वारा अनुभूत सत्य है। यह श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा उत्पन्न उच्च स्तरीय चेतना की प्राप्ति है, यही ईश्वर साक्षात्कार है, यही आत्म साक्षात्कार है। यह दिव्य संपर्क है एवं इसकी अनुभूति ही आत्मिक धर्म व चेतना का धर्म है। सभी धर्मों व उनके धर्मग्रंथो व उनके धार्मिक सत्य–प्रेमियों के आत्मिक अनुभव समान होने का प्रमुख कारण ही यह है कि सब दिव्य चेतना, ईश्वरीय–चेतना से उत्पन्न है। सबमें एक ही आत्मिक सत्य की एक ही चेतना की अभिव्यक्ति है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार चेतना का सत्य, चेतना का धर्म मनुष्य की पूर्णता, उसके चरित्र की पूर्णता एवं आत्मा की पूर्णता है। इस पूर्णता की प्राप्ति निम्न प्रवृत्ति, पशु–प्रवृत्ति, से ऊपर उठना है। यही दिव्यत्व है,

यही ईश्वरत्व है और यही चेतना का धर्म है। यह आंतरिक बाह्य जीवन का संतुलन है। मानव जीवन का लक्ष्य धार्मिक चेतना से युक्त होता है जो कटुता, संकीर्णता, रूढ़ि, विवाद, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार से मुक्त होता है। धार्मिक बनने के लिए रूढ़िगत धर्मो का त्याग करना होता है तभी दिव्य परम तत्व कण–कण में दिखायी देता है, तभी दिव्य चेतना, आत्म चेतना का बोध होता है। यह चेतना का उच्च स्तर है, यहां सबमें दिव्य चेतना दिखायी देती है व अनुभूत होती है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार दिव्य चेतना को अनुभूत करने वाला कर्मयोगी होता है। वह फल की आशा से रहित होकर कर्म करता है और सबको अपने समान देखता व अनुभूत करता है। जो चेतना सबमे है वही चेतना मुझमे है इसको अनुभूत कर सभी के साथ आत्मवत् व्यवहार करता है। यह चेतना का उच्च स्तर है और यही धर्म है, यही चेतना का धर्म है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार धर्म का उद्देश्य संपूर्ण विश्व में चेतना का सर्वोच्च स्तर, आध्यात्मिक पूर्णता स्थापित करना है, इसके लिए सभी धार्मिक व्यक्ति को सक्रिय होना होगा। विश्व की आध्यात्मिक पूर्णता के लिए समाज में आमूल परिवर्तन भी लाना होगा, लोगो में आंतरिक रूपान्तरण करना होगा। लोगों को अपनी निम्न प्रवृत्ति इच्छा, कामना, वासना, घृणा, द्वेष, हिंसा, क्रोध, अहंकार से उपर उठकर उच्च मनोभवों से युक्त होना होगा, सबमें दिव्य चेतना है, सभी हमारे जैसे है, सभी समान है। जब सबकी चेतना इस उच्च स्तर पर पहुंचेगी तभी विश्व मुक्ति, सर्व मुक्ति होगी और ऐसा केवल चेतना के धर्म द्वारा ही संभव हो सकता है यही संसार को आनंदमय बनायेगा जहां ईर्ष्या, द्वेष, नफरत, असमानता का कोई स्थान नही होगा। यह आत्मिक एकता व आनंद का धर्म है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार ऐसा जीवन समझने के लिए चेतना का ज्ञान आवश्यकता है क्योंकि यही जीवन व विश्व को संयोजित कर सकता है। इस प्रकार चेतना का धर्म वैयक्तिक और सामाजिक जागृति का धर्म है।

धर्म व्यक्ति विशेष से संबद्ध होकर समस्त मानवता से संबंधित हो जाता है। चेतना का धर्म जाग्रत मनुष्यत्व, सहअस्तित्व, सहबन्धुत्व, सह–जीवन का धर्म है। यह पूर्णता का जीवन है, यह मानव सेवा, लोकसेवा का धर्म है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार वर्तमान मे मानव जीवन, तथा विश्व का प्रमुख संकट मानव बोध का संकट है। इस संकट से सत्य ही बाहर निकाल सकता है। प्रत्येक धर्म के प्रचलित रूप में परिष्कार की आवश्यकता है, और यह परिष्कार मानव–बोध से ही हो सकता है। यह परिष्कार व्यापक विश्लेषण, उसकी कमियों को जानने व उसे दूर करने से होगा। आत्मबोध के लिए शाश्वत मूल्य युक्त जीवन जीना आवश्यक है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं प्रत्येक धर्म चाहे उसका आधार कितना ही व्यापक और गहन क्यो न हो, समय के प्रवाह में, कालांतर मे संकीर्णताओं व कुरीतियों से आच्छादित हो ही जाता है। अतः आवश्यक है उसके अन्तर्तथ्य सत्यम् शिवम् सुन्दरम् को आत्मबोध द्वारा प्रकाशित किया जाय और इसके लिए धर्म के बाह्य कलुषित रूप को हटाया जाय। अतः यह प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह धर्म को ज्यों का त्यों ग्रहण न करे, वरन उसके वास्तविक रूप को ग्रहण करे। धर्म वह नहीं है जो विधि – विधानों, परिपाटियों के रूप में प्रचलित है। इसलिए किसी भी धर्म को पूरी तरह से भला या बुरा कहना गलत है अल्पज्ञता है। धर्म के आंतारिक सत्य को जानना ही धार्मिक होना है। धर्म के अंतः स्थित सत्य को जाने बिना मानव का कल्याण नही हो सकता। धर्म की पुनर्व्याख्या करना प्रत्येक दार्शनिक, प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। प्राचीन सत्य को नवीन रूप देना आवश्यक है तभी मनुष्य के जीवन की समस्याओं का हल होगा, तभी मनुष्य उचित ढंग से जी पायेगा। भूत को उचित प्रकार से अपना कर ही वर्तमान मे जिया जा सकता है। अतः भूत, वर्तमान, भविष्य मानवता के विकास की अविच्छिन्न धारा है जिसे एकता मे ही समझा जा सकता है। धर्म समकालीन आवश्यकताओं की उपज है। धार्मिक नियम कई बार आवश्यकताओं के परिवर्तन के साथ कई बार अनुपयोगी व निरर्थक भी हो जाते है। अतः धर्म की आंतरिक चेतना को जानना आवश्यक है, जो शाश्वत है।

डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार सच्चे, वास्तविक धर्म का स्त्रोत चेतना है जब मनुष्य चेतना के सत्य को भूल जाता है तभी धर्म का पतन होता है। चेतना का धर्म संकीर्णता से परे और निष्पक्ष है। यह धर्म के मूल सिद्धांतों

का परित्याग नही करता वरन् सामाजिक विधान की आवश्यकताओ के विशिष्ट संदर्भ में उनकी पुनर्व्याख्या करता है। वही सत्य वरणीय है जो आत्मनिर्धारित, आत्मपरीक्षित और आत्मसंचित है। धर्म पत्थर की लकीर नही हो सकता। चेतना का धर्म मानवता का धर्म है। प्रारंभ मे व्यक्तिगत स्तर पर सत्य की खोज मनुष्य करता है किंतु सत्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् सामाजिक जीवन का, सामाजिक कल्याण का संरक्षक, प्रवर्तक बन जाता है, महात्मा बुद्ध, महावीर जैन, शंकराचार्य इसके उदाहरण है। उनका व्यक्तिगत मोक्ष सामाजिक मोक्ष व सबके कल्याण की ओर उन्मुख हो गया था। इन लोगों ने पूरा जीवन मानव सेवा, मानव कल्याण मे लगाया था। आत्म त्याग ही उनका जीवन व धर्म था। जब तक संपूर्ण विश्व संकीर्णताओं से मुक्त नही हो जाता तब तक वैयक्तिक मुक्ति का कोई अर्थ नहीं। सामाजिक कल्याण के बिना मानव कल्याण संभव नही। महात्मा बुद्ध ने करूणा का महावीर ने अहिंसा का संदेश सामाजिक कल्याण के लिए ही दिया था। गांधी जी ने इसीलिए दरिद्रनारायण की बात कही थी। "सियाराममय सब जग जाना" यही धर्म है। नैतिकता, धर्म सदाचार एक ही है। इसलिए सदगुण ही ज्ञान है सुकरात कहता है। प्रज्ञा आचरण, व्यवहार व शील द्वारा ही व्यक्त होता है। इसलिए शील व आचरण को सत्य, अहिंसा, प्रेम, करूणा अपरिग्रह अस्तेय माना गया।

चेतना का बोध, अर्थात् धार्मिक बोध वह बोध है जो सभी को समान देखता है तथा सभी में एक दिव्य चेतना का अनुभव करता है। व्यक्गित मुक्ति की पूर्णता सार्वभौम मुक्ति है। धर्म मूलतः परम सत्य का अनुभव है। जीवन की पूर्णता को समझना ही धार्मिक, आध्यात्मिक जीवन है। विश्वात्मा को सर्वत्र देखना ही धार्मिकता है। आज मानव के समक्ष मनुष्यत्व तथा मानवता के संरक्षण की आवश्यकता है, इसके लिए आध्यात्मिक मूल्यों व अध्यात्मिक धर्मों को अपनाना आवश्यक है जो समस्त समाज के समस्त अनाचार, अन्याय को दूर करे तथा एक योद्धा की तरह सदाचार को स्थापित करे। धर्म परक मूल्यों में विश्वास कर उन्हे जीवन मे, आचरण मे अपनाकर एक निश्चित जीवन पद्धति को अपनाकर यह पुनीत कार्य किया जा सकता है। धर्म वह अनुशासन है जो बुराई से संघर्ष कर आन्तरिक रूप से काम क्रोध, लोभ, अहंकार से मुक्त कर व्यक्ति को नैतिक बल प्रदान करता है तथा समाज कल्याण के लिए साहस से परिपूर्ण करता है। सच्चे धार्मिक व्यक्ति का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा होता है जिसमें धर्म-विश्वासों, धर्म-सिद्धांतो की बेड़ियां नही होती। न्यायपूर्वक आचरण करना, प्रेम करना और साथ की भावना के साथ विनम्रता पूर्वक चलना ही सबसे ऊंचा धर्म है। इन अल अरबी लिखते है कि "मेरा हृदय अब प्रत्येक रूप धारण करने मे समर्थ बन गया है, हिरनों के लिए यह चरने का मैदान है और इसाई मठवासियों के लिए मठ है और मूर्तियों के लिए यह मंदिर है और हाजियों के लिए यह काबा और टोरा की मेज और कुरान की पुस्तक है। मै तो प्रेम के धर्म को मानता हूं फिर उसके ऊँट मुझे जिधर भी ले जाय। मेरा धर्म और मेरी श्रद्धा ही सच्चा धर्म है।" (निकल्सन मीस्टिक्स ऑफ इस्लाम (1914) P. 105) धार्मिक विवाद हमे विभक्त करते है, प्रार्थना और ध्यान हमे परस्पर एक दूसरे से जोड़ते है। प्रार्थना जितनी अधिक गहरी होती है व्यक्ति सर्वोच्च ब्रह्म के ज्ञान मे, चेतना मे, उतना अधिक लीन हो जाता है। सभी धर्मो का लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन है, उच्च चेतना की अवस्था है और यही चेतना का धर्म है। सभी धर्मो का स्त्रोत एक ही परम तत्व है जो चेतना का उच्चतम स्तर है और यही परम आनंद का स्तर भी है।

धर्म चिन्तन पर बल देता है। जीवन का उद्देश्य एक उच्च स्तर चेतना को प्राप्त करना है और यह चेतना कांट के अनुसार "इस प्रकार कर्म कीजिये कि मानवता चाहे आपके व्यक्तित्व में हो या दूसरे के, सदैव साध्य बनी रहे मात्र साधन नहीं। "महर्षि व्यास जी कहते है" सब प्राणी सुखी हों, सब परम आनंद प्राप्त करें, सब भले दिन देखें, कोई भी दुख न पाये।" सबको दिव्य चेतना के मानवीय रूप से ही प्यार करना चाहिये चाहे वह मूर्तिपूजक हो या ना हो। जहां शांति और करूणा का निवास है वहीं भगवान का दिव्य चेतना का निवास है। मानव सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। स्वामी विवेकानंद कहते है" मै उस प्रभु का सेवक हूं जिसे अज्ञानी लोग मनुष्य कहते है। धार्मिक विधियों, कर्मकांड का उपयोग आंतरिक शुद्धि के लिए ही करना चाहिए क्योकि आंतारिक मलिनता से मुक्त होकर ही परम चैतन्य की अवस्था में पहुंच जा सकता है। कोई जाति या राष्ट्र ही मानवता

नही है बल्कि मानवता पूरी मनुष्य जाति है जिसके लिए आध्यात्मिक मूल्यो पर आधारित एक नैतिक समुदाय का विकास करना होगा जो चेतना के धर्म को माने। भूख किसी राष्ट्रीयता को नही जानती। विश्व के साधनों का विकास समूची मानव जाति के लिए होना चाहिए। मानवता को सिर्फ एक संगठन के रूप मे नही बल्कि एक जीवित रचना के रूप में देखने की जरूरत है जो आंतरिक रूप से उन मूल्यों से संग्रहित हो जिसमे मानवीय गौरव और स्वतंत्रता हो। इदय परिवर्तन के द्वारा विश्वव्यापी सजगता व सहयोग को बढ़ाना चाहिए। एकता की स्थापना विचारो को दबाकर नहीं वरन विचारो के माध्यम से करना चाहिए। जो मानवता की एक नयी चेतना तक मनुष्य को ले जायेगा। मानववाद धर्म के खिलाफ नही है और न ही स्वस्थ जीवन के खिलाफ है जो जितना कट्टरपंथी होता है उतना ही संवेदनहीन होता है संवेदनयुक्त व्यापक दृष्टिकोण, मानवतावाद, को अपनाकर धर्म में सार्वभौम दृष्टिकोण का समायोजन करना चाहिए। धर्म गुरूओं को अपने अनुयायियों को यह बताना चाहिये कि जिस धर्म को वह मान रहे है वह कई धर्मो मे से एक है। कोई भी धर्म आलोचना से परे नही है सभी में कुछ कोई न कोई श्रेष्ठता है । सभी धर्मो मे आमूल परिवर्तन की एक प्रवृत्ति होती है, और यह प्रवृत्ति मानवतायुक्त होनी चाहिए।

विलियम ला के अनुसार ईसा द्वारा मुक्ति पाने का मतलब उनकी तरह बनना है, उन्ही की तरह विनम्र और विनयशील बनना है। साधुत्व किसी एक धर्म का सर्वाधिकार नहीं है। अगर धर्म सच्चा है तो उसे मनुष्य के संपूर्ण जीवन को पवित्र करना चाहिये, प्रेम में आनंदित होना चाहिए। यह हमारी जिम्मेदारी है कि हम दूसरे के धर्मो को समझे। विभिन्न धार्मिक भावनाएं एक ही भावना एक ही चेतना से युक्त है जिसमे व्यक्ति और विश्व दोनो की मुक्ति है। ऐसा कभी मत सोचो कि केवल तुम्हारा धर्म ही श्रेष्ठ है। सभी धर्मो में जो आदर योग्य है, उसका आदर करो, उसे ग्रहण करो। अपने धर्म को अच्छे से समझने के लिए दूसरे धर्मो का अध्ययन आवश्यक है। एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति लोगो को अपने जीवन और कार्य से प्रेम और सहिष्णुता सिखाता है। कोई भी धर्म पूर्ण धर्म नही है धर्म एक गति, एक विकास है जिसमे नूतन–पुरातन पर टिका होता है। धर्म आंतरिक जीवन का सुसंस्कार है, अध्यात्मिक स्वतंत्रता की प्राप्ति है। सच्ची पूजा मानवता की सेवा है। सच्चा धर्म मानव जाति की एकता की अर्न्तदृष्टि है जो आध्यात्मिक समाज के लिए कार्य करता है। प्रेम दूसरे मनुष्य की आंखो से देखना दूसरे मनुष्य के हृदय से अनुभव करना और दूसरे मनुष्य के मन को समझना है। "हे प्रभु मुझे समझने की शक्ति दो।" यही धर्म है।

इस प्रकार राधाकृष्णन के दर्शन में धर्म की अवधारणा बिल्कुल अलग रूप मे दिखायी देता है। उनके लिए धर्म चेतना का धर्म है, आत्मा का धर्म है, अध्यात्मिकता का धर्म है, मानवता का धर्म है। चेतना के जिस स्तर पर हम होते है धर्म भी वैसा ही होता है। आवश्यकता है चेतना के उस स्तर पर पहुंचने की जो सर्वोच्च है, जहां सब ईश्वरमय है, जहां सबमें हमे एक ही आत्मा के दर्शन होते है। सर्वत्र दिव्य तत्व विद्यमान है, सर्वत्र ब्रह्म विद्यमान है। जिस दिन सबमें ब्रह्म दिखने लगेगा उस दिन सभी मनुष्य समान हो जायेंगे, सबके प्रति हमारा व्यवहार, आचरण भी समान हो जायेगा। चेतना का यह सर्वोच्च स्तर ही धर्म है और यही मानवता व आत्मा का धर्म है। अतः प्रत्येक मनुष्य के जीवन का उद्देश्य इसी चेतना के धर्म को अपनाना होना चाहिए तभी प्रत्येक मानव व समाज का कल्याण होगा।

संदर्भ ग्रन्थ –

1. राधाकृष्णन का विश्व दर्शन–शांति जोशी, राजकमल प्रकाशन (1963) प्राईवेट लिमिटेड, 8 फैज बाजार, दिल्ली–6
2. धर्म और समाज–डॉ. राधाकृष्णन, प्रकाशक – राजकमल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट दिल्ली–6
3. आधुनिक युग में धर्म– सर्वपल्ली राधाकृष्णन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली–6
4. धर्म तुलनात्मक दृष्टि में – डॉ. राधाकृष्णन, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली–6

धर्म का स्वरूप
(संस्कृत साहित्य के विशेष संदर्भ में)

डॉ. बी.एल.आर्मो
सहायक प्राध्यापक
विभागाध्यक्ष संस्कृत
शासकीय मानकुँवर बाई
कला एवं वाणिज्य स्वशासी महिला
महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

'धर्म' शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है – धारण करना। दया, क्षमा, करुणा, परदुःखकातरता, प्रेम, सत्य, तप, त्याग, न्याय, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय आदि मानवमूल्यों को धारण करना और तदनुसार आचरण करना ही धर्म है 258 ईसा पूर्व सम्राट अशोक ने कांधार में एक द्विभाषी शिलालेख लगवाया था, इस शिलालेख में संस्कृत में धर्म और ग्रीक में धर्म का अनुवाद किया गया था, जिसका अर्थ मानव समुदाय के प्रति कर्त्तव्य पालन, जीवों के प्रति दया आदि। रिलीजन का अनुवाद मत या पंथ ही होना चाहिए, धर्म नहीं। भारतीय परंपरा में धर्म शब्द का प्रयोग उचित ढंग से हुआ है। धर्मपत्नी और धर्मशाला दो शब्द हैं, इनमें धर्म शब्द का प्रयोग अपने अभीष्ट अर्थ में ही हुआ है।

धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः (1) मनुस्मृति 2/10

धर्म के प्रमाण अथवा स्रोत के रूप में स्मृति की गणना है। धर्म के मुख्य स्रोत श्रुति और स्मृति है अतएव श्रुति और स्मृति द्वारा कहा गया धर्म ही अनुष्ठेय है। श्रुति अथवा वेद स्वतः प्रमाण और स्मृति आदि परतः प्रमाण है। वास्तव में एकमात्र वेद ही धर्म का ज्ञान कराने में पूर्ण समर्थ है। वेद के वाक्यों में जिसके करने की आज्ञा दी है, उसी का नाम धर्म है। धर्म अनुभव प्रधान है, प्रत्यक्ष–अनुमान–उपमान अर्थापत्ति प्रमाणों का विषय नही है, अतएव यह शब्द प्रमाण अर्थात वेद के प्रमाण से ही जाना जा सकता है। इसीलिए 'धर्म' में श्रुत्युनासारी स्मृति ही प्रमाण है जिससे वेदोक्त धर्म का स्मरण अथवा चिन्तन किया जाता है वह 'स्मृति' है– स्मर्यते वेदधर्मोनेन इति। धर्म के संदर्भ में जो वेदार्थानु – भवजन्य और वेदार्थानुवादक मुनिजनों द्वारा प्रणीत वाक्य रूप प्रमाण है उसको स्मृति कहते है। जैसे – मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि। वेदार्थानुभव–जन्यं वेदार्थानुवादकं धर्मे च प्रमाणं मुनिप्रणीतं वाक्यरूपम्, यथा मनुस्मृतियाज्ञवल्क्या– दिरित्याहु। जैसा कि मनु ने कहा है –

'वेदोखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम' (2) (मनुस्मृति 2/6)

यद्यपि धर्मशास्त्र मे सभी सूत्रग्रन्थ– श्रौत, गृह्य और धर्म, महाभारत, पुराण और मनु आदि की स्मृतियों समाविष्ट हैं, परन्तु धीरे धीरे विशाल धर्मशास्त्र की सामग्रियों ने संग्रह अथवा संहिता रूप धारण किया और वे स्मृति ग्रन्थों के रूप में प्रसिद्ध हुई है।

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम।। (3) (मनुस्मृति 6/92)

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण है।

1. धृति – धैर्य धारण करना या सन्तोष रखना धृति है।
2. क्षमा –दूसरों के द्वारा अपकार किये जाने पर भी स्वयं उसका अपकार न करना क्षमा कहलाती है।
3. दम – विकार के कारणभूत विषयों के विद्यमान रहने पर मन का विकृत न होना दम कहलाता है। सनन्दन आदि द्वन्दों की सहनशीलता को दम कहते है
4. अस्तेय–अन्याय के द्वारा परधन का ग्रहण करना अस्तेय(चोरी) है और उससे भिन्न अस्तेय कहलाता है।

5. शौच – शास्त्रोक्त विधान से मिट्टी जल आदि के द्वारा शरीर की पवित्रता रखना शौच है।
6. इन्द्रियनिग्रह– चक्षु आदि पाँचों इन्द्रियों को उनके अपने अपने विषयों से अलग करना इन्द्रियनिग्रह कहलाता है।
7. धी – (बुद्धि या ज्ञान) वेदादि शास्त्रों का तात्विक ज्ञान धी (बुद्धि) कहलाती है।
8. विद्या – आत्मज्ञान का नाम ही विद्या है।
9. सत्य – यथादृष्ट या यथाश्रुत वस्तु का यथार्थ (ज्यों का त्यों) कथन करना सत्य है।
10. अक्रोध –क्रोध के कारणों के विद्यमान रनहे पर भी क्रोध का उत्पन्न न होना अक्रोध कहलाता है।

उक्त धर्म के दस लक्षण है अर्थात् ये धर्म स्वरूप है।

भागवत में लिखा है कि वेद में जो कुछ कहा गया है वह धर्म है उसके विपरीत सब अधर्म है।

विश्वामित्र स्मृति का कथन है कि आगमवेता आर्यगण जिस कार्य की प्रशंसा करते हैं वह है धर्म, तथा जिसकी निन्दा करते हैं वह है अधर्म।

भागवत में धर्म के पुत्रों का भी कथन है। उसके अनुसार धर्म के पुत्र शुभ, प्रासाद, अभय, सुख मुद, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मृति, क्षेम और प्रश्रय।

अनेन धर्मः सविशेषमद्य में त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भाविनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थ कामया येदक एव प्रतिगृहय सेव्यते।।(3) (कुमारसम्भव 5/38)

हे प्रशस्त अभिप्राय वाली इस तुम्हारी तपस्या के कारण तो धर्म ही अतशय रूप से आज मुझे धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में श्रेष्ठ लगता है क्योंकि जिसके हृदय से भोगविलास सम्बंधी अर्थ और काम निकल गये है, ऐसे तुम्हारे द्वारा केवल धर्म ही स्वीकृत होकर पालन किया जा रहा है।

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्।। (4) (मनुस्मृति 1/114)

स्त्रियों के धर्म का उपाय, तपस्या, मोक्ष, सन्यास, राजा का सम्पूर्ण धर्म तथा कार्यों (ऋणादि) का लेन–देन का विचार मनु ने इस शास्त्र में कहा है।

वेदः स्मृतिः सदाचार स्वस्य च प्रियमात्मनः।
.एवच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।। (5) (मनुस्मृति 2/12)

वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी (साधु की) मन की प्रसन्नता यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण कहा गया है।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः ।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्।। (6) (मनुस्मृति 2/9)

श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित धर्म पर चलता हुआ मनुष्य निश्चय ही इस लोक में कीर्ति प्राप्त करता है और परलोक में उत्तम सुख प्राप्त करता है।

इस वास्तविक गुणों के कथन के द्वारा श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित धर्म के अनुष्ठान का विधान किया गया है। अर्थात् श्रुति, स्मृति में कहे गये धर्म का सबको पालन करना चाहिए।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः षष्ठांशकृत्तेरपि धर्म एषः।। (7) (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5/4)

सूर्य ने एक ही बार अपने घोड़ों को (सदा) के लिए जोता है वायु दिन–रात बहती रहती है। शेषनाग सदैव ही पृथ्वी के भार को धारण किये हुए है। राजा का भी यही धर्म है कि प्रजा पालन में तत्पर है।

स्नेहात्सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।

देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय

धर्मासनद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः। (8) (उत्तररामचरित 1/7)

जनक स्नेह के कारण अभिनंदन करने के लिए आकर इतने दिन उत्सव के साथ बिताकर विदेह नामक जनपद चले गये। उसी कारण से उदास देवी (सीता) की परिसान्त्वना के लिए राजा न्यायासन से (उठकर) शयनगृह में प्रवेश कर रहे है।

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः।

नृपा इवोप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते।। (9) (रघुवंश 13/7)

जिस प्रकार शत्रुओं द्वारा आतंकित होने पर भयभीत राजा शरणागत की रक्षा में समर्थ, मध्यम (तटस्थ) धर्मात्मा राजा की शरण में जाते हैं, उसी प्रकार इन्द्र द्वारा पक्षकाट लिये जाने से अभिमान शून्य सैकड़ों पर्वत इस सागर की शरण लेते है।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये।। (10) (मनुस्मृति 1/99)

ब्राह्मण उत्पन्न होते ही पृथ्वी पर श्रेष्ठ होता है। वह सभी प्राणियों के धर्म रूपी खजाने की रक्षा करने में समर्थ है।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।। (11) (श्रीमद्भगवद् गीता 1/1)

धृतराष्ट्र बोले–हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्रित, युद्ध की इच्छावाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया।

मानस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।

अपि निर्वाणमायति नानलो याति शीतताम्।। (12) (हितोपदेश 1/117)

विचारशील (स्वाभिमानी) पुरूष भले ही मृत्यु को पा लेता है किन्तु अपनी दीनता नहीं दिखाता। जैसे–अग्नि भले ही बुझ जाय पर शीतल नहीं होती।

वधू द्विजः पाह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।

शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति।। (13) (कुमार सम्भव 7/83)

हे वत्सेः यह अग्नि तुम्हारे और शंकर के विवाह कर्म का साक्षी है, अब तुम अपने पति शिव के साथ बिना विचारे धर्माचरण करना– ऐसा पुरोहित ने विवाह के समय पार्वती को उपदेश दिया।

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषास्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।

सचेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसिच्युतो विधिः।। (14) (रघुवंशम् 3/45)

अश्वापहारी इन्द्र के प्रति रघु ने कहा – हे देवेन्द्र ! तीनों लोकों के स्वामी दिव्य दृष्टि वाले आपके द्वारा जहाँ यज्ञध्वंसियों का संहार होना चाहिए था वहाँ आप ही यदि यज्ञ में इस तरह के विघ्न डाल रहे हैं तो भूतल पर यज्ञादि अनुष्ठान सदा सर्वदा के लिए लुप्त हो जायेंगे।

यमोऽपि विलिखन्भूमिं दण्डेनास्तमितत्विषा ।

कुरुतेस्मन्नमोघेऽपि निर्वाणालातलाघवम्।। (15) (कुमारसम्भव 2/23)

यह यमराज भी अस्तमित तेज वाले अपने दण्ड से पृथ्वी को कुदेरते हुए कभी व्यर्थ न होने वाले इसमें बुझे हुये कोयले के समान इसकी निष्क्रियता प्रकट कर रहे हैं।

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।

तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना।। (16) (रघुवंश 1/23)

सांसारिक विषय–वासनाओं के आकृष्ट नहीं होने वाले एवं वेद वेदाङ्गादि चतुर्दश विद्याओं के पारंगत धर्मानुरागी महाप्राण महाराज दिलीप यौवन में ही प्रचुर ज्ञानी हो गये थे कि वृद्धावस्था आने के पहले उनमें वृद्धत्व जान पड़ने लगा था। उनके विचार वृद्ध के समान जान पड़ते थे।

कृताभिषेकां हुतजातवेदसं त्वगुत्त रासङ्गवती मधीतिनीम् ।
दिदृक्षवस्तामृषयोभ्युपागमन्न धर्मवृद्धेषु वयः समीक्ष्यते।। (17) (कुमारसम्भव 5/16)

नित्य नियमपूर्वक स्नान करने वाली, अग्नि में हवन करने वाली तथा बल्कल का उत्तरीय धारण करने वाली एवं स्तुतिपाठ करने वाली पार्वती को देखने के लिये ऋषि मुनि भी आने लगे। क्योंकि धर्मवृद्धों के विषय में अवस्था का विचार नहीं करना चाहिए।

महर्षि वेदव्यास जी ने महाभारत में धर्म और अधर्म दो पक्ष बताये गये है एक पक्ष में युधिष्ठिर है, दूसरे पक्ष में दुर्योधन। आदि पर्व में युधिष्ठिर को धर्मद्रुम कहकर इस धर्मरूपी वृक्ष का मूल श्रीकृष्ण तत्वज्ञान तथा तत्वज्ञानियों को बताया गया है। युधिष्ठिर को इसीलिए धर्मराज भी कहा गया है। दूसरी ओर दुर्योधन है जो अर्थलिप्सा और सत्ता के मद में विवेक को विसार देता हैं। धर्म को वह समझता है पर उस पर आचरण नहीं कर सकता है वह कहता है–

जानामि धर्मं न च न में प्रवृत्तिर्जानाम्य धर्मं न च में निवृत्तिः मैं, धर्म क्या है यह भी जानता हूँ पर उससे मेरी प्रवृत्ति नहीं हो पाती और अधर्म क्या है यह भी जानता हूँ पर उस मेरी निवृत्ति नहीं हो पा रही।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ।।(18) (प्रसिद्ध उक्ति महाभारत)

धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जीवन के इन चारों पुरुषार्थों के विषय में महाभारत में जो कहा गया है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। (19) (श्रीमद्‌भगवद् गीता 4/7)

हे भारत ! जब जब धर्म का हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ।

परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। (20)(श्रीमद्‌भगवद् गीता 4/8)

साधु पुरूषों का उद्धार करने के लिये, पॉपकर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग–युग में प्रकट हुआ करता हूँ ।

निश्कर्षतः कहा जा सकता है कि धर्म का स्वरूप वेदों और संस्कृत साहित्य के विभिन्न नाटकों, विभिन्न महाकाव्यों, श्रीमद्‌भागवत गीता के माध्यम से धर्म का अर्थ उस परम सत्य को समझने के लिए प्रस्तुत किया गया है, जो विश्व के अस्तित्व का कारण है, जिसके कारण विश्व का प्रत्येक व्यक्ति, समाज अपने–अपने कार्य करने में समर्थ रहे।

संदर्भ–ग्रन्थ

1. मनुस्मृति 2/10
2. मनुस्मृति 2/06
3. मनुस्मृति 6/92
4. कुमारसम्भव 5/38
5. मनुस्मृति 1/114
6. मनुस्मृति 2/12
7. मनुस्मृति 2/9
8. अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5/4
9. उत्तररामचरितम् 1/7
10. रघुवंशम् 13/7

11. मनुस्मृति 1/99
12. श्रीमदभागवद गीता 1/1
13. हितोपदेश 1/117
14. कुमारसम्भवम् 7/83
15. रघुवंशम् 3/45
16. कुमारसम्भवम् 2/23
17. रघुवंशम् 1/23
18. कुमारसम्भवम् 5/16
19. प्रसिद्ध उक्ति महाभारत
20. श्रीमद्भगवद् गीता 4/7
21. श्रीमद्भगवद् गीता 4/8

******

दर्शन, दार्शनिक विधि और इसकी कार्यप्रणाली

डॉ. राकेश सोनी
सहायक प्राध्यापक(दर्शन शास्त्र)
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक (म.प्र.)

भारत के दर्शनशास्त्र के इतिहास में स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्रोत्तर काल में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में और परमपरा से स्वतंत्र अनेक दर्शतिकों द्वारा दर्शनशास्त्र पर तो खूब चर्चा की गयी है किन्तु, स्वतंत्र रूप से दर्शनशास्त्र के स्वरूप, दार्शनिक विधि और इसकी कार्यप्रणाली पर दर्शन को प्रायः 'दृश्यते इति दर्शनः' अथवा 'दश्यतेयथार्थ तत्वमनेन' अर्थात सिरे तत्व को देखा जाये या अनुभव किया जाये, के रूप में परिभाषित किया जाता है क्या यह परिभाषा सचमुच में दर्शनशास्त्र के स्वरूप पर पूर्ण प्रकाश डालती है? परिभाषा के अनुसार यह केवल तत्व को देखने या अनुभव की क्रिया या संज्ञा को प्रतिबिंबित करता है, इसी प्रकार अंग्रेजी के 'फिलोसोफी' शब्द भी 'लव ऑफ विजडम' अर्थात ज्ञान के प्रति अनुराग या प्रेम के रूप में देखा जाता है, जो ज्ञान के प्रति प्रेम की भावना मात्र को प्रकट करता है। यह परिभाषा भी ज्ञाता का किसी वस्तु जगत या यथार्थ अथवा सत्य के ज्ञान के प्रति भावनात्मक बौद्धिक संबंध मात्र को बताता है। दोनों ही शब्द दर्शन के स्वरूप पर आंशिक रूप से प्रकाश तो डालते है किन्तु परिभाषा के रूप में दर्शनशास्त्र के सम्पूर्ण स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाल पाते है। यह तब तक संभव नहीं जब तक दर्शनशास्त्र की विश्व और उसकी कार्य प्रणाली को अच्छी तरह से ना समझ लिया जाये। प्रस्तुत शोध पत्र दर्शनशास्त्र की विधि और इसकी कार्य प्रणाली पर पुनर्विचार करने की कोशिश की गयी है ताकि दर्शनशास्त्र को नए परिभाषा के आलोक में देखा जा सके।

दर्शन' और 'फिलोसीफी' का विश्लेषण : दर्शन या दर्शनशास्त्र को तत्व या सत्य की ज्ञान प्राप्ति के माध्यम के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस परिभाषा के अनुसार तत्व चिंतन से तत्व बोध या ज्ञान तो होता ही है, इस प्रक्रिया में इसकी चरम परिणति स्वयं तत्व या सत्य हो जाने में होती है। अर्थात सत्य का ज्ञान और सत्य की उपलब्धि दोनों ही घटना दर्शनशास्त्र के माध्यम से संभव है। किन्तु, असली सवाल चिंतन की विधि या प्रक्रिया के संबंध में उठता है आखिर दर्शनशास्त्र के अनुसार चिंतन की कौन सी विधि या प्रणाली है जिससे सत्य का ज्ञान और उसकी उपलब्धि दानों संभव है। तत्व चिंतन की विधि के पूर्व तत्व या सत्य पर विचार अपेक्षित है, क्या ऐसी कोई विधि या विचार संभव है जिससे सत्य की प्राप्ति हो सके? यदि ऐसा संभव है तो इसका अर्थ यह है की वह विधि या विचार या तो सत्य से कम व्त है, या समकक्ष है या उससे अधिक व्यापक है। यदि विधि सत्य से कम व्यापक है तो कम व्याप्य से अधिक व्यापक वस्तु की प्राप्ति कैसे संभव है? अर्थात संभव नहीं और यदि समकक्ष है तो समान व्याप्त प्रथक होकर एक कैसे हो सकती हैए क्योंकि दोनों ही समान सत्ता का प्रथक–प्रथक सत्ता का बोध कराते है और यदि विधि को अधिक व्यापक मान लिया जाये तो सत्य विधि मे अंतर्भूत हो जायेगा और विधि न होकर स्वयं सत्य हो जाएगा। ऐसी स्थिति में लक्षित सत्य सत्य नहीं रह जायेगा। इस प्रकार तीनों ही संभावनाओं से न तो सत्य का ज्ञान हो सकता है और न ही उसकी उपलब्धि इस दृष्टि से प्रथम दृष्टया तत्व चिंतन की कोई भी विधि संभव नहीं है। तो फिर दर्शनशास्त्र किस चिंतन की ओर इंगित करता है दरअसल दर्शनशास्त्र भाषा और तर्क के विश्लेषण से सत्य के बोध में बने उन सभी बाधाओं अर्थात वैचारिक भ्रम, अस्पष्टता, तार्किक असंगतता, अनिश्चितता, उलझन आदि को दूर करना है सत्य के ऊपर पड़े हुए वैचारिक परदे को उठाना मात्र है जिसके पश्चात सत्यः स्वयं ही हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। दूसरे शब्दों में आईने में स्वयं को स्पष्ट देखने के लिए दर्पण पर पड़े धूल को मात्र हटाना है, चेहरा स्वयं ही प्रकट हो जायेगा।

ध्यातव्य है कि पश्चिम में भाषा विश्लेषण का दार्शनिक आंदोलन इसी आशय को प्रकट करता है। किन्तु, इस आंदोलन में एक कमी थी जहाँ तक विश्लेषण का सवाल है वहां तक इस आंदोलन की महत्ता स्पष्ट है, और हमारे लिए मार्गदर्शन का काम करता है पर इसी आधार पर तत्वमीमांसा की संभावनाओं को नकार कर इसने गलत दिशा में निष्कर्ष निकाल लिया यह सच है किसी भी विचार या विधि से सत्य या तत्व को जाना नहीं जा सकता है ले इसका यह भी अर्थ नहीं है। किसी तत्व को सृजित नहीं किया जा सकता है। दर्शनशास्त्र की परिभाषा में 'संप्रत्यात्मक सृजन' के पक्ष का अभाव होने से यह परिभाषा अधूरी प्रतीत होती है।

'फिलोसोफी' शब्द ज्ञान तत्व पर ज्यादा जोर देता है बजाय तत्व ज्ञान पर जो ज्ञान–ज्ञाता और ज्ञेय के बीच संबंध को प्रकट करता है। यह ज्ञान तथ्य का भी हो सकता है और सत्य या तत्व का भी हो सकता है लेकिन ज्ञाता स्वयं सत्य के रूप में परिणित हो जाये, ऐसा संकेत प्राप्त नहीं होता है। पश्चिम की दार्शनिक परम्परा ज्ञान तत्व पर अधिक जोर देने की बजह से गणितीय ज्ञान को अपना आदर्श बनाते है। गणितीय ज्ञान भी बोधात्मक ज्ञान का ही एक रूप है लेकिन 'फिलोसोफी' आत्म ज्ञान या तत्व ज्ञान पर उतना केन्द्रित नहीं है जितना भारत के दर्शनशास्त्र में दिया जाता है। इस तरह के ज्ञान को प्राप्त करने की विधि तर्क और अनुभव पर आधारित है जो नियमों और सिद्धांतों के रूप में प्रकट होता है। वास्तव में इस मार्ग से भी तत्व को सम्प्रत्यों के माध्यम से समझने की कोशिश की जाती है।

गणित के ज्ञान की ही भांति प्रत्येक समाज की अपनी सांस्कृतिक बोधात्मक या प्रत्यात्मक ज्ञान की परम्परा होती है जो सहज, सरल, बोधगम्य और स्वप्रमाणित होती है, जिसे आधारभूत विश्वास के रूप में कार्य करता है। आधारभूत विश्वासों या सम्प्रत्यों को ज्ञान के रूप में सृजन करना 'फिलोसोफी' की विशेषता है इस प्रकार फिलोसोफी सृजनात्मकता का प्रतीक है तो दर्शनशास्त्र तत्व के बोधात्मकता का प्रतीक बन जाता है। किन्तु, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है की फिलोसोफी मे बोधात्मकता के प्रति सचेतना नहीं है या उसकी कोई परम्परा नहीं है और ना ही भारत की दार्शतिक परंपरा मै सृजनात्मकता की कोई कमी है। वास्तव में पश्चिम में फेनोमेनोलोजी आंदोलन दर्शन के सृद्धात्मकता के पक्ष को प्रकट करता है जो काफी सशक्त आंदोलन के रूप में प्रचलित रहा है। इस प्रकार पश्चिम मे विश्लेषणात्मक दर्शन बोधात्मक और फेनोमेनोलाजी और उत्तर आधुनिकवाद दर्शन सृजनात्मक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते है। किन्तु, मूल प्रयोजन ज्ञान की सृजनात्मकता के साथ जुड़ा रहा है तत्व के अनंत रूप से संबंधित के बजाय पूर्णता के रूप में ठीक इसके विपरीत भारत में दार्शनिक परम्परा तत्व के बोधात्मकता पर जोर अधिक देता है बजाय सृजनात्मकता के, इसके बावजूद सृजनात्मकता का पक्ष भी सशक्त रूप से जुड़ा रहा है समस्त वैदिक–अवैदिक दार्शनिक परम्परा का इतिहास एवं विमर्श अपनी गहराई में सृजनात्मकता को आत्मसात किये हुए है, पर प्रमुखता बोधात्मकता का ही है।

इस प्रकार दर्शन के दो पक्ष उभर कर आते है– बोधात्मकता और सृजनात्मकता बोधातमकता के मार्ग पर चलकर जो वास्तव में अपने कोई मार्ग नहीं, बस अपनी अज्ञानता को उघाड़ना मात्र से तत्व बोध उपलब्ध हो जाता है दूसरा मार्ग सृजनात्मकता का है जिसमें चलकर वास्तव में दार्शनिक मान्यताओं की रचना की जाती है। यह विचारो के सृजन का मार्ग है। बोधात्मकता तत्व की पूर्णता का प्रतीक है तो सृजनात्मकता तत्व के अनंत का प्रतीक है, दर्शन के ये दोनों ही पक्ष परस्पर विरूद्ध है तो यह उठेगा की वह कौन सा तत्व है जो इन दोनों को आपसमें जोड़ता है दयाकृष्ण दर्शन को 'अवधारणात्मक चिंतन' (Conceptual Thinking) कहते है, 'अवधारणतमक' शब्द की जगह 'बोधात्मक' शब्द का यदि उपयोग किया जाये तो ज्यादा स्पष्ट होगा अर्थात 'बोधात्मक चिंतन ही दर्शनशास्त्र है' किन्तु, इस परिभाषा से दर्शन का बोध पक्ष तो प्रकट होता है किन्तु सृजन पक्ष दिखाई नहीं देता है। यदि इसमें सृजन पक्ष जोड़ दे तो 'बोधात्मक सृजन चिंतन' (Conceptual Creative Thinking) या 'सृजनात्मक बोध चिंतन'(Creative Conceptual Thinking) के रूप में दर्शनशास्त्र को परिभाषित किया जा सकता है। अर्थात ऐसा चिंतन जो तत्व का बोध भी कराये और तत्व का सृजन भी कराये, दार्शनिक

चिंतन है इस परिभाषा में एक चीज उभयनिष्ठ है और वो है 'चिंतन' क्रिया चाहे बोध का हो या सृजन का दोनों में चिंतन समाहित है।

चिंतन की क्रिया एक विधि के रूप में हमारे समक्ष आती है जिसमें बोधात्मक और सृजनात्मक दोनों के गुण हो।

1. चिंतन, विधि के रूप: मे बोधात्मक चिंतन व्यक्तिगत समस्यायों के निदान में सहायक है तो सृजनात्मक चिंतन सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था से सम्बन्धित समस्यायों के निदान एवं सृजन के लिए है। जिस तरह से वैज्ञानिक चिंतन में आगमन और निगमन चिंतन या तर्क की विधि प्रचलित है उसी प्रकार दार्शनिक चिंतन में बोधात्मक और सृजनात्मक चिंतन की विधि समाहित है। व्यक्तिगत प्रतिभा इन दोनों चिंतन की विधि को संयोजित करता है।
2. दर्शन की भाषा और तर्क के विश्लेषण से आत्म या सत्य बोध और सृजनात्मक विधिनये विचार, नये विश्वास, संप्रत्यय, जीवन के नए अर्थ, व्याख्या, दृष्टिकोण, संसार आदि का सृजन
3. दर्शन के उपकरण: भाषा, तर्क, यथार्थ: वस्तुगत यथार्थ, आत्मगत यथार्थ–मैं, हम और अन्य अंतः चेतना (Intuition) और (Transdental consciousness) भावातीत चेतना।
4. दर्शन की कार्य प्रणाली: तत्वमीमांसा–बहुतत्ववाद, द्वैतवाद और उद्वैतवाद का विश्लेषण और सृजन।
5 ज्ञान मीमांसा: व्यवहारिक ज्ञान, वैज्ञानिक ज्ञान और दार्शनिक अथवा बोधात्मक ज्ञान / अवधारणात्मकज्ञान का विश्लेषण और सृजन।
6 मूल्य मीमांसा: व्यवहारिक मूल्य, सापेक्ष मूल्य और निरपेक्ष मूल्य का विश्लेषण और सृजन।
7 दर्शन का अध्ययन और समीक्षा: अध्ययन से आशय विश्लेषण की प्रक्रिया से दर्शन विशेष के विविध सम्प्रत्यों का बोध करते हुए तत्व बोध और सृजनात्मक प्रक्रिया के तहत विशिष्ट दर्शन को नये संदर्भ में देखना। समीक्षा के तहत विश्लेषण और सृजन विधि से दर्शन विशेष के गुण दोषों को देखना।
8 दार्शनिक अनुसंधान: से आशय ऐसे अनुसंधान से है जिसके अनुसार तर्क और भाषा के विश्लेषण से या तो विचारों की अस्पष्टता को स्पष्ट करना, उलझनों को दूर करना, भ्रमों और संदेह को दूर करना और अज्ञानता को दूर करना अथवा नयी व्याख्या और नये सम्प्रत्यों, अर्थों एवं विश्व दृष्टि की खोज करना।
9 दर्शन धर्म, अर्थ और मोक्ष: दर्शन अर्थात अवधारणात्मक या बोधात्मक चिंतन के तहत विश्लेषण और सृजन की विधि की सहायता से धर्म अर्थात व्यवस्था (राजनीतिक, प्रशासनिक और कानूनी) (आय और संपत्ति का सृजन एवं आर्थिक क्रिया) और काम अर्थात तकनीक तथा कला एवं साहित्य के माध्यम से अपनी इच्छाओं को संतुष्ट करना।
10 कश्मीर बोधात्मक और सृजनात्मक चिंतन–2009

संदर्भ सूची–

1. भारतीय दर्शन : एस राधाकृष्णन राजपाल एंड संस, नई दिल्ली
2. नेचर औफ फिलोसोफी : दयाकृष्णय आई. सी. पी. आर.नई दिल्ली, 2009
3. लोजिक लैनगेवेज एंड रियलटी : बी. के मतिलालय मोतीलाल बनारसीदास नई दिल्ली
4. ऐनालिटिक फिलोसोफी एंडफेनोमेनोलोजीरूडफी एच (संपा.) मटिनस निजहाफ, 1976
5. कश्मीर शैविज्म द सेन्ट्रल फिलोसोफी ऑफ तंत्रईज्म कमलाकर मिश्र श्री सतगुरु प्रकाशन, इंडियन बुक्स सेंटर, नई दिल्ली, प्रथम भारतीय प्रकाशन 1999.

******

बौद्ध दर्शन के संदर्भ में चेतना का भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप

रघुनाथ पटेल
शोध छात्र
दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

प्रस्तावना : चेतना संस्कृत शब्द विज्ञान (पालि, विज्ञान) का अनुवाद करती है, कुछ संदर्भों में विज्ञान, अवचेतन की अवधारणा को दर्शाता है। बौद्ध धर्म में सामान्य रूप से (योगाचार परंपरा को छोड़कर), विज्ञान को दो अन्य संस्कृत शब्दों का पर्याय माना जाता है–चित्त और मानस। बौद्ध धर्म एक पर्याप्त और चिरस्थायी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, परंतु भौतिकवादी परंपराओं के विपरीत, बौद्ध धर्म कभी भी चेतना (या मन) के अस्तित्व को नकारता नहीं है। बौद्ध दृष्टिकोण से, चेतना, आत्मा से इस तरह भिन्न है कि वह एक परिवर्तनशील, क्षणिक और नश्वर तत्व है। वस्तुतः चेतना को एक धारा की तरह सतत् उत्तरदायी कारक माना जाता है जो कि किसी तरह एक जीवन से दूसरे जीवन में प्रेषित किया जाता है। चेतना की यह निरंतरता व्यक्तिगत पहचान का प्रतिनिधित्व करती हैं। चेतना जीव तथा निर्जीव तत्वों में अंतर दर्शाती है।

बौद्ध ग्रंथों में छह प्रकार की चेतनाओं की गणना की गई हैः दृश्य चेतना, श्रवण चेतना, प्राण चेतना, स्वाद चेतना, स्पर्श चेतना और मानसिक चेतना। इन छह चेतनाओं को उनकी संबंधित वस्तुओं रूप, ध्वनि, गंध, स्वाद, स्पर्श संवेदना, और अवधारणाओं को पहचानने के लिए संबंधित, इंद्रिय संकायों आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर और मन दवारा समर्थित होना चाहिए। जब ये तीन तत्व इन्द्रिय संकाय, वस्तु और चेतना एक साथ आते हैं तब "संपर्क" अनुभूति होती है। पंचस्कंधसंघात में षरीर, पदार्थ (रूप), संवेदना (वेदना), विचार (संज्ञा), संकल्प (संस्कार), और चेतना (विज्ञान) आदि में चेतना संदर्भित होती हैं। शुद्ध चैतन्य या विज्ञानरूप तथा निरपेक्ष तत्व, निर्वाण है, अविद्या इस निर्विकल्प शुद्ध नित्य विज्ञान को "आवृत" कर लेती है, इस तरह अविद्या से परिपूर्ण शुद्ध विज्ञान (चेतना), तृष्णा के कारण आसक्ति में लीन रहता है। अतः अविद्या दुःख का मूल कारण है। यदि दुःख है, तो दुःख का कारण भी है। यदि दुःख का कारण हैं तो दुःख निरोध, एवम् दुःख निरोध मार्ग भी अवश्य है। इनकी विवेचना चार आर्य सत्यों में की गई है।

चार आर्यसत्य और चेतना की भूमिका

प्रथम आर्य सत्य : दुख अर्थात् संसार दुःखों से परिपूर्ण है।

दवितीय आर्य सत्य : दुःख समुदय अर्थात् दुःख की उत्पत्ति का कारण है। कारण–कार्य श्रृंखला रूप दवादशांग चक्र या प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र ही दुःख समुदय कहलाता है। जिसे भवचक्र, संसारचक्र, जन्ममरण चक्र और धर्मचक्र भी कहा जाता है।

हेतुप्रत्यायापेक्षो भवनमुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादार्थः" अर्थात् कारण पर निर्भर रहकर कार्य की उत्पति। द्वादश निदान में प्रथम अंग द्वितीय का, द्वितीय अंग तृतीय का कारण है, इस तरह चक्र चलता रहता है। ये द्वादश अंग हैं–अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, शडआयतन, स्पर्ष, वेदना, तृष्णा, उपादान, भाव, जाति एवं जरा–मरण। इन बारह अंगों में से प्रथम दो अविद्या तथा संस्कार, पूर्वजन्म से संबद्ध है, अंतिम दो अंग जाति तथा जरा मरण, भविष्य के पुर्नजन्म से संबद्ध हैं, तथा मध्य के आठ अंग विज्ञान से भाव तक वर्तमान जन्म से संबंध है।

अविद्या प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र का मूल कारण है, अद्विया का कोई कारण नहीं है। यह दुःख रूप समस्त संसार की जननी है। इस मूल अविद्या का नाश केवल मौलिक निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति दवारा ही संभव है, जिसे

बोधि या प्रज्ञा–पारमिता या निर्वाण कहा गया है, जो नित्य शुद्ध चैतन्य या विज्ञानरूप है। अविद्या इस शुद्ध नित्य विज्ञान को "आवृत" कर लेती हैं, अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते है। संस्कार का अर्थ है कर्म संस्कार या संचित कर्म। संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है। अविद्या और कर्म संस्कार, कारण शरीर हैं, जो शुद्ध चैतन्य को सीमित व्यक्तिगत विज्ञान के रूप में प्रतीत कराता है। विज्ञान से नामरूप उत्पन्न होता है, नामरूप का अर्थ है पंचस्कंधसंघात अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान द्वारा निर्मित मनोभौतिक शरीर।

नाम रूप से शडायतन उत्पन्न होते हैं, पांच बाह्य ज्ञानेंद्रियां और एक मन या अंत–करण। शडायतन से स्पर्श उत्पन्न होता है इसका अर्थ है विषय से सम्पर्क। स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है। वेदना का अर्थ इन्द्रियानुभव। यह तीन प्रकार की मानी गई है, सुखरूप, दुःखरूप और उदासीन। वेदना से तृश्णा उत्पन्न होती है। तृश्णा का अर्थ इंद्रियसुखोपभोग की तीव्र इच्छा। तृष्णा से उपादान उत्पन्न होता है। उपादान का अर्थ है विषयभोग में आसक्ति। उपादान से भव उत्पन्न होता है। भव से प्रारब्ध कर्म हैं, जो फल भोग के लिए जन्म लेने हेतु प्रेरित कर रहे हैं।

भव से जाति उत्पन्न होती है। जाति का अर्थ जन्म और एवं पुनर्जन्म है। जाति से जरा–मरण उत्पन्न होता है। जरा–मरण दुःखों के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। जरा का अर्थ वृद्धावस्था है।

तृतीय आर्य सत्य : दुःख निरोध अर्थात् तृष्णाओं को वशीभूत रखकर ही अविद्या का निराकरण कर दुःख निरोध संभव है, यही निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ है–बुझना। जिस प्रकार तेल के क्षय से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार अविद्या और क्लेश के क्षय से धीर पुरूष निर्वाण प्राप्त करते हैं। निर्वाण को शांत और शिव दुर्लभ, शांत, अजर, अमृत और पद आदि दर्शाया गया है।

चतुर्थ आर्य सत्य : दुःख निरोध मार्ग को माध्यम मार्ग या अष्टांगिक मार्ग कहते हैं। इसको प्रज्ञा, शील और समाधि नामक त्रिरत्न में विभाजित किया गया है।

शील : सम्यक वाक् (पवित्र ओर सत्य वाणी), सम्यक् कर्मान्त (दुराचरण त्याग तथा सदाचरण ग्रहण) सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण जीविकोपार्जन)।

समाधिः सम्यक् व्यायाम (शुभ विचारों का ग्रहण और अशुभ विचारों का परित्याग), सम्यक् स्मृतिचित एकाग्रता तथा विकार अनित्यता की भावना), सम्यक् समाधि। (निर्विकल्प प्रज्ञा की अनुभूति)।

निर्विकल्प प्रज्ञा की अनुभूति शुद्ध चैतन्य या विज्ञान रूप की निरपेक्ष अनुभूति है जिसे निर्वाण कहा गया है। जीव के लिए 'पुदगल' और 'सत्काय' शब्दों का प्रयोग हुआ है पुदगल का अर्थ है जो जन्म, जीर्णता और नाश से युक्त हो तथा सत्काय का अर्थ है जीवित काया को ही आत्म मानना। इन शब्दों से यही ध्वनि निकलती है कि लौकिक अनुभव में अनित्य, परिवर्तनशील शरीर–संघात और विज्ञान–प्रवाह का ही अनुनव होता है। अतः बुद्ध अनित्यवाद के आधार पर नैरात्म्यवाद या अनात्मवाद की स्थापना करते हैं। हीनयान बौद्ध दर्शन ने अनित्यवाद को क्षणभंगवाद नामक दार्षनिक सिद्धांत में परिणत कर दिया है।

क्षणभंगवाद का उद्घोष है सर्वम् क्षणिकम् अर्थात् सब कुछ ठीक है। केवल क्षणिक धर्मो की धारा बह रही है यह धर्म दो प्रकार के हैं चेतन और अचेतन। चेतन धर्म विज्ञान है और अचेतन धर्म भौतिक परमाणु हैं। चेतन और अचेतन धर्मों की भिन्न–भिन्न धाराओं के प्रवाह या संतान को संतानवाद या संघातवाद की संज्ञा दी गई है। क्षणिक धर्म ही सत् हैं। क्षणभंगवाद का दूसरा उद्घोष है सर्वम् अनात्म अर्थात कोई नित्य द्रव्य नही है।

आचार्य अश्वघोष के अनुसार मूल तत्व तथता है, यह अद्वैत, अपरिवर्तनशील, अतींद्रिय अनिर्वचनीय, निर्विकार एवं इंद्रियों से परे है। सत्ता की दृष्टि से भूततथता, बोध की दृष्टि से बोधि या प्रज्ञा, व्यापकता की दृष्टि से धर्मकाय तथा धर्मधातु तथा आनंद की दृष्टि से तथागतगर्भ की संज्ञा दी गई है। बुद्धि की चार कोटियां हैं–सत्, असत्, सदसत् एवं सदसदभिन्न। तथता चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। भूततथता का साक्षात्कार ही निर्वाण है।

महायान के अनुसार–"नामरूपेव माया मायैव नामरूपम्" अर्थात् नामरूप ही माया है और माया ही नामरूप है।

सब पदार्थ नामरूप हैं। माया न सत है न असत् और न सदसत्। निर्वाण माया से आवृत्त रहता है। बुद्धि निर्वाण का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती। अतः परमार्थ में बुद्धवचन अवचन है, वागातीत है, मौन है। बुद्ध का मौन शून्यता है। शून्यता चतुष्कोटिविनिर्मुक्त विशुद्ध प्रज्ञा है। शून्यता का समर्थन करने वाला सिद्धांत माध्यमिक शून्यवाद कहलाता है। जब शून्यता प्रज्ञा की अनुभूति होती है तो प्राणी निर्वाण को प्राप्त होता है।

विज्ञानवाद या योगाचार्य बौद्ध दर्शन में निर्वाण को चित्तमात्र, विज्ञानमात्र, विज्ञप्तिमात्र, बोधि, प्रज्ञा, विशुद्ध विज्ञान, तथता, शून्यता, भूतकोटि, धर्मकाय, धर्मधातु, तथागतगर्भ, परमतत्व, परमार्थ आदि संज्ञाओं से विभूषित किया गया है। अनादिवासना के कारण चित्तमात्र, आलयविज्ञान या चित्तरूप में प्रतीत होता है। आलयविज्ञान स्वयं प्रवृत्ति–विज्ञान या विषय–विज्ञान का आश्रय है। आलयविज्ञान तथा प्रवृत्ति–विज्ञान दोनों क्लिष्ट मनोविज्ञान या मनस् के कारण जुड़े रहते हैं। इस प्रकार विज्ञानमात्र तत्व के तीन परिणाम है–आलय विज्ञान, क्लिष्ट मनोविज्ञान और विषय–विज्ञान।

आलयविज्ञान या चित्तरूप : इसमें पांच सर्वत्रग चैत्त धर्म सदा विद्यमान रहते हैं–सदा स्पर्शमनस्कारवित्संज्ञाचेतनान्वितम् अर्थात् स्पर्श, मनस्कार, वेदना, संज्ञा और चेतना।

स्पर्श का अर्थ त्रिक–सन्निपात अर्थात् इंद्रिय–विषय–विज्ञान इन तीनों का एक साथ अवस्थान। मनस्कार का अर्थ चित्त का आभोग। वेदना अनुभूति है। संज्ञा का अर्थ है सविकल्प ज्ञान तथा चेतना का अर्थ है चित्त की संकल्पात्मक चेष्टा।

क्लिष्ट मनोविज्ञान : आलय विज्ञान से क्लिष्ट मनस् संतान रूप में उत्पन्न होता है, आलय ही क्लिष्ट मनस् का आश्रय और आलंबन या विषय दोनों है। आलय विज्ञान और प्रवृत्ति–विज्ञान के मध्य संबंध है इसका प्रमुख कार्य अहंकार एवं ममकार का विस्तार है। यह सदा चार प्रकार के क्लेशों से संयुक्त रहता है। ये क्लेश हैं–आत्म दृष्टि, आत्म मोह, आत्म–मान एवं आत्म–स्नेह।

विषय–विज्ञान : चक्षु, घ्राण, जिव्हा, श्रोत्र एवं काय नामक पांच ज्ञानेंद्रियों से रूप, गंध, रस, शब्द तथा स्पर्श नामक पांच विशयों की उपलब्धि या ज्ञान को इन्द्रिय–विषय–विज्ञान कहते है। क्लिष्ट मनस् इनको ग्रहण करता है। ये आलय विज्ञान द्वारा उत्पन्न होता हैं। छठा विषय–विज्ञान मनोविज्ञान है, जिसके अंतर्गत विचार, संकल्प, वेदना रूपी मनोवृत्तियां आ जाती हैं।

उपसंहार–बौद्ध दर्शन में पंचस्कंधसंघात क्रमशः रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान या चेतना से निर्मित शरीर को ही अनित्य व्यवहारिक प्रमाता या आत्मा माना जाता है। अविद्या, शुद्ध चैतन्य विज्ञान को आवृत्त कर लेती है, अविद्या के नाश से निर्वाण की प्राप्ति होती है। विभिन्न बौद्ध संप्रदायों में अविद्या को नामरूप, माया, अनादिवासना आदि संज्ञाओं से संबोधित किया गया है। प्रतीत्यमुत्पाद चक्र के अंतर्गत चेतना की धारणा पुनर्जन्म के संदर्भ में एक प्रमुख भूमिका निभाती है। योगाचार परंपरा के अनुसार, प्राणी की मृत्यु के समय, अपने स्वयं के अस्तित्व के प्रति एक शक्तिशाली आकर्षण उत्पन्न होता है, और उसकी चेतना भावी जीवन के बंधन में आ जाती है। सर्वास्तिवाद और योगाचार दोनों संप्रदायों के अनुसार, जीव गर्भ में प्रवेश करता है, और चेतना संयुक्त वीर्य और "रक्त" के साथ संवेदनशील भ्रूण निर्मित हो जाता है। योगाचार्य संप्रदाय में, वीर्य–रक्त संयोजन के साथ विलीन होने वाली चेतना को भण्डार चेतना या आलयविज्ञान के रूप में संदर्भित कि अवशेषों को "बीज" के रूप में बनाए रखती है, जो भविष्य में उनके फलों को जन्म के लिये उत्तरदायी होगी। ध्यान संबंधी अनुभवों के आधार पर, योगाचार परंपरा के अनुसार लोगों द्वारा अनुभव किया जाने वाला संसार वास्तव में उनकी अपनी चेतना का प्रक्षेपण है। योगाचार संप्रदाय के अनुसार अशुद्ध मन या क्लिष्टमानस मन की एक और अवचेतन परत है, यह एक अवचेतन अहं–चेतना है, जो सदैव मन की गहराइयों में क्रियाशील रहती है। अतः बौद्ध दर्शन में चेतना भौतिक रूप में अविद्या सापेक्ष तथा आध्यात्मिक रूप में निर्वाण रूप में संदर्भित होती है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. एनसाइक्लोपीडिया ऑफ बुद्धिज्म। कॉन्शियसनेस, थियोरीज ऑफ। डब्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू डॉट गूगल डॉट कॉम।
2. चंद्रकीर्तिवृत्ति / 1 / 1
3. वही / 12 / 106
4. लंकावतारसूत्र पृ–142, 143, 116
5. वही पृ. 74
6. शतसाहस्त्रिका प्र.पा., पृ. 898
7. शर्मा, चंद्रधर। भारतीय दर्शन (आलोचन और अनुशीलन) पृ–48–138। मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स प्रा.लि., दिल्ली, 1991 ।
8. सौन्दरनन्द / 16 / 28–29
9. वही / 16 / 26
10. त्रिंशिका, का. 3
11. त्रिंशिकाभाष्य पृ. 25

****

योग दृष्टि

(तत्वबोध प्रकरण ग्रन्थ के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ संदीप कुमार चौरसिया
दर्शन और योग विशेषज्ञ
लखनऊ

मनुष्य एक महान दृष्टि वाला उच्च प्राणी है, वह जीवन यापन करते हुए संसार में विशिष्ट योगदान प्रस्तुत करता है। ऐसा तभी होता है जब उसने स्वयं को जान पहचान लिया है तभी वह इस ब्रह्माण्ड के सभी प्राणियों एवं मनुष्यों से अपना संबंध एक विशिष्ट दृष्टि से बनाये रखने में सक्षम रहता है। यही विशिष्ट दृष्टी योग विद्या के सन्दर्भ में योग दृष्टि है जो पिण्ड से ब्रह्माण्ड के ज्ञान एवं व्यवहार को एक समझ, एक समन्वय और एक सोच के साथ स्वभाविक रूप से जीवन जीने हेतु प्रेरित करती रहती है।

योग दृष्टि मानव जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती रही है और कर भी रही है फिर भी योग के प्रति मिथ्या भ्रम मानव जीवन में बने रहते है। वह चाहे भारतीय संस्कृति के वांग्मय को लेकर हो या मानव संबन्धित वैश्विक इतिहासद्य मनुष्य के जीवन में योग और योगाभ्यास अथवा योग साधना की दृष्टि से जीवन जीने की पद्धति और विचारधारा, कालक्रम के कारण भिन्न–भिन्न दिखलाई देती है जिसके परिणाम स्वरूप आज के मानव में योग के प्रति मिथ्या भ्रम बन जाना स्वाभाविक है। यदि मनुष्य योगाभ्यास सम्बन्धित स्वाभाविक मिथ्या भ्रम के आधार का ज्ञान प्राप्त ना करे तभी हमें योग के विभिन्न उद्देश्य और केवल एक परम् लक्ष्य प्राप्ति तक कोई समस्या नहीं होगी और जीवन में योग एवं प्राण साधना मनुष्य के स्वाभाव अनुसार चरितार्थ करने में सुविधा भी हो जायेगी।

इसी योग दृष्टि को स्पष्ट करने हेतु विश्लेषणात्मक दार्शनिक विधि द्वारा शंकराचार्य तत्व बोध प्रकरण ग्रंथ के आधार पर यह शोध पत्र प्रस्तुत है। सर्वप्रथम इस शोध पत्र में योग दृष्टि शब्द को स्पष्ट करने हेतु योग शब्द धातु पाठ के आधार पर और दृष्टि को चेतना की कक्षा या अवस्था भेद के आधार पर बताया गया तत्पश्चात तत्वबोध प्रकरण ग्रन्थ की विवेचना प्रस्तुत करके इस ग्रन्थ में योग दृष्टि का परीक्षण देखा गया है।

कूट चिन्ह – योग, दृष्टि और तत्व बोध ग्रन्थ आदि।

योग – सामान्यतः योग का शाब्दिक अर्थ है जुड़ना। योग शब्द को बहुत ही सकारात्मक रूप में देखा जा सकता है। हमारी इस सुंदर सृष्टि की रचना ही महान योग के द्वारा हुई है। इस बात में पुष्टि होती है कि कोई भी निर्माण कार्य बिना योग के सम्भव नही है। निर्माण के बिना इस सृष्टि का सुचारु रूप से संचालन और विकास सम्भव नही है। जिसका कारण पुरातन या आधुनिक भले ही हो जिसे योग ही जीवन को व्यवस्थित कर सकता है, यह भी कहा जा सकता है कि "जीवन जीने की कला और विज्ञान का नाम ही योग है इसलिए हमारे जीवन में योग का विशेष महत्व है। योग हमारे जीवन का आवश्यक अंग है। योग वह विद्या है जो जीव चेतना और पदार्थ तीनों को एक साथ लेकर चलता है। अतः आज के आधुनिक युग में योग, विज्ञान और दर्शन के बीच सेतु का भी कार्य कर सकता है।

'युज्यते अनेन इस व्युत्पत्ति के साथ युज् धातु से करण अर्थ में घञ्प्रत्यय करके योग शब्द की निष्पत्ति होती है। जब हम पाणिनीय धातु पाठ में योग शब्द को देखते हैं तो वह निम्नलिखित तीन धातुओं में प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है –

1. युज समाधौ धातु दिवादिगणीय (आत्मनेपदी)
2. युज संयमने' धातु चुरादिगणीय (परस्मैपदी)
3. युजिर योगे' धातु, रुधादिगणीय (उभयपदी)

इन तीनों धातुओं से अलग–अलग बने हुए योग शब्द में मूल धातु युज ही है अतः उससे एकात्म के अतिरिक्त कोई विशेष अर्थ का संकेत प्राप्त करने की सम्भावना नहीं है, समाधि और संयमन पदों में क्रमशः प्रथम स्थिरता और दूसरा स्थिरता के उपाय की ओर संकेत करता है। इसका आशय यह हुआ कि महर्षि पाणिनि के अनुसार योग शब्द मन की स्थिरता, मन की स्थिरता के उपाय और मिलन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मन की स्थिरता के लिए महर्षि पतंजलि ने योग का अर्थ दिया है कि चित्त की. वृत्तियों का निरोध करके उसकी पूर्ण स्थिरता ही योग हैस यह योग की अन्तिम स्थिति है पूर्णता की स्थिति है। मन की स्थिरता के उपाय के संदर्भ में देखें तो योग अर्थात् संयमन शरीर का भी हो सकता है इन्दियों का भी हो सकता है, मन (चित्त) का भी हो सकता है और प्राण का भी सकता है, इसलिए आसनों को योग कहते हैं, क्योंकि इसमें शरीर का संयमन होता है, तभी शरीर में स्थिरता आती है। प्राणायाम को योग कहते हैं क्योंकि उससे प्राण वायु का और उसके लिए श्वासप्रश्वास का नियमन होता है, तभी प्राण वश में होकर स्थिरता प्राप्त कराता है। प्रत्याहार (इन्द्रिय निग्रह) को भी योग कहते हैं क्योंकि इसमें इन्द्रियों का संयमन होता है उन्हें विषयो से हटाकर आत्मोन्मुख करना होता है, उनकी चंचलता अर्थात् विषयों की ओर भागने की प्रवृत्ति को दूर करके उन्हें स्थिर किया जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि को भी योग कहते हैं क्योंकि इनमें मन अथवा चित्त का संयमन होता है; मन को स्थिर किया जाता हैस अतः पतंजलि योग सूत्र के अनुसार योग चित्त वृत्ति का निरोध कहकर परिभाषित किया गया है।

दृष्टि – मानव दृष्टि का सामान्य एवं विशेष आधार निम्नलिखित चार कक्षा (क्षेत्र, पड़ाव अथवा आयाम) से गुजरता है। तभी ऐसा मनुष्य दिव्य, शांत, पूर्ण और निर्गुण ब्रह्म या केवल शिव कहलाता है।

प्रथम कक्षा (पड़ाव आयाम अथवा क्षेत्र)–जिसे शारीरिक क्रिया के अभ्यास का अनुभव या ज्ञान कहते है। इसमें व्यक्ति जो देह अथवा शारीरिक स्तर से क्रिया करता है। यह देह परक ज्ञान है, उसे जब वह अभ्यास, साधना द्वारा दृढ़ कर लेता है तब वह मनुष्य देह प्रधान साधनात्मक, अनुष्ठानात्मक दृष्टि वाला हो जाता है। वही देह परक सिद्ध पुरूष कहलाता है। यही चेतना की जाग्रत अवस्था है।

द्वितीय कक्षा (पड़ाव आयाम अथवा क्षेत्र) – जिसे मानसिक क्रिया के अभ्यास का अनुभव या ज्ञान कहते है। इसमें व्यक्ति जो मन अथवा मानसिक स्तर से क्रिया करता है। यह बुद्धि परक ज्ञान है उसे जब वह अभ्यास, साधना द्वारा दृढ़ कर लेता है तब वह मनुष्य मन प्रधान साधनात्मक, अनुष्ठानात्मक दृष्टि वाला हो जाता है। वही बुद्धि परक सिद्ध पुरूष कहलाता है। यही चेतना की स्वप्न अवस्था है।

तृतीय कक्षा (पड़ाव, आयाम अथवा क्षेत्र) – जिसे देह– मन अथवा शारीरिक– मानसिक क्रिया के अभ्यास का भेदात्मक अनुभव या विवेक ज्ञान कहते है। इसमें व्यक्ति एक ही समय पर जो देह अथवा शारीरिक एवं मन अथवा मानसिक स्तर से क्रिया करता है, उसे जब वह अभ्यास, साधना द्वारा भेदात्मक रुप से दृढ़ कर लेता है तब वह मनुष्य देह–मन, जीव–अजीव, प्र.ति–पुरुष अथवा जड़–चेतन का भेदात्मक ज्ञान अथवा विवेक ज्ञान की साधनात्मक, अनुष्ठानात्मक दृष्टि वाला हो जाता है। वही सर्गुण ब्रह्म, शिव–शक्ति स्वरुप, जीवन मुक्त पुरूष कहलाता है। यही चेतना की सुषुप्त अवस्था है।

चतुर्थ कक्षा (पड़ाव, आयाम अथवा क्षेत्र) – जिसे देह–मन अथवा शारीरिक– मानसिक क्रिया के अभ्यास का अभेदात्मक अनुभव या परा विवेक ज्ञान कहते है। इसमें व्यक्ति एक ही समय पर जो देह अथवा शारीरिक एवं मन अथवा मानसिक स्तर से क्रिया करता है, उसे जब वह अभ्यास, साधना द्वारा अभेदात्मक रुप से दृढ़ कर लेता है तब वह मनुष्य देह–मन, जीव–अजीव, प्रकृति–पुरुष अथवा जड़– चेतन का अभेदात्मक ज्ञान अथवा परा विवेक ज्ञान की साधनात्मक, अनुष्ठानात्मक दृष्टि वाला हो जाता है। वही निर्गुण ब्रह्म, केवल शिव स्वरुप, विदेहमुक्त पुरूष, पूर्ण शांत कहलाता है। यही चेतना की तुरीय अवस्था है।

वेदान्त, सांख्य एवं तंत्र के ग्रन्थ आधार पर भी योग दृष्टि का प्रसार है। हमारी दृष्टि में वेदान्त आधारित योग दृष्टि मानव को पुर्ण मानव बनाने वाली दृष्टि है।

योगदृष्टि हेतु जीवन यापन के चार आयाम है जिसके द्वारा शुद्ध सत को प्राप्त करके शाश्वत शान्ति प्राप्त की जाती है जिसकी विवेचना वैदिक मानववाद के सिद्धान्त के रूप में है जो जीवन यापन का कारण बनते है। जीवन यापन का पहला आयाम तम प्रधान साधना पद्धति आधारित जीवन दृष्टि है। दूसरा आयाम रज प्रधान साधना पद्धति आधारित जीवन दृष्टि और तीसरा आयाम सत प्रधान साधना पद्धति आधारित जीवन दृष्टि है। यदि चौथा आयाम की बात करे तो यही कह सकते है कि चौथा आयाम शुद्ध सत प्रधान साधना पद्धति आधारित जीवन दृष्टि है। सत प्रधान साधना पद्धति आधारित जीवन ही शान्ति परक जीवन को शाश्वत शान्ति परक जीवन बनाने के लिए तैयारी है। तभी चौथा आयाम में पहुंचने पर शुद्ध सत की प्राप्ति होती है। यही शाश्वत शान्ति है। वैदिक साधना का वेदांत भाग ही एक ऐसा अकेला मार्ग है जो शाश्वत शान्ति की प्राप्ति का उत्तरदाई है। यही योगदृष्टि का परीणाम है और उच्च योग दृष्टि तो केवल जीवन साधना के चतुर्थ आयाम पर आधारित जीवन की दृष्टि को कहते है। इसी प्राप्ति हेतु सभी योग ग्रंथ, वैदिक वांग्मय आदि भारतीय ग्रंथ सन्देश दे रहे है कि यही दृष्टि अथवा ज्ञान प्राप्त करके जीवन यापन करे और वैदिक मानववादी कहलाए।

तत्व बोध ग्रन्थ–

तत्वबोध प्रकरण ग्रन्थ वेदान्त के मूर्धन्य आचार्य शंकर द्वारा लिखित है। इस वेदान्त–दर्शन की विस्तृत व्याख्या शंकर आचार्य ने अपने आत्म बोध, अपरोक्षानुभूति और विवेक चूड़ामणि आदि ग्रन्थों में की है। इन्हें पढ़ लेने के पश्चात् श्रीमद्भागवदगीता और प्रधान उपनिषद को समझना योगदृष्टि के सन्दर्भ से अत्यन्त सरल हो जाता है। तत्त्व बोध ग्रन्थ में साधन चतुष्टय, तत्व विवेक हेतु शरीरत्रय, त्रिअवस्था, पंचकोश का वर्णन का किया गया है। जगत की' सूक्ष्म और स्थूल रचना का निरूपण कर उसमें जीव की स्थिति स्पष्ट की गयी है। जीव और ईश्वर का सम्बन्ध बताते हुए उनके तात्विक रूप से एकता भी दिखाई गयी है। इसके साथ ही कर्म–बंधन का रहस्य बताकर उससे छूटने और जीवन मुक्त होने का विधान भी स्पष्ट कर दिया गया है। जीव–मुक्त होना ही मनुष्य को अन्तिम और सर्वोपरि उपलब्धि है। श्रीमद्भगवत गीता में उसे स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत और भक्त आदि संज्ञा से विभूषित किया गया है। इस तत्व बोध प्रकरण ग्रन्थ द्वारा योग दृष्टि की विवेचना वेदान्त के सन्दर्भ से युजिर सयमने और चतुर्थ कक्षा प्राप्ति हेतु है। तत्व विवेक साधनचतुष्ट्य से सम्पन अधिकारी पुरुषों के लिए मोक्ष का साधनस्वरूप हैं। यहाँ सिर्फ साधन चतुष्टय, तत्व विवेक हेतु शरीरत्रय, त्रिअवस्था, पंचकोश, पंचकोशतीत और आत्मा का वर्णन का किया गया है। जो उच्च योगदृष्टी की व्याख्या को बताती है।

साधनचतुष्टः–

नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोग विरागः शमादिषट्संपत्ति मुमुक्षुत्वं चेति। चार साधन है (1) नित्य और अनित्य वस्तु का विवेक, (2) इस लोक और परलोक में अपने कर्मों के फलभोग से वैराग्य, (3) शम आदि छः सम्पत्तियाँ और (4) मुमुक्षत्व (यही चार साधन चतुष्ट्य कहलाते हैं)। साधन चतुष्टय के अन्तर्गत विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व आते हैं। ये गुण सभी मनुष्यों में थोड़ी मात्रा में होते हैं किन्तु एक विशेष स्तर तक विकसित होने पर ये गुण मनुष्य को उच्च योगदृष्टि एवं अध्यात्मविद्या का अधिकारी बना देते हैं। भला–बुरा, हानि–लाभ, शुभ–अशुभ का भेद विवेक है। घर की एक अशिक्षित बालिका को भी कुछ विवेक है। वह घर का कूड़ा झाड़ कर बाहर फेंक देती है, क्योंकि वह अनुपयोगी है। वह उपयोगी वस्तुयें घर में संभालकर रखती है। जब यह विवेक शक्ति बढ़कर नित्य और अनित्य का भेद करने लगे तो वह अध्यात्म विद्या में सहायक होती है। वैराग्य भी हम सब मे होता है। तभी हम अनुपयोगी वस्तुओं का संग्रह नहीं करते। किन्तु जब सभी कर्मफलभोग में दोष दिखाई देने लगे और ह्रदय से उनका त्याग कर दें तो ऐसा वैराग्य मुमुक्षु के लिए उपयोगी है। षट् सम्पत्तियाँ शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान हैं। मोक्ष प्राप्त करने की प्रबल इच्छा मुमुक्षत्व है। इन चारों गुणों का अधिक स्पष्टीकरण यह है कि (नित्यवस्तु एकं ब्रह्म तद् व्यतिरिक्तं सर्वम् अनित्यम् अयमेव नित्यानित्यवस्तुविवेकः) एक ब्रह्म ही नित्य वस्तु है, उसके अतिरिक्त सब अनित्य है। यही नित्यानित्य वस्तु विवेक है। इस लोक और स्वर्ग लोक के समस्त भोगों को भोगने की इच्छा न रह जाना ही विराग (वैराग्य) है। (शमो

दम उपरमस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं च साधनसंपत्तिः) शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ही षट्सम्पत्तियाँ हैं। (मनोनिग्रह शमः) मन के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त करना ही शम है। (चक्षुरादि बाह्येन्द्रिय निग्रहः दमः) चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का निग्रह करना ही दम है। (स्वधर्मानुष्ठानमेव उपरमः) अपने धर्म का अनुष्ठान ही उपरामता है। (शीतोष्ण सुखदुःखादि सहिष्णुत्वम् तितिक्षा) गर्मी सर्दी, सुख–दुःख आदि द्वन्द्व सहन करने का स्वभाव तितिक्षा है। (गुरुवेदान्त वाक्यादिषु विश्वासः श्रद्धा) गुरु और वेदान्त के वाक्यों में विश्वास रखना श्रद्धा है।(चित्तैकाग्रता समाधान) चित्त की एकाग्रता ही समाधान है। (मोक्षो मे भूयाद् इति इच्छा मुमुक्षत्वं) मुझे मोक्ष प्राप्त हो– इस इच्छा का नाम मुमुक्षत्व है। यही चार साधन हैं। इनसे सम्पन्न पुरुष तत्त्वविवेक के अधिकारी होते हैं।

इन योग्यताओं से सम्पन्न व्यक्ति सत्स्वरूप परमात्मा को खोजने और पाने का अधिकारी हो जाता है। जाति–पांति, स्त्री–पुरुष, आयु आदि उसके लिए बाधक नहीं बन सकते। संसार में कहीं भी रहने वाला कोई व्यक्ति विवेक आदि गुणों से अधिकारी बन कर और तत्त्वज्ञान पाकर मुक्त हो सकता है। साधनचतुष्टय सम्पन्न पुरुष मुक्त होने के लिए तत्त्व विचार करता है। इसलिए तत्त्वविवेक का स्पष्ट होना अवश्यक है।

आत्मा सत्यं तदन्यत् सर्वं मिथ्येति तत्त्वविवेकः अथार्त आत्मा सत्य है और उसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है। यही तत्त्वविवेक है। 'तत्त्व' सत् वस्तु है। उसे मिथ्या वस्तु से पृथक् कर पहचान लेना तत्त्वविवेक है। इसके लिए सत् और मिथ्या का भेद और उनके लक्षण ज्ञात होने चाहिए। सत् वह है जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल में यथावत रहे। उसमें न परिवर्तन हो और न उसका विनाश हो। इसके विपरीत जो वस्तु तीनों काल में न हो उसे असत् कहते हैं, जैसे बंध्यापुत्र। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तु ऐसी भी होती है जो भासित होती है, तीनों काल में परिवर्तित होती रहती हैं और नष्ट भी हो जाती है। इस प्रकार की सत्ता को मिथ्या कहते हैं। यह जगत् ऐसा ही है। संक्षेप में कह सकते हैं कि नित्य वस्तु सत्य है और अनित्य वस्तु मिथ्या हैं। 'नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद् व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम् नित्य वस्तु एक ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त सब कुछ अनित्य है। यहाँ ब्रह्म के स्थान में आत्मा कहकर उसे सत्य अर्थात् नित्य कहते हैं और उसके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या हैं। आत्मा और ब्रह्म एक हैं।

(स्थूल सूक्ष्म कारण शरीराद् व्यतिरिक्तः पञ्चकोशातीतः सन् अवस्थात्रय साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन्यः तिष्ठति स आत्मा) स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों से पृथक् और पंचकोशों के परे जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी सत् और आनन्द स्वरूप होकर स्थित है वह आत्मा है।

शरीरत्रय– आत्मा तीनों शरीरों से भिन्न है। इसलिए आत्मा को पहचानने के लिए तीन शरीर का ज्ञान प्राप्त करके ही उन्हें अपने से पृथक् करना होता है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ही तीन शरीर है।

स्थूलशरीर– (पञ्चीकृतपञ्च महाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं शरीरं, अस्ति जायते वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड् विकारवदेतत्स्थूल शरीरं।) पंची.त पंचमहाभूतों से निर्मित सत्कर्मों से उत्पन्न सुख दुःख आदि भोगों के भोगने का स्थान और अस्ति, जन्म, वृद्धि, परिवर्तन, क्षय तथा विनाश इन छः विकारों से युक्त स्थूल शरीर है। हम अपने जिस शरीर को देखते हैं, वह स्थूल शरीर कहलाता है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि वायु तथा आकाश नामक पंचमहाभूत, रक्त आदि में तरलता है। अन्न के रूप में पृथ्वीतत्व शरीर में पहुँचता है, जिससे अस्थि, मांस आदि बनें हैं। स्थूल शरीर पशु पक्षियों को भी प्राप्त है, किन्तु मनुष्य शरीर पुण्य कर्मों के फल से मिलता है। मुक्ति प्राप्त करने के लिए यह एक सुन्दर अवसर है। यह शरीर भोगायतन भी है। इसमें रहकर जीव अपने कर्मों का फल सुख–दुःख भोगता है। यह शरीर नश्वर है, क्योंकि इसमें छः विकार देखे जाते है– अस्तित्व, जन्म, बढ़ना, परिवर्तन, क्षय और विनाश इस प्रकार नश्वर होने के कारण शरीर अनित्य है और अनित्य होने के कारण मिथ्या हैं। इस शरीर में आत्मा के एक भी लक्षण नहीं हैं। नश्वर होने के कारण सत् नहीं है, जड़ भूतों से निर्मित और कर्मफल का परिणाम होने से चित् नहीं है और विकारी होने के कारण आनन्दरहित है।

सूक्ष्मशरीर– (अपंचीकृत पंचमहाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादि भोगसाधनं, पंचज्ञानेन्द्रियाणि, पंचकर्मेन्द्रियाणि, पंचप्राणादयः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदशकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम।) अपंचीकृत पंचमहाभूतों से निर्मित सत्कर्म के फल से उत्पन्न और सुखदुःख के भोगों का साधन सूक्ष्म शरीर है। इसमें पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच प्राण और मन–बुद्धि ये सत्रह कलायें, या अंग हैं। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर का वास है। यह अपंचीकृत पंचमहाभूतों से निर्मित होने के कारण सूक्ष्म है और भौतिक होने के कारण जड़ है। इसमें भासित होने वाली चेतना इसकी अपनी नहीं है। इसकी रचना पूर्व जन्म में किये सत्कर्म के कारण होती है। सत्कर्मों का फल भोग करने के लिए यह साधन है। पुण्य के साथ पाप कर्म भी होते हैं। इसलिए इस द्वारा सुख–दुःख दोनों का भोग करना पड़ता है। ध्यान रहे, स्थूल शरीर भोग आयतन (भवन या कक्ष) है और सूक्ष्म शरीर भोग साधन (उपकरण) है। सूक्ष्म शरीर में इन्द्रियाँ, प्राण और मन–बुद्धि आते हैं। इनको स्थूल शरीर से समझना चाहिए। स्थूल शरीर में इनके गोलक या ठिकाने हैं जहाँ स्थित रहकर ये शरीर को हैं।

श्रोत्रं त्वक् चक्षुः रसनाघ्राणम् इति पंच ज्ञानेन्द्रियाणि अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ है। कर्ण आदि पाँच इन्द्रियों से बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है, इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। ये सूक्ष्म रूप है। स्थूल शरीर के गोलकों में इनका वास ह है। इन सब इन्द्रियों का एक–एक देवता है। कान का देवता दिक् त्वचा का वायु चक्षु का सूर्य, जिह्वा का दता और नासिका के अश्विनीकुमार हैं। ये ज्ञानेन्द्रियों के देवता है।

(श्रोत्रस्य विषयः शब्दग्रहणं। त्वचो विषयः स्पर्शग्रहणं। चक्षुषो विषयः रूप ग्रहणम्। रसनाया विषयः रसग्रहणम्। घ्राणस्य विषयः गंधग्रहणम् इति।) कान का विषय शब्द ग्रहण, त्वचा का विषय स्पर्शग्रहण, चक्षु का विषय रूपग्रहण, जिह्वा का विषय रसग्रहण और नाक का विषय गन्धग्रहण करना है। व्याख्या–सभी ज्ञानेन्द्रियों के कार्यक्षेत्र बटे हुए हैं। वे अपने ही क्षेत्र में कार्य करती हैं। इसलिए पांच ज्ञानेन्द्रियों के लिए विषयों के क्षेत्र भी पांच हैं। पांच विषय हैं। शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्द्रियां इन विषयों को मस्तिष्क तक पहुंचाती हैं और वहाँ से वे मन और बुद्धि को पहुँचते हैं। (वाक्पाणिपादपायूपस्थानि इति पंचकर्मेन्द्रियाणि।) वाक् हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ पांच कर्मेन्द्रियाँ हैं। (वाचो देवता वह्निः हस्तयोरिन्द्रः पादयोर्विष्णुः। पायोर्मृत्युः। उपस्थस्य प्रजापतिः। इति कर्मेन्द्रिय देवताः।) वाणी का देवता अग्नि, हाथ का इन्द्र, पैर का विष्णु, गुदा का मृत्यु और उपय इन्द्रिय का देवता प्रजापति है। ये कर्मेन्द्रियों के देवता है। (वाचो विषयः भाषणम्। पाण्योर्विषयः वस्तुग्रहणम्। पादयोर्विषयः गमनम। पायोर्विषयः मलत्यागः। उपस्थस्य विषयः आनन्द इति) वाणी का विषय भाषण, हाथ का वस्तुग्रहण, पैर का चलना, गुदा का मल त्याग और उपस्थ का विषय प्रजनन सुख है।

कारण शरीर– (अनिर्वाच्यानाद्यविद्या रूपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्व–रूपाऽज्ञान निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत्कारणशरीरम्) जो अनिर्वाच्य, अनादि, अविद्यारूप, दो शरीरों का कारण मात्र, सत्स्वरूप का यूल शरीर अज्ञान और निर्विकल्पक रूप है उसे कारण शरीर कहते हैं। तीन शरीर हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण कारण शरीर सूक्ष्म और स्थूल–शरीरों का कारण है, इसलिए उसे कारण शरीर कहते हैं। सूक्ष्म और स्थूल शरीर उसके कार्य हैं। कारण से उत्पन्न कार्य नष्ट होने पर कारण में ही लीन हो जाता है, जैसे मिट्टी रूप कारण से घट रूप कार्य उत्पन्न होता है और घट नष्ट होने पर मिट्टी में ही लीन हो जाता है। सब लोगों का कारण शरीर एक समान नहीं है, इसीलिए सबकी बुद्धि एक समान नहीं है। स्त्री, पुरुष, कीट–पतंग और पशु–पक्षियों के नानारूप शरीरों का हेतु कारण शरीर ही है। इसलिए 'शरीरद्वयस्य कारणमात्रं है। अविद्यारूपं यह शरीर अविद्यारूप है। अविद्या का अर्थ है 'सत्स्वरूप अज्ञानं' अपना सत्स्वरूप आत्मा है। उसका अनुभव न होना ही अज्ञान है जिसे अविद्या कहते हैं। आत्मा तो अनादि–अनन्त और नित्य है किन्तु अविद्या इस कोटि की नहीं है। वह अनादि है। उसके तो है किन्तु अनन्त नहीं है। विद्या के प्रकाश में अविद्या नष्ट हो जाती है। अनिर्वाच्य उस पकड़ वस्तु को कहते हैं जो न तीनों कालो में सत् हो और न आकाश–कुसुम के समान असत् हो। ऐसी वस्तु को मिथ्या भी कहते हैं। गहन निद्रा में अपना पराया कुछ भी ज्ञात नहीं होता। यही अविद्या है। इसमें किसी नन और द्वैत का

बोध न होने के कारण इसे 'निर्विकल्पक रूप' कहा जाता है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में नानात्व अर्थात् विकल्प देखा जाता है। इसे अधिक स्पष्ट रूप में समझने के लिए तीन अवस्थाओं का विचार किया जाता है।

तीन अवस्थाएं– (जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः) जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ही तीन अवस्थायें हैं। श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते, इति यत् सा जाग्रदवस्था। स्थूल शरीराभिमानी, आत्मा विश्व इत्युच्यते। जिस अवस्था में श्रोत्र आदि ज्ञान इन्द्रियाँ शब्द आदि विषयों को ग्रहण करते हैं उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं। इस समय आत्मा स्थूल शरीर अभिमानी होका 'विश्व' कहलाता है। (जाग्रदवस्थायां यद् दृष्टं यद् श्रुतं, तज्जनितवासनया, निद्रासमये यः प्रञ्चः प्रतीयते, सा स्वप्नावस्था, सूक्ष्म शरीराभिमानी, आत्मा तैजस इत्युच्यते।) जाग्रत अवस्था में जो कुछ देखा–सुना जाता है उससे बनी वासना से निद्रा के समय जो प्रपंच अनुभव में आता है उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। सूक्ष्मशरीर अभिमानी आत्मा 'तेजस' कहलाता है। '(अहं किमपि न जानामि, सुखेन मया निद्राऽनुभूयत, इति सुषुप्त्यवस्था।) 'मैं कुछ भी नहीं जानता, मैंने सुख से निद्रा का अनुभव किया। यही सुषुप्त्यवस्था है। (कारणशरीराभिमानी, आत्मा प्राज्ञ इत्युच्यते) कारण शरीर का अभिमानी आत्मा 'प्राज्ञ' कहलाता है। स्वप्न के अतिरिक्त निद्रा की दूसरी अवस्था सुषुप्ति है। इस समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता। जागने पर स्मरण आता है कि मैं गहरी नींद में सुख से सोता रहा यही स्मृति उस अवस्था के अनुभव का प्रमाण है। स्वप्न और जाग्रति का अनुभव न जाने के कारण उनका दुखद प्रभाव भी ज्ञात नहीं होता। इसलिए वह सुख की अवस्था है। सुषुप्ति का सुख जाग्रति और स्वप्न के सुख की अपेक्षा उच्च स्तर का है। जागते समय कोई व्यक्ति कितना ही धनी और विषय सुखों से भरपूर हो किन्तु सुषुप्ति का सुख वह चाहता है, इसीलिये वह ऐसा विस्तर बना कर सोता है जिससे उसकी नींद में बाधा न पड़े सुषुप्ति अवस्था में आत्मा का तादात्म्य एक ही शरीर से रहता है। यह एक शरीर अविद्या या वासना से निर्मित होने के कारण आत्मा को आवृत कर लेता है। अतः कारण शरीर का अभिमानी जीव न अपने आत्मस्वरूप को जानता है और न नामरूपात्मक जगत को ही जानता है। दोनों प्रकार से प्रकर्ष अज्ञान होने के कारण इस अवस्था में जीव के प्राज्ञ कहते हैं। फिर भी इस अवस्था का अनुभव जीव को किसी प्रकार रहता है, तभी तो जागने पर वह उसका स्मरण करता है। यदि सुषुप्ति में इतना अधिक अज्ञान हो गया हो कि उसका स्मरण भी न रहे तो हमें उस अवस्था की जानकारी नहीं हो सकती। इस तर्क के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'प्रायेण अज्ञत' होने के कारण उस समय जीव प्राज्ञ होता है।

जीव की इन तीनों अवस्थाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा अशरीरी है। का शरीर धारण कर जीव कहलाता है। जीव सुषुप्ति में अपने–पराये को नहीं जानता किन्तु स्वप्न और जाग्रत में नानात्व का अनुभव करता है। शुद्ध आत्मा इन तीनों का प्रकाशन और इनसे असंग है। इसलिए वह साक्षी या द्रष्टा कहलाता है।

पंचकोश जीव के तीन शरीर उसके आवरण हैं। सूक्ष्म शरीर एक होकर भी तीन आवरण का काम करता है। इसलिए कुल पाँच आवरण होते हैं। तलवार के कोश (म्यान) के समान होने के कारण ये आवरण कोश कहलाते हैं। जैसे कोश के अन्दर रहने पर तलवार नहीं दिखाई देती इसी प्रकार शरीर निर्मित पाँच कोशों के अन्दर आत्मा भी भासित नहीं होता। आत्मा को प्रत्यक्ष देखने के लिए पाँच कोशों से पृथक् कर उसे उसी प्रकार देखना चाहिये जैसे म्यान से निकली तलवार दिखाई देती है। अन्नमयः प्राणमयः, मनोमयः विज्ञानमयः, आनन्दमयश्चेति। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पांच कोश हैं।

अन्नमय कोश– अन्नरसेनैव भूत्वा, अन्नरसेनैव बृद्धिं प्राप्य, अन्नरूप पृथिव्यां यद्विलीयते, तदन्नमयः कोशः, स्थूलशरीरम्। जो अन्नरस से बनता, अन्नरस से वृद्धि पाता और अन्नरूप पृथ्वी में लीन है। जाता है वह अन्नमय कोश कहलाता है। वह स्थूल शरीर ही है। व्याख्या आत्मा का सब से ऊपरी कोश स्थूल शरीर है। यह अन्नमय है। मय' प्रचुरता सूचक है। पिता के पचाये हुए भोजन के सार से यह उत्पन्न होता है, मां के भोजन से गर्भ में इसका पोषण होता है। बाहर इस जगत् में आने पर भी यह अन्न खाकर बढ़ता। है। अन्त में मृत्यु के पश्चात् यह वापस धरती में जाकर पुनः भोजन बन जाता है। यह शारीरिक ढाँचा अन्न से निर्मित होने के कारण अन्नमय कोश कहलाता है। यह आत्मा नहीं है। आत्मा इससे आवृत है।

प्राणमय कोश– प्राणाद्याः पञ्चवायवः, वागादीन्द्रियपञ्चकं, प्राणमयःकोशः। प्राण आदि पाँच वायु और वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रियों से निर्मित प्राणमय कोश है। शरीर के अन्दर कार्य करने वाली शक्ति प्राण है। यद्यपि प्राण एक है। किन्तु इसके पाँच कार्य होने के कारण यह पाँच प्रकार का है। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान प्राणों को 'प्राणाद्याः पञ्चवायवः' कहा गया है। (1) प्राण श्वास–प्रवास को संचालित करता है और बाह्य जगत के विषयों के उत्प्रेरकों को नियंत्रित रखता है। (2) अपान विसर्जन शक्ति है। इसी शक्ति से वीर्य, थूक, पसीना, मूत्र, मल आदि विकार शरीर से बाहर निकलते हैं। (3) समान प्राण पाचन शक्ति है। यह पेट में पहुँचे भोजन को पचाती है। (4) व्यान रक्त संचालक शक्ति है। पचे अन्न से बने रक्त को यह शरीर में वितरित करती है। (5) उदान विचार करने की शक्ति है मृत्यु काल में जीव को यही शक्ति शरीर से बाहर निकाल कर दूसरे शरीर में ले जाती है। मनुष्य की आयु बढ़ने के साथ धीरे–धीरे ये शक्तियाँ क्षीण होने लगती हैं। जब ये प्राण ठीक से कार्य नहीं करते तो शरीर पर उनका प्रभाव पड़ता है। प्राणमय कोश में पाँच प्राणों के साथ पाँच कर्म इन्द्रियों की भी गणना की जाती है, क्योंकि ये सब एक ही तत्त्व अपंची.त पंचमहाभूतों के से निर्मित है और कर्म इन्द्रियों प्राण की क्रिया शक्ति से ही संचालित होती हैं।

मनोमय कोश– मनश्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं मिलित्वा, यो भवति स मनोमयः कोशः। मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर मनोमय कोश कहलाता है। अन्नमय कोश का अन्तर्वर्ती और उसका आत्मा प्राणमय कोश है। प्राणमय कोश का अन्तावर्ती और उसका आत्मा मन है। ये कोश क्रमशः सूक्ष्म होते गये हैं। सूक्ष्म कोश अपने से स्थूल कोशों में अन्तः व्याप्त हो जाता है और उन्हें अपने नियंत्रण में रखता है। उदाहरण के लिए, जब मन किसी दुःख से उद्विग्न होता है तो उसका प्रभाव प्राण और शरीर पर दिखाई देता है। मन ज्ञानेन्द्रियों से रूप, रस आदि विषय प्राप्त करता है और अपनी प्रतिक्रिया कर्मेन्द्रियों को सूचित करता है। यद्यपि पाँच इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले विषय अलग और भिन्न प्रकार के होते हैं किन्तु वे मन में एकीकृत होकर वस्तु का विम्ब प्रस्तुत करते हैं। मन इसे बुद्धि के सामने निर्णय लेने के लिए प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त मन विचारों का सतत् प्रवाह है। यदि प्रत्येक विचार को एक बाल्टी पानी माना जाय तो मन एक नदी है जिसमें जल निरन्तर प्रवाहित है। रुके हुए पानी में उसकी शक्ति नहीं दिखाई देती किन्तु उसके प्रवाहित होने पर नदी में गति और शक्ति आ जाती है। इसी प्रकार जब विचार प्रवाहित होते हैं तो उनमें बड़ा उद्वेग उत्पन्न होता है और मन मनुष्य का सबसे शक्तिशाली विरोधी बन जाता है।

विज्ञानमय कोश– बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं मिलित्वा, यो भवति स विज्ञानमयः कोशः। बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मिलकर विज्ञानमय कोश कहलाता है। बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं। इसके साथ भी पाँच ज्ञानेन्द्रियों को गणना की जाती है। यह मन से अधिक सूक्ष्म है। पूर्व स्मृति का उपयोग कर बुद्धि वर्तमान वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति पर विचार करने और निर्णय लेने की क्षमता रखती है। मन और बुद्धि की कार्यविधियाँ और उनके कार्य–विशेष एक उदाहरण से भी सकता भांति समझे जा सकते हैं। जब कोई व्यक्ति जलती सिगरेट के टुकड़े पर पैर रख देता है। तो वह तुरन्त अपना पैर हटा लेता है किन्तु यह सब होने से पहले कई प्रतिक्रियाएं होती हैं। जैसे ही मनुष्य का पैर अग्नि के संसर्ग में आता है, त्वचा अग्नि के उत्प्रेरक को। तक ले जाती है और मन उसे बुद्धि के सामने यह निर्णय लेने के लिए प्रस्तुत करता है। कि किस प्रकार की प्रतिक्रिया होना आवश्यक है। बुद्धि अपने पूर्व अनुभव और ज्ञान के आधार पर मन को आदेश देती है, और मन शरीर की मांशपेशियों को आदेश देता। है कि पैर हटा लिया जाय, क्योंकि जिस वस्तु के संसर्ग में पैर है वह शरीर के लिए हानिकारक है। मन केवल ज्ञात क्षेत्र में विचरण करने की क्षमता रखता है, किन्तु बुद्धि ज्ञात क्षेत्र में रहने के अतिरिक्त अज्ञात क्षेत्र में भी प्रवेश करने की शक्ति रखती है। वह नई खोज कर सकती है, नई बातों पर विचार कर सकती है और नये सिद्धान्तों को समझ सकती है।

आनन्दमय कोश– (एवमेव कारण शरीर भूताविद्यास्थमलिनसत्वं, प्रियादि वृत्ति सहितं सत, आनन्दमयः कोशः।) इसी प्रकार कारण शरीर, जो अविद्या में स्थित मलिन सत्व है और जिसकी। प्रिय आदि वृत्तियाँ हैं, आनन्दमय

कोश कहलाता है। कारण शरीर को ही आनन्दमय कोश कहते हैं। सूक्ष्म और स्थूल शरीरों – का हेतु से जिसे कारण शरीर कहते हैं वही सुख की प्रचुरता के कारण आनन्दमय कोश कहलाता है। यह अविद्याजनित है और सुषुप्तावस्था में हम इसी में सीमित रहते हैं। यह बुद्धि से भी अधिक सूक्ष्म और उसमें अन्तः व्याप्त उसका आत्मा है। आनन्दमय कोश मलिन–सत्त्व से निर्मित है। सत्त्व गुण में रजस और तमस का मिश्रण हो जाने से वह मलिन हो जाता है। इस मिश्रण का अनुपात अनेक प्रकार का हो सकता है। कर्म के प्रभाव से इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। इसे 'वासना पुंज' भी कहते है। सत्त्व में रजस और तमस के मिश्रण से उत्पन्न हुई मलिनता आवरण का काम करती है। यह आवरण बुद्धि में आत्मा का ज्ञान नहीं होने देता, इसलिए इस मलिन सत्त्व के अनापुग को अविद्या कहते हैं। इससे उत्पन्न हुई और इसके नियंत्रण में रहने वाली बुद्धि में आत्मा का शुद्ध रूप अनुभूत नहीं होता। सुषुप्त्यवस्था में यह कोश स्पष्ट और अलग अनुभव में आता है। इसको आनन्दमय इसलिए कहते हैं कि व्यक्ति की जाग्रत् और स्वनावस्था में कुछ भी दशा हो, यहे वह धनी या दरिद्री हो, स्वस्थ या रुग्ण हो, युवा वा वृद्ध हो, एक बार सुषुप्ति में पहुंचने पर सबको एक समान अचल शांति और सुख का अनुभव होता है, क्योंकि अन्य दो अवस्थाओं में प्राप्त होने वाले विक्षेप इस समय तिरोहित हो जाते हैं। आनन्दमय कोश का आनन्द शुद्ध आत्मा का आनन्द नहीं है। अविद्या की उपाधि में यह प्रिय, मोद और प्रमोद रूप में भासित होता है। ये सुख की तीन वृत्तियाँ हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि लौकिक सुख वृत्तिजन्य है और आत्मा का सुख निर्वृत्त है। 'प्रिय वृत्ति' अप्राप्त वस्तु के स्मरण में सुख का अनुभव कराती है। उस वस्तु के प्राप्त होने पर जो सुख होता है उसे 'मोद–वृत्ति' कहते हैं। प्राप्त वस्तु का इन्द्रिय भोग होने पर जो सुख होता है वह 'प्रमोद वृत्ति' है। बुद्धि में उत्पन्न होने वाली ये वृत्तियाँ आनन्दमय कोश हैं।

अतः पांच कोश हैं जिनसे आत्मा आवृत होकर अज्ञात हो गया है। आत्मा पर पहला निकटतम आवरण आनन्दमय कोश या कारण शरीर है इससे तादात्म्य कर हम समझते हैं कि सच्चिदानन्द आत्मा का हमें ज्ञान नहीं है। इससे अनुभव होने वाली प्रिय, मोद और प्रमोद की वृत्तियों का सुख ही हमें लुभाये रखता है। आनन्दमय कोश पर दूसरा आवरण बुद्धि का है। इससे तादात्म्य करने पर हम समझते हैं कि हमें यह ज्ञान है और यह ज्ञान नहीं है। इस पर मन का आवरण पड़ने पर हम अपने को सुखी, दुःखी, क्रोधी आदि अनुभव करते हैं। उस पर पुनः प्राणमय कोश का आवरण होने पर हम अपने को भूखा, प्यासा चलता, फिरता आदि अनुभव करते हैं। अन्नमय कोश उस पर अन्तिम आवरण है। उसमें स्थित होकर हम अपने को मोटा, पतला, रोगी, स्त्री–पुरुष ब्राह्मण आदि समझते हैं। आत्मा के अज्ञान में ये सब त्रुटिपूर्ण अनुभव होते हैं, जैसे पत्तियों के आवरण हटाकर मूंज की सींक निकाली जाती है, उसी प्रकार इन कोशों से परिच्छिन्न आत्मा का अनुसंधान करना चाहिए।

पंचकोशातीत– मदीयं शरीरं मदीयाः प्राणाः, मदीयं मनश्च मदीया बुद्धिः मदीयं ज्ञानमिति स्वेनैव ज्ञायते, तद्यथा मदीयत्वेन ज्ञातं, कटककुंडल गृहादिकं, स्वस्माद् भिन्नं, तथा पञ्च कोशादिकं, स्वास्माद् भिन्नं मदीयत्वेन ज्ञातमात्मा न भवति। जैसे कटक, कुण्डल, गृह आदि अपने से भिन्न हैं, इसी प्रकार मेरा शरीर, मेरा प्राण, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा ज्ञान– इस रूप में भासित होकर, पंचकोश आदि भी अपने से भिन्न हैं। ये सब मेरे अथार्त शरीर सम्बंधित हैं इसलिए आत्मा इनमें से कोई नहीं है।

आत्मा– सच्चिदानन्दस्वरूपः आत्मा। आत्मा सत् चित् और आनन्दस्वरूप है। कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्। सत वह है जो तीनों काल में रहे। ज्ञानस्वरूपः चित्। चित् ज्ञानस्वरूप है। सुखस्वरूपः आनन्दः। आनन्द सुखस्वरूप है। इस प्रकार सत् चित् और आनन्द स्वरूप अपने आत्मा को जाना जाता है।

निष्कर्ष रूप में यही कह सकते है कि सर्वश्रेष्ठ और पूर्णशांति हेतु मानव जीवन के लिए योग दृष्टि वेदांत आधारित ही है।

सन्दर्भ–

1. चिन्मयानन्द, तत्त्व बोध, चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई, 2006।
2. कविराज, गोपीनाथ, भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1996।
3. कविराज, गोपीनाथ शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी, 1986।
4. शर्मा, अभयदेव, वैदिक विनय, समर्पण शोध संस्थान, गाजियाबाद (उ०प्र०)।
5. सिद्धान्तालकार, सत्यव्रत एकादशोपनिषद्, विजयकृष्ण लखनपाल, नई दिल्ली– नवीन संस्करण।
6. टीकाकार रामसुखदास, श्रीमद भगवद्गीता गीताप्रेस गोरखपुर 2005।
7. भारद्वाज, ईश्वर, मानव चेतना, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2011।
8. कामाख्या कुमार, मानव चेतना एवं योग विज्ञान, ड्रोलिया पुस्तक भण्डार, हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2010।
9. शीलकराम, सनातन भारतीय योग साधना एवं उसकी विविध ध्यान विधियाँ, कल्पना प्रकाशन, दिल्ली, 2014।
10. भारती, अनन्त, राजयोग साधना और सिद्धान्त स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली, 1997
11. सरस्वती, सत्यानन्द, ईश्वर दर्शन, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, 2006
12. आदित्यनाथ, हठयोग स्वरुप एवम् साधना, श्री गोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर (उ०प्र०). 2007
13. भारती, अनन्त, योग कुण्डली, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली, 1999
14. योगेश्वरानन्द, आत्म–विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1996। सरस्वती, विज्ञानानन्द, योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश, 2007

******

नास्तिक भारतीय दर्शन में रहस्यवाद : बौद्ध एवं जैन के विशेष सन्दर्भ में

राकेश कुमा
(शोध छात्र), दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणस

मानव जीवन के आरम्भकाल से ही रहस्यभावना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रह है। जिससे यह सहज ही अनुमेय है कि मानव सृष्टि और ईश्वर की भावना के जन्म के साथ ही साथ रहस् भावना का भी जन्म हुआ होगा। आज दर्शन, धर्म, साहित्य आदि के साथ मानव जीवन के नानाविध क्षेत्रों रहस्यवाद के अनन्त रूप के दर्शन होते हैं। रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी का 'मिस्टिक' शब्द ग्रीक शब्द 'मिस्टेस' अथवा मस्टेस से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है जीवन–मृत् के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षित व्यक्ति। इस 'मिस्टिक' शब्द के साथ 'इज्म' का योग होने प 'मिस्टिसिज्म' शब्द बना है। इस प्रकार 'मिस्टिसिज्म' शब्द के द्वारा किसी गुप्त विद्या अथवा किसी ऐसी साधन पद्धति का बोध होता है जो गुप्त कृत्यों से सम्बद्ध हो और जो इसी कारण रहस्यमयी भी कही जा सकती है।

भारतीय धर्म–दर्शन की परम्परा निगमागममूलक है। निगम के अन्तर्गत वेदों की गणना की जाती है तथ आगम को तंत्र के नाम से जाता जाता है। निगम से कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप का बोध होता है तथ आगम इसके साधनभूत उपायों की शिक्षा देता है। स्पष्टतः भारतीय संस्कृति वेदमूलक है हाँलांकि बाद में भारत भूमि पर ही ऐसे धर्म सम्प्रदाय विकसित हुए जिन्होंने वेदों को अपने आचार–विचारों का आधार नहीं माना। जिसस भारतीय दर्शन अस्तिक तथा नास्तिक दो विभागों मे विभक्त किए गए। वेद की प्रमाणिकता को स्वीकार करन के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। वेद क प्रामाणिकता को अस्वीकार करने के कारण चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं। फिर भी भारत भूमि पर उत्पन्न एवं विकसित होने के कारण ये भारतीय आचार–विचार से नितान्त भिन्न नहीं है। ये वेद विरूद्ध भले हो, परन्तु भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता से अभिन्न है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि वैदिक आचार–विचारों का प्रतिबिम्ब इनमें भी स्पष्टतः दिखायी देता है। अतः भारतीयों की संस्कृति मूलतः एक ही है औ वह है वेदमूलक संस्कृति।[1] इसीलिए भारतीय दर्शन में जब भी रहस्यवाद पर चर्चा की जाती है तब इस दृष्टि से नास्तिक परम्परा में विकसित बौद्ध धर्म और जैन धर्म के महत्व का भी आकलन किया जाता है। हाँलांकि कुछ विद्वान बौद्ध धर्म और जैन धर्म पर रहस्यवाद की दृष्टि से विचार नहीं करते हैं। फिर भी इसमें रहस्यवादी स्थितियों के दर्शन किए जा सकते हैं।

बौद्ध रहस्यवाद –

भारतीय रहस्यवाद के आस्तिक परंपरान्तर्गत विकसित होने वाले धर्म संप्रदायों में परमतत्व की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं किन्तु नास्तिक परम्परा में विकसित होने वाले धर्म सम्प्रदायों मे रहस्यवाद का विचार ही विवाद का विषय है। कहा जाता है कि गौतम बुद्ध किसी भी अर्थ में अध्यात्मवादी नहीं थे और न निरपेक्ष आत्मा के शाश्वत अस्तित्व में उनका विश्वास ही था। बुद्ध का उद्देश्य तर्क द्वारा अध्यात्म शास्त्र की गुत्थियों को सुलझाना नहीं था बल्कि इस क्लेश–बहुल संसार के प्रपंच से मुक्ति पाने के लिए सरल आचारमार्ग का निर्देश करना ही उनका वस्तुतः लक्ष्य था। अपने शिष्यों द्वारा अध्यात्म विषयक अनेक प्रश्नों के पूछे जाने पर बुद्ध के मौन धारण का यही रहस्य है। बुद्ध की दृष्टि में भवरोग के रोगी को अध्यात्मक से कोई मतलब नहीं होना चाहिए। उसे तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना ही आवश्यक है। जिसके अन्तर्गत उन्होंने

चार आर्य सत्यों का रहस्योद्घाटन किया– 1. दुःखम् 2. दुःख समुदयः 3. दुःखनिरोध 4. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपत्।[3]

बुद्ध ने सुख और दुःख दोनों छोरों को छोड़कर मध्यमा प्रतिपदा को ढूढ़ निकाला इस मार्ग को आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहा गया है। जो निम्न है–1. सम्यक् ज्ञान 2. सम्यक् संकल्प 3. सम्यक् वचन 4. सम्यक् कर्मान्त 5. सम्यक् आजीव 6. सम्यक् व्यायाम 7. सम्यक् समाधि। उपर्युक्त आर्य अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है फलस्वरूप निर्वाण की सद्यः प्राप्ति होती है। बौद्ध दर्शनों में तीन साधन बताये गये हैं– शील, समाधि, और प्रज्ञा। ये बुद्ध की शिक्षाओं के सार रूप है। शील से तात्पर्य समग्र सात्विक कर्मो से है। समाधिक द्वारा पूर्वार्जित पापकर्म और इच्छाँए नष्ट हो जाती है और प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा द्वारा अंतिम लक्ष्य निर्वाण की उपलब्धि होती है जिससे सभी दुःखों और बुराइयों का निरोध हो जाता है।[4]

महात्मा बुद्ध ने अनेक साधना पद्धतियों की परीक्षा करने के उपरान्त अंत में सत्य की उपलब्धि के लिए योगमार्ग को ग्रहण किया। जिसके द्वारा उन्होंने सत्य के दर्शन किये। उल्लेखनीय है कि बुद्ध का योगमार्ग पातंजलयोग मार्ग के सदृश्य होते हुए भी दोनों में सैद्धान्तिक अन्तर देखा जा सकता है। जहां बुद्ध के सभी ध्यान और समाधि का प्रधान लक्ष्य निर्वाण था वहीं पतंजलि का उद्देश्य आत्मप्रदीप्ति के रूप में आत्मा की मुक्ति को माना गया। वस्तुतः बौद्ध निर्वाण की चरम रहस्यवादी अवस्था को संतोषप्रद ढंग से वर्णित करना बहुत ही कठिन है। यह सभी सुखो एवं दुःखों से परे की अवस्था है। यह सभी भौतिक क्रियाओं से निरपेक्ष विच्छेद की अवस्था है। यह एक परमानन्दपूर्ण अवस्था है जिसमें परमानन्द और परमानन्द के भोक्ता में कोई अंतर नही होता है। निर्वाण का यह रहस्यवादी परमानन्द बुद्धि द्वारा अगम्य है।[5] डॉ. दासगुप्त निर्वाण की अवस्था को ही बौद्धों के रहस्यवाद के रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि उक्त अवस्था की उपलब्धि योगाभ्यास द्वारा होती है। इसमें सभी भौतिक इच्छाओं, क्रियाओं, सुखों एवं दुःखों की स्थिति का समापन हो जाता है। अर्थात निर्वाण की अवस्था सुख–दुःख विनिर्मुक्त परमानन्द की दशा है जो बौद्धों के सभी आध्यात्मिक प्रयत्नों का अंतिम लक्ष्य है।

बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान बौद्ध धर्म के दो रूप मिलते हैं। जहां हीनयानी स्वयं अपने ही निर्वाण की प्राप्ति के लिए सर्वदा तत्पर रहता है वहीं महायानी बोधिसत्व केवल अपने को ही निर्वाण में प्रतिष्ठित करना नही चाहता बल्कि समस्त प्राणियों को परमार्थसत्य निर्वाण में स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार हीनयान कोरा निवृत्तिमार्ग है तथा बोधिसत्व महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान में साधना के रूप में केवल ज्ञान की ही प्रधानता है किन्तु महायान में भक्ति की विशिष्टता द्रष्टव्य है। महायान में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना तथा भक्ति द्वारा उसकी पूजा अर्चना का प्रमुख स्थान है। कहा जाता है कि महायान सम्प्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्ति प्रधान हीनयान का रूप परिवर्तित कर उसे प्रवृत्तिप्रधान और भक्तिभावान्वित बनाकर सभी मनुष्यों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। महायान ने हीनयान के शुष्कज्ञान प्रधान्य मे भक्तिभाव को ग्रहण कर जीवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के स्वाभाविक विकास के लिए अवसर दिया। इसी तरह बौद्ध धर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में भी होता रहा। माना जाता है कि वैपुल्यवादियों ने मंत्र–तंत्र मे विशेष अभिरुचि दिखायी थी जिनके प्रधान आचार्य तांत्रिक शिरोमणि नागार्जुन की गुह्य शिक्षाओं ने महायान की कायापलट कर दी। मंजुश्रीमूलकल्प में मंत्र–तंत्रों का पर्याप्त विधान किया गया है। भोट ग्रंथों के अनुसार धान्यकटक और श्री पर्वत के प्रांत में मंत्रयान का उदय हुआ। बाद में इसी मंत्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई। शून्यवाद वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि है, परन्तु वज्रयान के आचार में तान्त्रिक क्रियाकलाप की ही बहुलता है।[6]

शून्यवाद के असम्बद्ध और अस्त–व्यस्त विचारों को सर्वप्रथम दार्शनिक रूप से पूर्ण विकसित और सुसम्बद्ध और सुसंग्रहीत करने के पश्चात् कुछ अपने मौलिक विचारों से उन्हें पुष्ट करके शून्यवाद को प्रतिष्ठित दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप देने का श्रेय आचार्य नागार्जुन को ही है। माध्यमिक बौद्ध दर्शन में शून्य का अर्थ प्रचलित साधारण अर्थ से भिन्न है। 'शून्य' पद का प्रचलित अर्थ अभाव असत् यथा सर्वनिषेध है। इसी प्रचलित अर्थ को लेकर विद्वानों ने शून्यवाद को सर्वप्रमाणविप्रतिशिद्ध असत् नास्तिकवाद सिद्ध कर दिया। शून्यवादी शून्य

शब्द का अर्थ नितान्त भिन्न करते हैं। सी0डी0 शर्म के अनुसार, शून्य एक दुधारी तलवार है। इसके दो रूप है।[7] यह परमतत्व भी है और माया भी, यह सत्य भी है और मिथ्या भी, यह निर्वाण भी है और संसार भी, यह परमार्थ भी है और व्यवहार भी। व्यवहार में शून्य का अर्थ है। स्वभाव शून्य और परमार्थ मे शून्य का अर्थ है प्रपंचशून्य। स्वभावशून्य का अर्थ है निजी स्वतंत्र सत्ता से शून्य अर्थात स्वभाव शून्य उसे कहते हैं जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता न हो जो किसी अन्य सत्ता के करण सत् प्रतीत होती हो। सत्, सत्ता, स्वभाव, आत्मा ये शब्दत्रिकालबाध अस्तित्व के सूचक हैं। इसके विपरीत असत्, असत्ता, अभाव ये शब्दनितान्त 'असत्', के सूचक हैं जिसकी त्रिकाल में कभी भी प्रतीत नहीं होती। तत्व अनिर्वचनीय है क्योंकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नही कर सकती, संसार भी अनिर्वचनीय है क्योकि वह न सत् है न असत् न सदसत् न सदसत्भिन्न। संसार अनिर्वचनीय होने के कारण मिथ्या है, किन्तु तत्व अनिर्वचनीय होने के कारण 'सत्य' है क्योकि वह स्वानुभूति अर्थात विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है। तत्व ही अविद्या के कारण संसार प्रतीत होता है और संसार ही अविधा के द्वारा तत्व जान लिया जाता है। निर्वाण और संसार में कोई अन्त नही, केवल दृष्टिकोण का भेद है। संसार स्वभावशून्य है और तत्व प्रपंचशून्य। संसार की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष होने से प्रतीत्यसमुत्पन्न है और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से मिथ्या और जो मिथ्या है वह वास्तव में स्वभावशून्य, सत्तारहित, और अनात्म है। परन्तु असत् नहीं।

शून्यवादी दार्शनिकों के अनुसार तत्व चतुष्कोटिविर्निमुक्त है। अतः उसका साक्षात्कार अपरोक्षानुभूति से ही हो सकता है। बुद्धि की कोटियों से प्रतिपादित सारे दार्शनिक मत अन्तर्विरोध से ग्रस्त है। नागार्जुन ने शून्यता के लक्षण का वर्णन 'माध्यमिककारिका' में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।[8]

माध्यमिक शून्यवादी दर्शन में शून्यता के अनेक लक्षण बताये गये हैं जो निम्न है–

* शून्य अपरप्रत्यय है। अर्थात किसी के द्वारा इसका उपदेश नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वाणी को इस तत्व की अनुभूति स्वयं अपने आप करनी चाहिए।
* यह शान्त है अर्थात् स्वभावरहित है।
* यह प्रपंचों के द्वारा कभी प्रपंचित नही होता है। यहां प्रपंच का अर्थ शब्द से है। शून्य के अर्थ का प्रतिपादन किसी भी शब्द द्वारा नही किया जा सकता। इसीलिए यह अशब्द है।
* शून्य को निर्विकल्प तत्व कहा गया है और शून्य को नाना अर्थों से विरहित माना गया है।

माध्यमिक मत में दो प्रकार का सत्य स्वीकार किया गया है। 1. पारमार्थिक सत्य (प्रज्ञाजनित सत्य) 2. सांवृतिक सत्य (अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता)। परमार्थ सत्य अवाच्य है एवं ज्ञान का विषय नहीं है। परमार्थ सत्य प्रपंचशून्य है अतः उसके स्वभाव का वर्णन लक्षण से व्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तु का अकृत्रिम स्वरूप ही परमार्थ है, जिसके ज्ञान से संवृतिजन्य समस्त क्लेशों का अन्त हो जाता है। परमार्थ निःस्वभावता है। जगत् के समस्त पदार्थ किसी कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः उनका अपना कोई रूप नहीं होता। यही निःस्वभावता या शून्यता पारमार्थिक रूप है। संवृत्ति का अर्थ बुद्धि है। अतः बुद्धि के द्वारा जिस तथ्य का ग्रहण होत है, वह सब व्यावहारिक रूप से सत्य है। परमार्थ सत्य तक बुद्धि की पहुंच नहीं है। बुद्धि किसी विशेष लक्षण के माध्यम से ही वस्तु का ग्रहण करती है। परमार्थ लक्षणों से परे होने के कारण बुद्धि की पहुंच से परे है।[9]

माध्यमिक तत्वमीमांसा के विषय में मध्यम मार्ग के समर्थक है उनके अनुसार चतुष्कोटियां सापेक्षता की सूचक है जबकि परमार्थ निरपेक्ष का सूचक है। शब्दों के द्वारा परमार्थ सत् की वर्णन नही किया जा सकता। अतः अनिवर्चनीय इन्द्रियातीत, अगम अगोचर को शून्य की संज्ञा देते हैं। नागार्जुन ने जगत के मूल में विद्यमान किसी परमार्थ सत्ता का कदापि निषेध नहीं किया है। परमार्थ की सिद्धि निषेधात्मक पद्धति से की है। माध्यमिक कारिका की प्रथम कारिका में परमतत्व की सिद्धि आठ निषेधात्मक शब्दों के द्वारा की है–

अनिरोधमनुत्पादयनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थम् अनागममनिर्गमम्।।

परमसत् की स्तुति करने में अपने आप को असमर्थ बताते हुए उनका कथन है–

एव स्तुतः स्तुतो भूयादथवा किमुत स्तुतः।
शून्येषु सर्वधर्मेषु कः स्तुतः केन वा स्तुतः।।

कुछ पश्चिमी विचारकों ने बौद्ध मत में रहस्यवाद को स्वीकार नही करते। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स में बताया गया है कि रहस्यवाद की सीमित परिभाषा के अनुसार रहस्यवाद का तात्पर्य है साकार या निराकार परमतत्व के साथ प्रत्यक्ष, तर्करहित, प्रातिभ सम्बन्ध। चूकि कट्टर बौद्धमत की दृष्टि से, चाहे वह हीनयान हो अथवा महायान, किसी परमतत्व की सत्ता स्वीकार नहीं है अतः बौद्धमत में रहस्यवाद का कोई स्थान नहीं हैं। जबकि इसके विपरीत अतिबौद्धिक लक्ष्य के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के रहस्यात्मक साधनों की स्वीकृति देने के कारण अन्य लोग इसे रहस्यवाद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। बौद्धों का शून्यता में समाहित होना अथवा प्रवेश कम रहस्यवादी नहीं है। निर्वाण का जो वर्णन बौद्धों के साहित्य में उपलब्ध है, वह रहस्यवादी शब्दावली में है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि बौद्ध रहस्यवाद ईश्वरपरक रहस्यवाद नहीं है। कुछ लोग इसे विश्लेषणात्मक आत्मरहस्यवाद कहते हैं जबकि प्रज्ञा की महिमा के कारण कुछ लोग इसे ज्ञानात्मक रहस्यवाद भी कहते है क्योंकि इसमें निर्वाण का सुखात्मक स्वरूप स्वीकृत है। किन्तु यदि परवर्ती बौद्ध दर्शन मे नजर डाले तो इसे आत्मकेन्द्रित रहस्यवाद के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता क्योकि बोधिसत्व का महायान में स्वीकृत सिद्धान्त आत्मकेन्द्रित नही है। बौद्धमत की रहस्यवादिता का प्रमाण तांत्रिक बौद्ध धर्म के उस रूप में मिलता है जिसमे 'हेरूक' अथवा 'हेवज्र' की परमर्दवत के रूप मे प्रतिष्ठा होती है। साधना, अनुभूति, परमदैवत और उनकी अभिव्यक्ति इस सभी दृष्टियों से तांत्रिक बौद्ध मत सर्वथा रहस्यवादी है। कालचक्रयान और सहजयान में इनके प्रभूत प्रमाण है। इस प्रकार प्राचीन बौद्धमत की रहस्यवादिता विवादास्पद हो सकती है परन्तु महायान से लेकर तांत्रिक बौद्धमत की अंतिम परिणति तक का विकास सभी दृष्टियों से रहस्यवादी है।

जैन रहस्यवादः–

जैन दर्शन को भी बौद्ध दर्शन के समान नास्तिक और निरीश्वरवादी समझा जाता है। क्योंकि न यह ईश्वर की सत्ता को मानता है और न ही वेद के प्रमाण्य को स्वीकार करता है। उपनिषदों में परमसत् को एक, शाश्वत, अनादि, अपरिवर्तनीय तथा अनन्त माना गया है। इसके विपरीत जैनी परमसत् को नित्य और अपरिवर्तनीय नहीं मानते उनका मानना है कि सत्–उत्पत्ति, गतिशीलता और विनाश से सम्बद्ध है। जिसे अनेकान्तवाद के नाम से जाना जाता है। जैन दर्शन के अनुसार एक ही द्रव्य मे स्थायी और परिवर्तनशील दोनों धर्म रह सकते हैं। सत्ता विषयक इस धारणा के फलस्वरूप जैनियों के अनेक सिद्धान्त सामने आते हैं– अनेकान्तवाद, सापेक्षवाद, स्यादवाद। जैनियों का अनेकान्त सापेक्षवाद बौद्धों के बहुत्ववाद से पृथक है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं 'अनन्तधर्मकं वस्तु'।[10] किसी भी वस्तु या तथ्य को एकान्ततः सिद्ध नहीं किया जा सकता। कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है। कोई भी कथन कुछ विशिष्ट स्थितियों और सीमाओं के अन्दर ही सत्य है। प्रत्यके वस्तु के दो प्रकार के धर्म होते हैं स्वपर्याय और परर्याय। वे पर्याय जो वस्तु के अपने रूप, स्थिति आदि के परिचायक होते हैं उन्हे स्वपर्याय कहते हैं जैसे– किसी व्यक्ति का रूप, रंग, गोत्र कुल आदि स्वपर्याय है तथा दूसरे व्यक्ति से उसकी भिन्नता को समझना परपर्याय है। स्वपर्याय भावात्मक होते हैं और परमपर्याय अभावत्मक होते हैं। अभावात्मक धर्मों की संख्या भावात्मक धर्मो से अधिक होती है।

जैन दार्शनिकों के अनुसार वस्तुओं के अनन्त धर्म है, साधारण व्यक्ति के लिए एक वस्तु के समस्त धर्मों को जानना असंभव है। केवली या सर्वज्ञ पुरूष ही केवल ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनन्तधर्म का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जैन धर्म के अनुसार जो एक धर्म वस्तु को पूरी तरह जानता है वह सब वस्तुओं को जानता है और जो सब वस्तुओं को जानता है केवल वही किसी वस्तु को जानता है। 'प्रमाणनयतत्वलोकालंकार' नामक ग्रन्थ मे इसी बात की पुनरावृत्ति हुई है। उसमें कहा गया–

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः : सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।।[11]

शब्द का अर्थ नितान्त भिन्न करते हैं। सी०डी० शर्मा के अनुसार, शून्य एक दुधारी तलवार है। इसका दो रूपों में प्र...

यह परमतत्व भी है और माया भी, यह सत्य भी है और मिथ्या भी, यह निर्वाण भी है और संसार भी, यह ...

भी है और व्यवहार भी। व्यवहार में शून्य का अर्थ है स्वभाव शून्य और परमार्थ में शून्य का अर्थ है प्रपंचशून्य।

स्वभावशून्य का अर्थ है निजी स्वतंत्र सत्ता से शून्य अर्थात् स्वभाव शून्य उसे कहते हैं जिसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता

न हो जो किसी अन्य सत्ता के कारण सत् प्रतीत होता हो। सत्, सत्ता, स्वभाव, अस्ति ये शब्द ...

के सूचक हैं। इसके विपरीत असत्, असत्ता, अभाव ये शब्द नितान्त 'असत्' के सूचक हैं जिसका त्रिकाल में कभी

भी प्रतीति नहीं होती। तत्व अनिर्वचनीय है क्योंकि वाणी और बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती। ...

अनिर्वचनीय है क्योंकि वह न सत् है न असत् न सदसत् न सदसत्भिन्न। संसार अनिर्वचनीय होने के कारण

मिथ्या है, किन्तु तत्व अनिर्वचनीय होने के कारण सत्य है क्योंकि वह स्वानुभूति अर्थात विशुद्ध ज्ञान ...

तत्व ही अविद्या के कारण संसार प्रतीत होता है और संसार ही अविद्या के द्वारा तत्व ... निर्वाण ...

और संसार में कोई अन्तर नहीं, केवल दृष्टिकोण का भेद है। संसार स्वभावशून्य है और तत्व प्रपंचशून्य ...

की प्रत्येक वस्तु सापेक्ष होने से प्रतीत्यसमुत्पन्न है और प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से मिथ्या ...

...व्ययुक्त' मानता है। उनके अनुसार जगत

वास्तव में स्वभावशून्य, सत्तारहित, और अनित्य है। परन्तु असत् नहीं।

शून्यवादी दार्शनिकों के अनुसार तत्व चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। अतः उसका साक्षात्कार अपरोक्षानुभूति से ही

हो सकता है। बुद्धि की कोटियों से प्रतिपादित सारे दार्शनिक मत अन्तर्विरोध से ग्रस्त हैं। नागार्जुन ने शून्यता

के लक्षण का वर्णन, माध्यमिककारिका में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

...अनेकान्तवाद की ओर ले जाती है। जो

मानती है कि कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है ... स्थितियों और सीमाओं के अधीन

माध्यमिक शून्यवादी दर्शन में शून्यता के अनेक लक्षण बताये गये हैं जो निम्न हैं–

* ही सत्य है।

शून्य अपरप्रत्यय है। अर्थात किसी के द्वारा इसका उपदेश नहीं किया जा सकता। प्रत्येक वाणी को इस

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। संसार के समस्त जीवों में

तत्व की अनुभूति स्वयं अपने आप करनी चाहिए।

* चैतन्य प्राप्त होता ही है। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, दर्शनसामर्थ्य आदि गुणों से युक्त है परन्तु

यह शान्त है अर्थात् स्वभावरहित है।

* कर्मों के कारण उसके शुद्ध चैतन्य रूप पर आवरण पड़ा रहता है ...

यह प्रपंचों के द्वारा कभी प्रपंचित नहीं होता है। यहाँ प्रपंच का अर्थ शब्द से है। शून्य किसी भी ...

से जीव अपने शुद्ध रूप को पुनः प्राप्त कर सकता है ... हो सकता है। जैनियों

प्रतिपादित किसी भी शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता इसीलिए यह अशब्द है।

* ने आत्मा के तीन अवस्था भेद बताये हैं ... की दृष्टि से

शून्य को निर्विकल्प तत्व कहा गया है और शून्य को नाना अर्थ से विरहित माना गया है।

यह आत्मा की त्रिविधता है ...

माध्यमिक मत में दो प्रकार का सत्य स्वीकार किया गया है। 1. पारमार्थिक सत्य (प्रज्ञाजनित सत्य)

तो आत्मा और परमात्मा एकात्मक हैं ...

2. सांवृतिक सत्य (अविद्याजनित व्यावहारिक सत्ता)। परमार्थ सत्य अवाच्य है एवं ज्ञान का विषय नहीं है। परमार्थ

सत्य प्रपंचशून्य है अतः उसके स्वभाव का वर्णन लक्षण से व्यक्त नहीं किया जा सकता। ...

ही परमार्थ है, जिसके ज्ञान से सर्वातिशय समस्त क्लेशों का अन्त हो जाता है। परमार्थ ...

के समस्त पदार्थ किसी कारण से उत्पन्न होते हैं। अतः उनका अपना कोई रूप नहीं ...

या शून्यता पारमार्थिक रूप है। संवृत्ति का अर्थ बुद्धि है। अतः बुद्धि के द्वारा जिसे ...

सब व्यावहारिक रूप से सत्य है। परमार्थ सत्य तक बुद्धि की पहुँच नहीं है। बुद्धि किसी विशेष ...

माध्यम से ही वस्तु को ग्रहण करती है। परमार्थ ... ज्ञानी,

विशुद्ध परमपद में स्थित ... अनुसार चतुष्कोटियां सापेक्षता की

माध्यमिक तत्वमीमांसा के विषय में मध्यम मार्ग के समर्थक हैं।

सूचक है जबकि परमार्थ निरपेक्ष का सूचक है। शब्दों के द्वारा परमार्थ सत् का वर्णन नहीं किया जा सकता।

अतः अनिर्वचनीय इन्द्रियातीत, अगम अगोचर को शून्य की संज्ञा देते हैं। नागार्जुन ने जगत के मूल में विद्यमान

किसी परमार्थ सत्ता का कदापि निषेध नहीं किया है। परमार्थ की सिद्धि निषेधात्मक पद्धति से ... माध्यमिक

कारिका की प्रथम कारिका में परमतत्व की सिद्धि अति निषेधात्मक शब्दों के द्वारा ... भी इसी प्रकार की है

जो मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए पर्याप्त है। स्पष्टतः जैन दर्शन में परमात्मा के अस्तित्व की

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।

कल्पना शुरू में ही कर ली थी परन्तु उनकी संख्या अनेक (बहुतत्ववादी) मानी गयी। जिसे आत्मा का ही विकसित

अनेकार्थमनानार्थम् अनागममनिर्गमम्।।

शुद्ध और निर्विकार रूप माना गया। ... ने परमात्मा का स्थान

परमसत् की स्तुति करने में अपने आप को असमर्थ बताते हुए उनका कथन है–

सन्दर्भ–
चिन्मयानन्द, तत्त्व बोध, चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई, 2006।
2 कविराज, गोपीनाथ, भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1996।
कविराज, गोपीनाथ शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी विश्वविद्यालय प्रकाशन चौक, वाराणसी, 1988।
शर्मा, अभयदेव, वैदिक विनय, समर्पण शोध संस्थान, गाजियाबाद (उ०प्र०)।
सिद्धान्तालंकार, सत्यव्रत एकादशोपनिषद्, विजयकृष्ण लखनपाल, नई दिल्ली– नवीन संस्करण।
6 टीकाकार रामसुखदास, श्रीमद् भगवद्गीता गीताप्रेस गोरखपुर 2005।
भारद्वाज, ईश्वर, मानव चेतना, सत्यम् पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2011।
कामाख्या कुमार, मानव चेतना एवं योग विज्ञान, झोलिया पुस्तक भण्डार, हरिद्वार, उत्तराखण्ड, 2010।
शीलकराम, सनातन भारतीय योग साधना एवं उसकी विविध ध्यान विधियाँ, कल्पना प्रकाशन, दिल्ली, 2014।
भारती, अग्नि, राजयोग साधना और सिद्धान्त स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली, 1997
सरस्वती, सत्यानन्द, ईश्वर दर्शन, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, 2006
12 आदित्यनाथ, हठयोग स्वरूप एवम् साधना, श्री गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर (उ०प्र०), 2007
13 भारती, अग्नि, योग कुण्डली, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, दिल्ली, 1999
14 योगेश्वरानन्द, आत्म विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1996। सरस्वती, विज्ञानानन्द, योग विज्ञान, योग निकेतन ट्रस्ट, ऋषिकेश, 2007

और उन्हें शुद्धात्मा कहा गया। उन्हें इन्द्रिय, वाणी, विचार से परे माना गया। स्पष्टतः जैन दर्शन के अभ्युदय [illegible] इसके अधिष्ठाता चौबीस तीर्थंकर संसार के प्रसिद्ध रहस्यवादी [illegible] श्री ए०एन० उपाध्ये ने 'परमात्म प्रकाश' की भूमिका में जैन तीर्थंकरों को महान् रहस्यवादी माना है। उन्होंने ऋषभदेव [illegible] उल्लेखनीय [illegible] ऋषभदेव की चर्चा एक प्रमुख रहस्यवादी [illegible] टीकाकार [illegible] किया है। मुनि योगीन्दु ने इस देह रूपी देवालय [illegible] ज्ञान से होता है। पाहुड दोहा में [illegible] रही है। [illegible] है। मुनि राम सिंह ने पाहुड दोहा में कहा है कि जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से तो दोनों समरस [illegible] ब्राह्मण्ड को [illegible] अलोचकों [illegible] द में आस्तिक दर्शनों के रहस्यवाद के समान किसी एक परमतत्व की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। यहां तक की आत्मतत्व की शाश्वता और नित्यता भी इस मत को स्वीकार नहीं है। प्रतिउत्तर मे कहा जा सकता है कि जैनमत सर्वोच्च पूर्णता के एक आदर्श को स्वीकार करता है जिसमें मुक्त आत्माएं निवास करती हैं। इसी प्रकार समस्त जीवों में विभिन्न प्रकार की भिन्नताओं के होते हुए भी एक चैतन्य की कल्पना (सर्वोच्च आदर्श की स्वीकृति) अवश्य की गई है। अर्हत के देवत्व की जो कल्पना यहां मिलती है वह भारतीय रहस्यवाद के समानान्तर है। बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा नाम की जो तीन अवस्थाएं बतायी गयी हैं। वे वस्तुतः रहस्य साधना में विकास को प्राप्त करने वाली आत्म की विभिन्न स्थितियां हैं। परमात्मा की स्थिति को प्राप्त करने वाली आत्मा कर्मकलंक से मुक्त होकर आनन्द लोक में विचरण करती हुई जिस अनिवर्चनीय परमसुख का अनुभव करती है वह चरमोत्कृष्ट रहस्यानुभूति के लक्षणों के सर्वथा अनुकूल है। अन्य भारतीय रहस्यवादी धाराओं के समान ही श्रद्धा, ज्ञान और संयम की महिमा इस मत में भी है। किन्तु श्रद्धा और आचार को जो विशिष्ट स्थान इस मत मे दिया गया है उससे जैनी आचारप्रधान रहस्यवादी प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त जैन रहस्यवादियों की अंतस्साधना का विजयघोष अपभ्रंश की जैन रचनाओं में दिखाई पड़ती है। जहां अनेकता मे एकता का दर्शन उनकी समदृष्टि का परिचायक है। इस प्रकार जैनियो ने शास्त्र ज्ञान, पोथी ज्ञान का खण्डन कर आत्मज्ञान या स्वानुभूतिज्ञान का जो समर्थन किया है उससे उनकी रहस्यदर्शिता स्वतः प्रमाणित हो जाती है।

सन्दर्भ सूची–
1. पं० परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ. 3–4। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ. 11–12
2. म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति पृ. 191
3. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 119–121
4. उपरिवत्– पृ. 122–123

5. डॉ0 दास गुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ. 87–90
6. पं0 उपाध्याय, भारतीय दर्शन पृ. 129–130
7. सी0डी0 शर्मा, बौद्ध दर्शन और वेदान्त पृ. 73
8. नागार्जुन, माध्यमिककारिका पृ. 18/9
9. बोधिचर्या पंजिका, पृ. 336
10. षडदर्शन समुच्चय टीका श्लोक पृ. 55
11. उपरिवत्– पृ. 89
12. पं0 उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ. 106–107
13. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद पृ. 11–12
14. उपरिवत्– पृ. 16

******

योग दर्शन में ध्यान संस्कृति के मूल तत्व

डॉ. देवेन्द्र कुमार जाटव
विभागाध्यक्ष,
योग विज्ञान विभाग, महाकोशल विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म.प्र.)

मानवीय सभ्यता के आरम्भ में संस्कृति के ऐतिहासिक तत्व प्राप्त होते है। विश्व की समस्त सभ्यताओं में धर्म, पूजा उपासना के साथ–साथ प्रार्थना या ध्यान के साक्ष्य भी प्राप्त हुये है। साधारणतः आदि कालीन प्राचीन मान्यताओं एवं आधुनिक मान्यताओं में ध्यान संस्कृति का उद्देश्य आत्म जागरण या चित शुद्धि ही होगा ऐसा माना जा सकता है। यद्यपि प्राचीन मूल योग ग्रंथो में वर्णित ध्यान की पद्धतियाँ यह दर्शाती है कि अभ्यास एवं वैराग्य की परम्परा प्राचीनकाल में आधुनिक काल की तुलना में अधिक प्रचलित थी। दृष्टा, दार्शनिक, ऋषि, मुनि एवं चिंतक आदि चरित्र सभ्यता एवं संस्कृति को अपनी क्षमता अनुसार योगदान देते आ रहे है। यह योगदान पंथ, परम्पराओं, सूत्रों, वाणियों एवं ग्रंथो इत्यादि स्वरूप में प्राप्त है। ध्यान शब्द का अभिप्राय पूर्व में एवं वर्तमान में सदैव एकाग्रता को ही माना गया है। वृत्ति निरोध, आत्म–जागरण, प्राण शक्ति का जागरण इत्यादि योग परक युक्तियाँ ध्यान–क्रियाओं से ही उत्पन्न होती है। कुण्डलिनि जागरण, षट चक्रों का जागरण, मंत्र योग, तंत्र योग, लय योग, ज्ञान योग एवं कर्म योग इत्यादि समस्त योग के प्रकार या प्रकारांतो में ध्यान–संस्कृति का महत्व सदैव सन्निहित है। हठयोग एवं राजयोग की परम्पराओं में संयुक्त रूप से क्रमशः गोरक्ष संहिता एवं पतंजलि योग सूत्र में 'ध्यान' विषयक मूल व्याख्या का वर्णन प्राप्त होता है।

पंच महाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्रायें एवं मन–बुद्धि–चित्त तथा अहंकार जैसे तत्वों का पारस्परिक मेल केवल ध्यान के मार्ग से ही संभव है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय अपरिग्रह, ब्रम्हचर्य, शौच संतोष, तप, स्वाध्याय, एवं ईश्वर प्रणिधान रूपी यम–नियम ध्यान के अभाव में साधे ही नहीं जा सकते है। सत् का साक्षात्कार, करूणा–प्रेम–स्नेह पूर्ण आचरण का अनुसरण तथा हिंसा का त्याग, अन्यों की वस्तु का निग्रह किए बिना या चोरी या स्तेय किए बिना आचरण करना, परिग्रह या आवश्यकता से अधिक का संग्रह करने की भावना से इतर सीमित संसाधनों का उपयोग करना, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश जैसे पंच महाभूतों के प्रति सजग अनुभव करना जैसे युक्ति युक्तिकरण योग संस्कृति के मूल तत्व है जिन्हे ध्यान संस्कृति के मूल तत्व कहना भी अतिश्योक्ति नहीं होगी। शुचिता, संतुष्टि, तपश्चर्या, स्वाध्याय एवं इष्ट सिद्धी की भावना को अर्जित करने के निमित्त भी ध्यान–संस्कृति प्रयुक्त होती है। शोधन, शिथलीकरण, संवर्धन इत्यादि योग कर्म में ध्यान परक एकाग्रता का क्रिया पक्ष समाहित होता है। बुद्ध की विपश्यना, महावीर की प्रेक्षा और वैदिक भावातीत ध्यान के विधान वास्तव में ध्यान संस्कृति के मूल तत्व है।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योग परम्परा को योग उपचार की दृष्टि से देखा जा रहा है अनेक अनुसंधानों के माध्यम से योग की मूल क्रिया प्रणाली का उपयोग सिद्ध करते हुये "ध्यान" की अवधारणा की उपयोगिता के मानक निर्मित किये जा रहे है। "The yogic practices played supreme role in the maintenance of mental health and efficiency has been known to mankind for many centuries. In the modern day, it becomes necessary for us to examine whether our great science of yoga can in any way help the individuals suffering from different problems of emotional, social and other aspects of behavior (Ramamurthi, 1989). A study by Telles (1995) and Iyengr (1997) argues that integrated yoga practices viz. Dhyana, pranayama, physical posture and cleaning practices are the most effective in bringing about improvement in attention, concentration and relaxation."[1] बुद्धि, विवेक, प्रज्ञा एवं ऋतम्भरा का जागरण सहजता पूर्वक हो सके इसके लिये योग दर्शन में व्याप्त 'क्रिया योग' की मूल अवधारणा के अंतर्गत तप स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान में क्रमशः क्रिया, ध्यान एवं ईष्ट सिद्धि

पर विचार किया जाता है। ध्यान तत्व में शब्द या मंत्र, अर्थ या आशय एवं स्थिति या मनः स्थिति या आत्म स्थिति इत्यादि समाहित है। ध्यान के पूर्व धारणा एवं धारणा के पूर्व प्रत्याहार का विचार पतंजलि योग सूत्र के साधन पद में वर्णित अष्टांग योग की क्रमिक उपासना पद्धति द्वारा प्रज्ञा समाधि तक पहुँचकर चित्त की वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के निमित्त आसन एवं प्रणायाम इत्यादि का अभ्यास उपदिष्ट है। जिसके पूर्व यमांग एवं नियमांगों में प्रकृति प्रदत्त पंच महाभूतों, पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों तथा पंच तन्मात्राओं के युक्तिकरण हेतु सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रहमचर्य, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान जैसे अनुशासन परक उपदेशों का अनुसरण करने की शिक्षा प्राप्त होती है, इनमें से किसी एक पर भी न्यूनतम ध्यान–चिंतन करते हुये योग मार्ग का अनुभव किया जा सकता है। अभ्यास द्वारा उपरोक्त तत्वों में समेकता का अनुभव योग का वास्तविक मार्ग है जिससे युज धातु का अभिप्राय जोड़ना, संयम एवं समाधि सिद्ध होता है इससे पुनः यह भी सिद्ध होता है कि आसान, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, षटकर्म, तथा अंतरंगो, योग में वर्णित समस्त अंगों में ध्यान तत्व का विशेष महत्व है।

"Budhism, throughout the history and in the development of Indian philosophy, has, vital role to play in showing greatness and earnestness in its search for truth. Buddhist thought is really a history of philosophy that grew out of teachings of Buddha."[2] बुद्ध दर्शन में वर्णित प्रज्ञा शील एवं समाधि का विचार भी यह दर्शाता है कि बुद्ध के जन्म के समय से पूर्व हुये विभिन्न बुद्ध तथा गौतम बुद्ध के काल से लेकर आधुनिक काल तक आदि से आधुनिक विचार दर्शन में बुद्धों का योगदान ध्यान के विभिन्न तत्वों का अभ्यास करते हुये प्रज्ञा, शील एवं समाधि के विभिन्न स्तरों का अनुभव करना है।

बहिरंग : यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार तथा अंतरंग धारणा, ध्यान एवं समाधि जैसे साधन योगांगो में ध्यान तत्व की साधना का आशय है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर चित का उन्मुखीकरण किया जा रहा है जैसे कृष्ण विवर से उत्पन्न सृष्टि पुनः कृष्ण विवर में ही समाहित हो रही है अर्थात् शून्य या पूर्ण से उत्पन्न सृष्टि पुनः पूर्ण या शून्य में लीन होने जा रही है। असान की स्थिरता, प्राणायाम से प्राप्त प्राणिक एकाग्रता अभ्यासी के चित्त को उत्तरोत्तर प्रत्याहार एवं धारण हेतु प्रेरित करती है। धारणा, ध्यान समाधि संयम एवं प्रज्ञा का अभ्यास केवल्य की साधना का सुनिश्चित मार्ग है। ध्यान संस्कृति के धार्मिक आधार भिन्न हो सकते हैं किंतु अनुशासनात्मक साधन चित्त की एकाग्रता एवं निर्मलता ही है। जिसका श्रेष्ठ अभीष्ठ मात्र आनंद है अतः धारणा ध्यान एवं समाधि जैसे योगांग मात्र साधन है जबकि आनंदानुगत अनुभूति साध्य है।

विभूतिपाद –

भाष्यम् – "उक्तानि पञ्च बहिरङ्गाणि साधनानि, धारणा वक्तव्या।"[3]

भाष्यम् – "तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृश–प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्।"[4]

भाष्यम् – "ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।"[5]

भाष्यम् – "एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते, तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति।।"[6]

भाष्यम् – "तस्य संयमस्य जयात समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोकः, यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।।"[7]

इस प्रकार 'ध्यान संस्कृति' का मूल श्रेष्ठ चिंतन एवं सृजनात्मक अभिव्यक्ति में सन्निहित है अर्थात् समस्त धनात्मक एवं ऋणात्मक आवेगों एवं संवेगों पर पूर्ण नियंत्रण अपूर्ण से पूर्ण की ओर जाने का एकमात्र मार्ग 'ध्यान' है। उपदिष्ट साधन एवं परम्परायें संस्कृति को विभिन्न आवरण प्रदान करती है। समूह या समुदाय के विकास में उपरोक्त परम्परायें सहायक सिद्ध होती है किंतु मूल ध्यान तत्व की प्राप्ति का मार्ग गुरू के सानिध्य में अभ्यास एवं वैराग्य के अनुशासन से ही संभव है। सिद्धियाँ, विभूतियाँ या चमत्कार साधक को पुनः प्रज्ञा से

विमुख होकर विषय–भोग में लिप्त होने का अवसर देते है किंतु गुणी साधक उपरोक्त प्रलोभन से बचाव करते हुये ध्येय की ओर बढ़ते है और ध्यानपूर्वक समाधान प्राप्त करते है।

संदर्भ सूची

1. Impact of Dhyana and Ṅadisodhana Pranayam of students' Mental Health, Bharadwaj AJ, Ishwar, Indrani, Kulshrestha and Asim; Yoga Mimasa, Pg. 117-118, Vol. XLIII No. 2 July 2011
2. Concept of Samadhi in Buddhism, Bhat, Shripad, Yoga Mimamsa, Vol.XL III No.3: 246-253 Oct 2011
3. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।। योग सूत्र/ विभूतिपाद – 1 ।।
4. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।। योग सूत्र/ विभूतिपाद – 2 ।।
5. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। योग सूत्र/ विभूतिपाद– 3 ।।
6. त्रयमेकत्र संयमः ।। योग सूत्र/ विभूतिपाद – 4 ।।
7. तज्जयात्प्रज्ञालोकः ।। योग सूत्र/ विभूतिपाद – 5 ।।

******

बौद्ध परम्परा में शिक्षण–पद्धति

प्रवीण कुमार यादव
शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सारांश :

प्राचीन भारत में बालकों को गुरुकुल प्रणाली एवं स्वच्छ वातावरण में गृह नगर से दूर आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी। गुरुकुल प्रणाली का मुख्य उद्देश्य बालकों में ज्ञान और सत्याचरण का संचार करना होता था। बालकों को मानवीय मूल्यों के प्रकाश से अवलोकित किया जाता था जिससे कि वे अपने व्यक्तित्व का भली–भांति विकास कर सकें। आचार व व्यवहार की शिक्षा आध्यात्मिक व शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर दी जाती थी। बालक आध्यात्मिक ज्ञान तथा मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत शिक्षाएं उत्तम चरित्र वाले गुरुओं की छत्रछाया में रहकर प्राप्त करते थे। वे बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक एवं आत्मिक विकास पाकर आध्यात्मिकता के उत्कर्ष की प्राप्ति के लिए सर्वदा तत्पर रहते थे।

प्राचीन काल की शिक्षण पद्धति के बारे में विचार करें, तो हम यह कह सकते हैं कि छात्र गुरुकुल में केवल शिक्षा ही नहीं पाता था बल्कि संपूर्ण जीवन प्राप्त करता था। संस्कार, व्यवहार, कर्तव्य का बोध, विषय वस्तु का ज्ञान आदि जीवन का सर्वांगीण विकास, अध्ययन एवं शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था। शिक्षा–पद्धति के साथ–साथ यदि शिक्षा के औचित्य की बात की जाए, तो व्यक्ति और समाज के निर्माण एवं विकास के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ साधन रही है। शिक्षा राष्ट्र का दर्पण है, जिसमें वहां की संस्कृति की झलक देखी जा सकती है और शिक्षित व्यक्तियों के आचार विचार से किसी राष्ट्र के स्वरूप का मूल्यांकन किया जा सकता है।

बौद्ध शिक्षा–प्रणाली में अक्षर ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता था तथा अक्षर ज्ञान कराने के लिए मनोवैज्ञानिक विधियों का प्रयोग किया जाता था। प्रारंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम अधिक विस्तृत नहीं था। सर्वप्रथम बालक को वर्णमाला के अक्षरों का ज्ञान कराया जाता था। बालकों की शिक्षा 'सिद्धमंचग' नामक पुस्तक से आरंभ की जाती थी। बालक सर्वप्रथम इस पुस्तक का अभ्यास करते थे। 'सिद्धमंचग' का अर्थ है "पूर्णता" या "दक्षता" इस प्रकार बालकों को वर्णमाला के ज्ञान में सिद्धमंचक पुस्तक अत्यंत सहायक थी। बौद्ध कालीन शिक्षा मुख्यतः प्रत्यक्ष विषयों पर आधारित थी तथा मौखिक थी। शिक्षण विधियां सिर्फ सैद्धांतिक नहीं, व्यवहारिक ज्ञान भी देती थीं। जिनकी प्रासंगिकता आज भी परिलक्षित होती है।

मुख्य शब्द : शिक्षा, शिक्षण–विधि, पाठ–विधि, शास्त्रार्थ–विधि, उपमा–विधि, प्रश्नोत्तर–विधि, उपदेश–विधि, प्रमाण–विधि, अग्रशिष्य शिक्षा–विधि इत्यादि।

भारतीय संस्कृति की शिक्षा पद्धति विश्व में सबसे प्राचीन थी एवं भारत विश्व शिक्षा की राजधानी थी। ऋग्वैदिक काल से ही विश्व को ज्ञान से श्रेष्ठ बनाना ही भारतीय शिक्षा का ध्येय वाक्य रहा है। वैदिक गुरुकुलों से लेकर तक्षशिला, नालन्दा, वल्लभी, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी, मिथिला आदि विश्वविद्यालयों तक प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति की अविछिन्न परम्परा पायी जाती है। विश्वभर के छात्रों ने यहां शिक्षा प्राप्त की एवं भारतीय ज्ञान के प्रकाश को विश्व भर में फैलाया। बौद्ध परम्परा में शिक्षण पद्धतियों की बात की जाए तो बौद्ध ग्रंथों में विभिन्न शिक्षण–विधियों का उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर उनके निम्न भेद किए गए हैं–

(1) पाठ–विधि, (2) शास्त्रार्थ–विधि, (3) उपमा–विधि, (4) प्रश्नोत्तर–विधि, (5)उपदेश–विधि, (6) प्रमाण–विधि, (7) स्वाध्याय–विधि (8) अग्रशिष्य शिक्षा–विधि इत्यादि।

पाठ–विधि :

पाठ–विधि के द्वारा बालक के आरंभिक शिक्षा की नींव डाली जाती थी। लेखन एवं वाचन के द्वारा अंक एवं वर्णमाला का अभ्यास करवाया जाता था। इस विधि में गुरु बालक को चंदन की पट्टिका पर लिपि अर्थात

वर्णमाला, अंक आदि लिखना सिखाते थे। 'ललितविस्तर'[1] में बोधिसत्व के चंदन की पट्टिका पर संख्या, लिपि, गणना आदि सीखने का वर्णन आया है। इत्सिंग के अनुसार वर्णमाला में चालीस अक्षर थे।

शास्त्रार्थ–विधि :

इस विधि का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। वाद–विवाद, खंडन–मंडन इस विधि के अंग हैं। इस विधि में तथ्य एक ही होता है, परंतु उसकी प्राप्ति के लिए पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष विभिन्न तर्कों एवं युक्तियों का सहारा लेते हैं।

'विनयपिटक'[3] में चार प्रकार के अधिकरण का उल्लेख मिलता है जिससे शास्त्रार्थ– विधि का स्वरूप निर्धारित होता है–

(1) विवादाधिकरण– विवादित विषय के संबंध में निर्णय करना विवादाधिकरण है।

(2) अनुवादाधिकरण– शास्त्रार्थ के समय किसी विषय पर एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष को नियम के उल्लंघन का दोषी ठहराना अनुवादाधिकरण है।

(3) आपत्ताधिकरण– भिक्षुद्वारा आचार संबंधी सिद्धांत का जान–बूझकर उल्लंघन करना आपत्ताधिकरण है।

(4) किच्चाधिकरण– संघ संबंधी नियम पर विचार करना किच्चाधिकरण कहलाता है।

बौद्ध ग्रंथ में किसी सिद्धांत को शास्त्रार्थ के निमित्त प्रतिपादित करने को अनुलोम तथा प्रतिपक्षी के उत्तर की संज्ञा को प्रतिकर्म (पटिकम्म) कहा गया है। इसी तरह प्रतिपक्ष के पराजय को निग्रह (निग्गह), प्रतिपक्ष के हेतु का उसी के सिद्धांत में प्रयोग करने को उपनय तथा अंतिम सिद्धांत को निगमन कहा गया है।[4]

उपमा–विधि : उपमा–विधि को उदाहरण विधि भी कहा जा सकता है। इस शैली का प्रयोग कथ्य विषय को और स्पष्ट करने के लिए किया जाता था। भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायियों ने इस विधि का खुलकर प्रयोग किया था। 'मिलिन्दपन्ह' में नागसेन ने राजा मिलिन्द के प्रश्नों का उत्तर विभिन्न उपमाओं के माध्यम से दिया है।[5] इस विधि के द्वारा गुरु विषय को सरलतम ढंग से हृदयंगम करने योग्य तथा कर्णप्रिय बनाते थे।[6] जिससे शिक्षार्थी आसानी से तथ्य को समझ सके।

प्रश्नोत्तर–विधि :

इस विधि में गुरु और शिष्य दोनों एक दूसरे से प्रश्न करते थे तथा एक–दूसरे के प्रश्नों का उत्तर देते थे। 'कथावस्तु' एवं 'मिलिन्दपन्ह' में इस विधि का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में चार प्रकार के प्रश्नोत्तर शैली का निरूपण है।[7]

(1) एकांशव्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर सरल रूप से दिया जाता है वह एकांशव्याकरणीय है, जैसे – प्रश्न– क्या प्राणी जो उत्पन्न हुआ है, वह मरेगा? उत्तर–हां।

(2) विभज्यव्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है वह विभज्यव्याकरणीय है, जैसे– क्या मृत्यु के बाद प्रत्येक प्राणी जन्म लेता है? उत्तर–क्लेश से विमुक्त प्राणी जन्म नहीं लेता और क्लेशयुक्त प्राणी जन्म लेता है।

(3) प्रतिपृच्छाव्याकरणीय – जिस प्रश्न का उत्तर एक दूसरा प्रश्न पूछ कर दिया जाता है वह प्रतिपृच्छाव्याकरणीय है, जैसे– क्या मनुष्य उत्तम है या अधम? इसका उत्तर देने के लिए पूछना पड़ेगा कि किसके संबंध में? यदि प्रश्न पशुओं के संबंध में है तो उसका उत्तर होगा– मनुष्य उनसे उत्तम है। यदि इस प्रश्न का संबंध देवताओं से है तो वह उनसे अधम है।

(4) स्थापनीय – जिस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल छोड़ देने से ही दिया जाता है, जैसे– क्या पंचस्कंध तथा जीवित प्राणी (सत्व) एक ही है? इस प्रश्न का उत्तर छोड़ देने में ही दिया जा सकता है क्योंकि बौद्ध परम्परा के अनुसार सत्व कोई है ही नहीं।

इन चारों प्रकार को जान लेने वाला दुर्विजय, गंभीर, अनाक्रमणीय, अर्थ–अनर्थ का जानकार और पंडित होता है।[8]

उपदेश विधि :

इस विधि में गुरु–शिष्य को व्याख्यान द्वारा शिक्षा प्रदान करते थे। वर्तमान में भी यह विधि बहुत लोकप्रिय है। स्वयं भगवान बुद्ध ने उपदेश–विधि के द्वारा सर्वप्रथम सारनाथ में अपने पांच शिष्यों को शिक्षा दी थी। उपदेश देना कोई बंधन नहीं है। एक बार भगवान बुद्ध से शक नामक एक यक्ष ने कहा कि जिसकी सभी गांठें कट गई हों, स्मृतिमान् और विमुक्त हुए आप श्रमण को यह अच्छा नहीं लगता कि दूसरों को उपदेश देते रहें। भगवान ने कहा–

शक! किसी तरह भी किसी का संवास हो जाता है,
तो ज्ञानी पुरुष के मन में उसके प्रति अनुकंपा हो जाती है,
प्रसन्न मन से जो दूसरे को उपदेश देता है,
उससे वह बंधन में नहीं पड़ता, अपनी अनुकंपा अपने से पैदा होती है।[9]

अर्थात् उपदेश देने से मन को शांति मिलती है तथा वह बंधन में नहीं पड़ता है। विनयपिटक में कहा गया है कि शिष्य को उपदेश ग्रहण करना चाहिए या स्वयं उपदेश करे या दूसरे से इसके लिए प्रार्थना करे।[10]

प्रमाण–विधि :

अज्ञात अर्थों को प्रमाण–विधि के द्वारा प्रकाशित किया जाता था। प्रमाण को परिभाषित करते हुए 'प्रमाणवार्तिक'[11] में कहा गया है– प्रमाण वह ज्ञान है जो अज्ञात अर्थ को प्रकाशित करता है और वस्तुस्थिति के विरुद्ध कभी नहीं जाता, वह अविसंवादी होता है। प्रमाण तथा वस्तुस्थिति में किसी प्रकार विसंवाद या असामंजस्य नहीं होता। जो ज्ञान कल्पना के ऊपर अवलंबित रहता है वह विसंवादी होता है तथा जो ज्ञान अर्थ–क्रिया के ऊपर अवलंबित रहता है वह अविसंवादी होता है।[12]

प्रमाण के दो भेद हैं– (1) स्वलक्षण अर्थात् प्रत्यक्ष, (2) सामान्यलक्षण अर्थात् अनुमान। प्रत्यक्ष एवं अनुमान दोनों ही ज्ञान अविसंवादक होने से प्रमाण हैं। अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त स्वलक्षण को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष स्वतः अविसंवादक है जबकि अनुमान की अविसंवादकता उसके द्वारा स्वलक्षण की प्राप्ति कराए जाने पर निर्भर करती है। यद्यपि धर्मकीर्ति ने अनुमान को भ्रांत ज्ञान माना है[13] तथापि सामान्यलक्षण विषयक अनुमान से अर्थक्रियासमर्थ स्वलक्षण की प्राप्ति होने से उसे अविसंवादक माना है।

प्रत्यक्ष :

वह ज्ञान जो कल्पना से रहित और अभ्रांत हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के चार भेद हैं–

(1) इंद्रिय प्रत्यक्ष, (2) मानस प्रत्यक्ष, (3) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, और (4) योगजप्रत्यक्ष।

(1) इंद्रिय प्रत्यक्ष– इंद्रिय द्वारा जो कल्पनारहित और अभ्रांतज्ञान प्राप्त होता है वह इंद्रिय प्रत्यक्ष है। इसे परिभाषित करते हुए धर्मकीर्ति ने कहा है– सभी ओर से चिंतन अथवा विकल्प को समेटकर शांत चित्त से युक्त पुरुष चक्षु से रूप को देखता है तब इंद्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[14]

(2) मानस प्रत्यक्ष– इंद्रिय ज्ञान के विषय को समनन्तर प्रत्यय बनाकर जो मन में उत्पन्न होता है वही मानस प्रत्यक्ष है।[15] जिस कारण से पूर्व ज्ञान का उद्‌बोध होता है उस कारण को 'समनन्तरप्रत्यय' कहते हैं। इस ज्ञान के तीन स्तर होते हैं– (क) यह ज्ञान इंद्रिय ज्ञान के अनंतर उत्पन्न होता है, (ख) इंद्रिय ज्ञान के विषय क्षण के अनंतर उत्पन्न सजातीय द्वितीय क्षण इसका विषय बनता है और (ग) इंद्रिय विज्ञान तथा द्वितीय–क्षण विषय के द्वारा एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है।

(3) स्वसंवेदन प्रत्यक्ष– समस्त चित्त तथा चैत्त पदार्थों का आत्मसंवेदन या स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है।[16] यहां चित्त का अभिप्राय ज्ञान से है जो अर्थमात्र का ग्राहक होता है तथा चित्त में प्रकट होने वाली सुख–दुःख आदि रूप विभिन्न अवस्थाएं चैत्त हैं। चित्त और चैत्तों का ज्ञान होना स्वसंवेदन है।

(4) योगज प्रत्यक्ष– यथार्थ या भूतार्थ का पुनः पुनः चिंतन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे योगज प्रत्यक्ष कहते हैं।[17] दूसरे शब्दों में जब यथार्थ तत्त्वों के चिंतन का प्रकर्ष हो जाता है तब योगज प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकट होता है।[18]

अनुमान :

किसी संबंधी धर्म से धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है, वह अनुमान है।[19] अनुमान के दो भेद हैं– (1) स्वार्थानुमान, और (2) परार्थानुमान। धर्मकीर्ति के अनुसार स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान का भेद इतना प्रबल है कि अनुमान की कोइ भी ऐसी सामान्य परिभाषा सम्भव नहीं जिसमें स्वार्थानुमान और परार्थानुमान दोनों साथ–साथ समाहित हो सकें। स्वार्थानुमान का प्रयोग किसी निर्णय पर पहुंचने के लिए किया जाता है और परार्थानुमान का प्रयोग किसी दूसरे को समझाने के लिए किया जाता है।

(1) स्वार्थानुमान– जिस अनुमान द्वारा प्रमाता स्वयं अनुमेय अर्थ का ज्ञान करता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है।[20] धर्मकीर्ति के अनुसार स्वार्थानुमान एक आन्तरिक प्रक्रिया है जो स्वयं ज्ञाता के अन्तर्मन में स्वयं के विषय बोध के लिए सम्पन्न होती है।

(2) परार्थानुमान– स्वार्थानुमान के द्वारा निश्चित अर्थ का जब हेतु एवं दृष्टांत के द्वारा अन्य की प्रतिपत्ति के लिए कथन किया जाता है तो वह परार्थानुमान कहलाता है।[21] परार्थानुमान शब्दबद्ध होता है क्योंकि परार्थानुमान से प्राप्त ज्ञान द्वारा दूसरों को विषय बोध कराया जाता है। इस बोध के लिए अभिव्यक्ति की आवश्यकता है जो अभिव्यक्ति शब्द के अभाव में सम्भव नहीं, अतः परार्थानुमान शब्दमूलक है।[22]

स्वाध्याय–विधि :

बौद्ध शिक्षण–प्रणाली में स्वाध्याय पर विशेष बल दिया गया है। स्वाध्याय का अर्थ होता है– आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अध्ययन करना। स्वाध्याय से चित्त शांत रहता है, मन को संतोष प्राप्त होता है तथा बाह्य जगत में आदर और प्रतिष्ठा मिलती है। 'संयुक्तनिकाय' में वर्णित है– 'एक समय कोई भिक्षु कौशल के वनखंड में विहार करता था। उस समय वह भिक्षु पहले स्वाध्याय में लगा रहता था– उत्सुकता रहित हो चुपचाप अलग बैठा रहता था। तब उस वन में रहने वाले देवता उस भिक्षु के धर्मपठन को न सुनकर भिक्षु के पास आए और बोले–

भिक्षु! क्यों आप उन धर्म पदों को,
भिक्षुओं से मिलकर नहीं पढ़ा करते हैं?
धर्म को पढ़कर मन में संतोष होता है,
बाहरी संसार में भी उसकी बड़ी बड़ाई होती है।

भिक्षु बोला–

पहले धर्म पदों को पढ़ने की ओर मन बढ़ता था,
जब तक वैराग्य नहीं हुआ,
जब पूरा वैराग्य चला आया,
तो संत लोग देखे–सुने आदि पदार्थों को
जानकर त्याग कर देना कहते हैं।[23]

स्वाध्याय करने से मन की शांति के साथ–साथ इस दुःखमय संसार के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न होती है। 'जातक' में एक आचार्य के बारे में वर्णन आया है कि पहले तो वे ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर वेद पढ़ते और पढ़ाते थे। प्रथम आश्रम का त्याग करके गृहस्थ आश्रम के चक्कर में फंसे। स्वाध्याय की गड़बड़ी पैदा हो गई और वेदों का तत्त्वार्थ उन्हें अरुचिकर लगने लगा। वे भगवान् बुद्ध की सेवा में अपनी व्यथा सुनाने आए। भगवान् ने उन्हें फिर से अरण्यवासी होने की सलाह दी। गृहस्थ आश्रम में रहते हुए वे स्वस्थचित्त से वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे और बिना स्वाध्याय किये तत्त्वार्थ का बोध असंभव था।[24] अतः स्वाध्याय अपने आप में एक तप है जिसके द्वारा इंद्रियां संयमित रहती हैं तथा ज्ञान–विज्ञान का विकास होता है और शिक्षार्थी अपने कार्य पथ पर अग्रसर होते हैं।

अग्रशिष्य शिक्षा–विधि :

अग्रशिष्य शिक्षा–विधि में शिक्षा केन्द्रों के योग्य और अनुभवी छात्रों से शिक्षण कार्य में सहायता ली जाती थी। सुयोग्य एवं वरिष्ठ विद्यार्थी जहां एक ओर कनिष्ठ छात्रों को अध्यापन का कार्य करते थे वहीं दूसरी ओर शिक्षालयों का निरीक्षण करते थे। उच्च कक्षाओं के बुद्धिमान, विद्वान छात्रों की सहायता से जहां नये विद्यार्थियों की शिक्षा की देखभाल में आचार्यों को सरलता हो जाती थी, वहीं आलसी, सुस्त एवं मन्दबुद्धि बालकों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। वल्लभी के विद्यार्थियों के सम्बंध में इत्सिंग ने लिखा है कि वे दो तीन वर्ष तक अपने आचार्यों से पढने तथा अन्य विद्यार्थियों को पढाने में बिताते थे।[25] कुरु के राजकुमार सुतसोम जो तक्षशिला के बुद्धतर ब्रह्मचारी थे, काशी के युवराज को पढाते थे।[26] इन अग्रशिष्यों का विद्यालयों में अत्यधिक सम्मान होता था। आपस्तम्भ का कहना था कि ऐसे विद्यार्थियों का, जिनको वह बुद्धतर ब्रह्मचारी कहते हैं, सम्मान आचार्य के सदृश होना चाहिए।[27] अग्रशिष्य शिक्षा–विधि ने विद्यार्थियों में अध्यापक का गुण उत्पन्न कर दिया, कहा जा सकता है कि इस विधि द्वारा शिष्यों का अध्यापन–प्रशिक्षण प्रारम्भ हो जाता है जिससे सुयोग्य आचार्यों की पंक्ति तैयार हो जाती थी। इस प्रकार अग्रशिष्य शिक्षा–विधि छात्र तथा विद्यालयों के लिए वरदान थी। प्रतिभाशाली छात्र को अध्यापन का अवसर प्रदान करने से छात्र अपने विषय में दक्ष हो जाता था तथा शिक्षण संस्था को एक सुयोग्य निःशुल्क शिक्षक की सेवा मिल जाती थी। इससे आचार्यों को भी शिक्षालय के विकास के लिए अन्य योजनाएं बनाने का समय मिल जाता था।

उपरोक्त विवरणों से हमें यह विदित होता है कि बौद्ध परम्परा में शिक्षण–पद्धति अत्यंत विकसित एवं सुनियोजित थी। जिसके माध्यम से शिक्षा व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाया जाता था। जिसकी प्रासंगिकता एवं महत्ता वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी महसूस होती है। इसमें वर्णित शिक्षण–विधियां जैसे–पाठ–विधि, उपमा–विधि, प्रश्नोत्तर–विधि, उपदेश–विधि, प्रमाण–विधि, स्वाध्याय विधि एवं अग्रशिष्य शिक्षा विधि अलग–अलग संदर्भ में प्रयुक्त होती थी, जिनमें से अधिकांश शिक्षण विधियां आज भी प्रचलित हैं एवं उनकी अपनी–अपनी प्रासंगिकताएं भी मालूम होती हैं, इस प्रकार बौद्ध शिक्षण–पद्धति भारतीय समाज को एक अमूल्य देन है।

सन्दर्भ–सूची :

1. 'ललितविस्तार' (हि०अनु०) अ० 10,पृ०–249 तथा लेफमैन, 'ललितविस्तर', 125/7
2. 'इत्सिंग रेकर्ड', पृ० 170–174.
3. 'विनयपिटक' के पंचम खण्ड(डॉ ओल्डनवर्ग संस्करण) के 9–13 अध्याय, पाली टेक्स्ट सोसाइटीए संस्करण उद्धृत, 'बौद्धदर्शन मीमांसा', पं० बलदेव उपाध्याय।
4. 'बौद्धदर्शन मीमांसा', द्वितीय संस्करण, पं० बलदेव उपाध्याय, पृ०–318
5. 'मिलिन्दपन्हपालि', ओपम्मकथापन्ह, पृ०– 256.
6. 'मिलिन्दपन्ह', बहिरकथा, गाथा 3–4.
7. 'बौद्ध दर्शन मीमांसा', पं० बलदेव उपाध्याय, पृ० –42.
8. 'अंगुत्तरनिकाय',उद्धृत 'जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास', पृ०– 399–400.
9. 'विनयपिटक', राहुल सांकृत्यायन, पृ०–146.
10. 'संयुत्तनिकाय', सक्कसुत्त, पृ०– 164.
11. प्रमाणविसंवादी ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
    अविसंवादनं शाब्देप्यभिप्रायनिवेदनात्।। 'प्रमाणवार्तिक', 2–1.
12. प्रमाण्यं व्यवहारेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्। वही०, 2/4
13. अयथाभिनिवेशेन द्वितीया भ्रान्तिरिष्यते। वही०, 2/54.
14. संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना। स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः। वही०, 2/124.
15. स्वविषयानन्तरविषयसहकारिणेन्द्रियज्ञानेन समनन्तरप्रत्ययेन जनितं तन्मनोविज्ञानम्। 'न्यायबिन्दु', 1/9.

16. सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्। वही०, 1/10
17. Buddhist Logic-Vol-2 , p-31
18. भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानं चेति। 'न्यायविन्दु', 1/11.
19. या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिधर्मिणि ज्ञायते सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्।।'प्रमाणवार्तिक', 2/62.
20. स्वस्मायिदं स्वार्थम्। 'न्यायविन्दु'(टीका), 2/2.
21. परार्थानुमानं तु स्वदृष्टार्थप्रकाशनम्। प्रमाणसमुच्चय', उद्धृत–'द्वादशारनयचक्र', भाग–1, परिशिष्ट, पृ० 125.
22. परार्थानुमानं शब्दात्मकं स्वार्थानुमानम तु ज्ञानात्मकम्–न्यायविंदुटीका, 2/1.
23. 'संयुक्तनिकाय'(अनु०), भाग–1,पृ० 161.
24. 'जातककालीन भारतीय संस्कृति', पृ० 100.
25. इत्सिंग रिकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन एज प्रेक्टाइज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलय आर्किमिलैगो तथा बसु का अंग्रेजी अनुवाद, बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस इन इण्डिया पृ0 171–72.
26. सुख विहारी जातक संख्या–10.
27. आपस्तम्भ धर्म सूत्र पृष्ठ 2727

******

वैदिक युग में शिक्षा

डॉ. नेहा शाक्य
अतिथि विद्वान
शासकीय मानकुंवर बाई कला एवं वाणिज्य
स्वशासी महिला महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)

धर्म और धार्मिक मान्यतायें भारतीय शिक्षा के पीछे हजारों सालों की शैक्षिक तथा सांस्कृतिक परंपरा का आधार है।वैदिक युग में शिक्षा का आधार क्रियाएं थी। समस्त जीवन धर्म से चलायमान था।वैदिक शिक्षा का प्रमुख ऐतिहासिक साक्ष्य वेद हैं। वेद शब्द का अर्थ है–ज्ञान। ज्ञान जो वेदों में सुरक्षित है तथा जो उस युग में प्रयोग किया जाता था।यदि वेद ना होते तो संसार के मनुष्यों को यह ज्ञान कदापि न होता कि मनुष्य क्या है? यह संसार क्यों कब और किसने बनाया, मनुष्य जीवन का उद्देश्य क्या है?और इसकी प्राप्ति के साधन क्या–क्या है? वैदिककालीन शिक्षा न तो पुस्तकीय ज्ञान में विश्वास रखती थी और न ही जीवकोपार्जन का साधन थी, यह तो प्रमुख रूप से नैतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान का सोपान थी।उस समय की शिक्षा का अर्थ था कि व्यक्ति को इस प्रकार से आत्म प्रकाशित किया जाय कि उसका सर्वांगीण विकास हो सके। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि शिक्षा प्राप्त करने के साधन थे। वेद जो लिखित रूप से संकलित नही किये गए केवल कण्ठस्थ ही कराए जाते थे, श्रुति कहलाये। इस प्रकार वैदिक साहित्य में शिक्षा शब्द का प्रयोग विद्या ज्ञान तथा विनय आदि अर्थों में किया जाता था। ऋग्वेद जो कि सबसे प्राचीन वेद है उसके शिक्षाग्रन्थ उव्वटभाष्य में कहा गया है कि –

शिक्षा–छंदो–व्याकरणे सामान्येनोक्तलक्षणम्, ।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्र प्रयोजनम्, ।।[1]

आचार्य उव्वट के अनुसार शिक्षा छन्द और व्याकरण द्वारा सामान्य रूप से जिन नियमों का वर्णन कर दिया जाता है वे ही नियम उस वैदिकी शाखा में प्रवर्तित होंगे यही निरूपण करना प्रातिशाख्य ग्रन्थ का मूलभूत प्रयोजन है।

वेदों में आदर्श शिक्षा को महत्व देकर कई प्रकार के वाक्यों का वर्णन मिलता है जैसे "सत्यं वद"(सच बोलो) धर्मं चर (धर्म का पालन करो) अतिथि देवो भवः, मातृ देवो भवः, पितृ देवो भवः इस प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि – "सुगा ऋतस्य पंथा"[2] अर्थात सत्य का मार्ग सुख से गमन करने योग्य है। आगे उसी में कहा गया है कि भद्रं – भद्रं .तमस्मासु धेहि अर्थात, हे प्रभु हम लोगों में सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प ज्ञान और कर्म को धारण कराओ। वैदिक शिक्षा का तात्पर्य विद्या ज्ञान और विनय से था। ऋग्वेद के दसवें मंडल में बताया गया है कि –'विद्या का उद्देश्य वेदों तथा कर्मकाण्ड के ज्ञान के अतिरिक्त समाज में सम्मान प्राप्त करना सभा–समिति में बोलने में सक्षम होना, उचित–अनुचित का बोध था। स्पष्ट है कि उस समय शिक्षा का उद्देश्य व्यावहारिक था।[3] बाद में उपनिषद काल में ज्ञान का उद्देश्य अधिक सूक्ष्म हो गया। विद्या को दो भागों में बांटा गया – पराविद्या और अपराविद्या। अपराविद्या में प्रायःसमस्त पुस्तकीय तथा व्यावहारिक ज्ञान आ जाता है केवल ब्रह्मविद्या को पराविद्या माना गया। पराविद्या श्रेष्ठ मानी गयी क्योंकि उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष शिक्षा का अंतिम उद्देश्य हो गया लेकिन यह लक्ष्य आदर्श ही रहा होगा न कि व्यावहारिक क्योंकि मोक्ष के लिए साध्य नही हो सकता।

वैदिक युग में विद्यार्थी माता–पिता से अलग रहकर गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त किया करते थे। गुरु मौखिक प्रवचन द्वारा शिक्षा प्रदान किया करते थे और विद्यार्थी उनका मनन एवं चिंतन किया करते थे। विद्यार्थियों के कानों में सदैव कल्याणकारी वचन ही डाले जाते थे ताकि वे सबके मंगल की बात सोचें। यजुर्वेद में कहा गया है कि

–"भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम"[4] अर्थात हम कानों से सदा भद्र मंगलकारी वचन सुने । विद्यार्थी जीवन में सभी के अंदर अनंत कामनाये जाग्रत होती है इसलिए" अस्माकं सन्तवाशिषःसत्या"[5] कहकर कामनाओं को नियंत्रित करने की शिक्षा दी जाती थी। गुरुकुल में शांत व स्वच्छ वातावरण होता था। गुरु उनके आध्यात्मिक पिता माने जाते थे। गुरुकुल में प्राथमिक शिक्षा के उपरांत उच्च शिक्षा के लिए परिषद का गठन किया जाता था जहां उन्हें दर्शन, समाज राजनीति, तर्क, व्याकरण, ज्योतिष, नृत्य, कला, संगीत आदि की जानकारी भी दी जाती थी। वैदिक युग में विद्यार्थियों को आत्म अनुशासित रहने की शिक्षा दी जाती थी अथर्ववेद में कहा गया है कि –"सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया"[6] अर्थात समान गति ,समान कर्म, समान ज्ञान, और समान नियम वाले बनकर परस्पर कल्याणी वाणी से बोलो। चूंकि आत्म–अनुशासन में वाणी का विशेष महत्व होता है इसलिए अथर्ववेद में "मधुमती वाचमुदेयम"[7] अर्थात में मीठी वाणी बोलूं कहकर वाणी को मधुर करने की शिक्षा दी गई है। उस युग में यदि हम स्त्री शिक्षा की बात करें तो वैदिक युग में स्त्री – पुरूष में शिक्षा को लेकर कोई भेदभाव नही था सभी को शिक्षा के समान अधिकार प्राप्त थे। वेदों में" स्त्रीणां भूषणं लज्जा" अर्थात स्त्रियों की शोभा लज्जा है एवं "न परस्त्रियमुपेयात, अर्थात परस्त्री का संग नही करना चाहिए इन वाक्यों से ये सिद्ध होता है कि दोनों को चाहे वो स्त्री हो या पुरुष दोनों को ही संयमित एवं मर्यादित रहना चाहिए। वैदिक शिक्षा के पाठ्यक्रम पर चर्चा करे तो उसमें एक व्यवस्थित क्रम देखने को मिलता है जैसे – चार संहिताएं

1. ऋक, यजु, साम, अथर्व
2. ब्राह्मण
3. आरण्यक
4. उपनिषद
5. छः वेदांग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द एवं ज्योतिष)

पहले चार को मिलाकर वेद बने जो क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद कहलाये। प्रत्येक वेद में एक संहिता और एक या अधिक ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद है। उपनिषद दर्शन के ग्रंथ है और उन्हें वेदांत भी कहा गया है। इतना व्यवस्थित पाठ्यक्रम उस समय के ऋषियों मुनियों की तपस्या व अनुभव का फल है। अच्छाई को सदैव अपना कर बुराई से दूर रहने की शिक्षा भी कठोपनिषद में दी गयी उसमे कहा गया कि – "जिस मनुष्य ने बुरे आचरण का त्याग नही कर दिया जिसका मन शांत नहीं है जिसका चित्त एकाग्र नही है तथा जिसने मन बुद्धि को वश में नही किया है उसे प्रज्ञान सूक्ष्म बुद्धि द्वारा परमात्मा की प्राप्ति नही हो सकती।[8] कहा जाता है कि धर्म जीवन का संविधान होता है इसलिए हमारे वैदिक युग में शिक्षा में धार्मिक ग्रंथों का अनुसरण करने की बात कही गयी है क्योंकि उसी से ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है। मुण्डकोपनिषद में इस बात का उल्लेख है कि –" भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन .दृष्टे परावरे।।[9] अर्थात, कार्य–कारणरूप परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की अविद्या रूपी ग्रंथि टूट जाती है समस्त संशय –संदेह कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। सरस्वतीरहस्य उपनिषद के शांतिपाठ में "उत् त्वः" कहकर ये बतलाया गया है कि 'जिनको ब्रह्मविद्यारूप से जानकर योगी सारे बंधनो को नष्ट कर डालते हैं और पूर्ण मार्ग के परम पद को प्राप्त होते हैं वे सरस्वती देवी मेरी रक्षा करें"। अतः स्पस्ट है कि वैदिक शिक्षा का लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार करना था। पुरुषार्थ के चार भागों में धर्म एवं मोक्ष का ज्यादा महत्व था। उस समय लोक के बारे में ज्यादा चर्चा न कर परलोक व आध्यात्म पर ज्यादा बल दिया जाता था। सच्ची शिक्षा उस समय प्रारंभ होती है जब मनुष्य बाहरी सहारों को छोड़कर अपनी अंतरंग अनंतता की ओर ध्यान देता है। इउस समय मानो वह मौलिक ज्ञान का एक स्वाभाविक श्रोत बन जाता है। जगद्गुरु भगवान आद्य शंकराचार्य की बात करें तो उनके अनुसार शिक्षा के हजारों भेद किसी भी प्रकार की भी प्रवत्ति में प्रायोजक तत्वों के इष्ट साधन ज्ञान या प्रयत्न को शिक्षा शिक्षण या प्रशिक्षण कहते हैं। विभिन्न प्रवत्ति प्रयोजकेस्ट साधन ज्ञाना खर्यांशक्षायाः प्रयत्नः शिक्षण कथ्यते। इसका तात्पर्य है कि साधन व साध्य पवित्र हो व उसमे समर्पण का भाव रख हम ब्रह्म का

साक्षात्कार कर सकते हैं इसके लिए वैदिक युग मे विविध देवताओं की पूजा की जाती थी जैसे– इंद्र, वरुण, यम, मित्र इन्हें संतुष्ट कर अनेक विधि–विधानों का अनुशरण किया जाता था। संसार का सृष्टा पालक व संहारकर्ता एक ईश्वर की कल्पना संभवतः बाद में विकसित हुई परंतु प्रारंभ में प्रकृति की अनेक शक्तियों की उपासना की जाती थी। कुल मिलाकर आत्मिक उन्नति का प्रयास एवं केवल एहलोकिक अभ्युदय से संतुष्ट न हो निःश्रेयस की प्राप्ति का मार्ग वैदिक युग में बताया जाता था।

वैदिक युग मे जिस प्रकार मनुष्य की आयु सौ वर्ष मान उसके जीवन को चार आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) मे विभक्त किया गया है वैसे भी मानव समाज भी चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र) इन चार भागों मे विभक्त किया गया। भौतिक सुख साधनों के साथ परोपकार व आध्यात्मिक –सुख का प्रयत्न वैदिक युग की विशेषता थी। वैदिक युग में जिस शिक्षा व्यवस्था का निर्माण किया गया था वह समकालीन विश्व की शिक्षा व्यवस्था से समुन्नत व उत्कृष्ट थी लेकिन कालांतर में वैदिक शिक्षा का ह्रास हुआ। विदेशियों ने यहाँ की शिक्षा व्यवस्था को उस अनुपात में विकसित नही किया जिस अनुपात में होना चाहिये था। अपने संक्रमण काल मे भारतीय शिक्षा को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ा। भारत की शिक्षा आध्यात्मिकता पर आधारित थी शिक्षा मुक्ति एवं आत्मबोध के साधन के रूप में थी।यह व्यक्ति के लिए नहीं बल्कि धर्म के लिए भी थी। भारत की शिक्षा पद्धति के कारण विश्वगुरु कहलाता था। विभिन्न विद्वानों ने शिक्षा को प्रकाशश्रोत, अर्न्तदृष्टि, अर्न्तज्योति, ज्ञानचक्षु, और तीसरा नेत्र आदि उपमाओं से विभूषित किया है।विद्यालय गुरुकुल और आचार्य गुरुगह नामों से जाने जाते है। गुरुसेवा और ब्राह्मण व्रतधारी विद्यार्थी षडंग वेद का अध्ययन करता था। शिक्षक को गुरु और और विद्यार्थी को ब्रह्मचारी, व्रतधारी, अंतेवासी, आचार्यकुलवासी, कहा जाता था। मंत्रों के दृष्टा व साक्षात्कार ऋषि अपने अनुभव व प्रयोग से विद्यार्थी तक पहुचाते थे। स्वरों से मंत्र सजते थे। वेदमंत्र कंठस्थ किये जाते थे स्त्रियों को नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मवादिनी कहा जाता था। यज्ञों का अनुष्ठान विधि से हो इसलिए होता, उदगाता, अध्वर्यु, और ब्रह्मा की आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। प्रथम पांच वर्ष प्राथमिक शिक्षा देकर उपनयन की विधि की जाती थी। बारह वर्ष वेदाध्ययन किया जाता था तब वे स्नातक कहलाते थे। समावर्तन के अवसर पर गुरुदक्षिणा देने की प्रथा थी। काशी, तक्षशिला, नालंदा, विक्रमशिला, वल्लभी, ओदंतपुरी, जगद्दल, नदिया, मिथिला, प्रयाग, अयोध्या आदि शिक्षा के केंद्र थे। पर बाद में 1850 तक विदेशियों ने यहां आकर शिक्षा व्यवस्था को उस अनुपात में विकसित नही किया गया जिस अनुपात मे होना चाहिए था। 1853 में शिक्षा की प्रगति के लिए एक समिति बनी। 1854 में वुड के शिक्षा संदेश पत्र मे समिति के निर्णय कंपनी के पास भेजे गए। संस्कृत, अरबी, फारसी का ज्ञान आवश्यक समझा गया। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम युद्ध के बाद शिक्षा की प्रगति में बाधा आई उसकी उन्नति के लिए 1857 में कलकत्ता बम्बई, मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित हुए। आजादी के बाद राधाकृष्णन आयोग (1948–49) माध्यमिक शिक्षा आयोग 1953, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 आदि के द्वारा भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समय पर सही दिशा देने की गंभीर कोशिश की गयी।और अभी आज वर्तमान समय में 29 जुलाई 2020 को राष्ट्रीय शिक्षा नीति लागू की गई।

सारांशः– वैदिक शिक्षा प्रणाली आधुनिक भारतीय शिक्षा प्रणाली का नींव का पत्थर है। उसी के आधार पर आधुनिक शिक्षा का विकास हुआ है। सच बात तो यह है कि वैदिक कालीन शिक्षा हमारी संस्कृति पर आधारित थी और संस्कृति से हम अलग हो नही सकते आज भी शिक्षा के उद्देश्य मूलरूप से वही है जो वैदिक युग में थे। वैदिक युग की भांति हम आज भी ज्ञान–विज्ञान कौशल और तकनीकी को शिक्षा की पाठ्यचर्या में शामिल करते हैं। डॉ.एफ.ई.केई के शब्दों में कहा जा सकता है कि "महान, उद्देश्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति के लिए वैदिककालीन शिक्षा शास्त्रियों ने लिखा है जिस विशिष्ट प्रणाली का निर्माण किया था उसने बिना साम्राज्यों के उत्थान एवं पतन एवं समाज में परिवर्तनों से प्रभावित हुए इन सहस्त्रों वर्षों के उपरांत भी हमारे देश की शिक्षा की ज्योति को प्रज्जवलित रखा है। रवीन्द्रनाथ टैगोर भी कहते है– भारतीय संस्कृति का निर्माण नगरों में नही बल्कि वन प्रांतीय आश्रमों में हुआ था।

डॉ. अल्तेकर कहते है कि "वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य अनेक विषयों का साधारण ज्ञान प्रदान नहीं था। बल्कि उसका आदर्श विभिन्न क्षेत्रों में दक्ष बना देना था। अतः इससे स्पस्ट है कि –"विधेव सर्वम" अर्थात विद्या ही सब कुछ है। शिक्षा हमें वो सब देती है जो हमारे लिये कल्याणकारी हो। यजुर्वेद में कहा गया है–" तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु" अर्थात मेरा मन उत्तम संकल्पों वाला हो। मेरा भी व्यक्तिगत रूप से यही मानना है कि वैदिक युग की शिक्षा प्रणाली उस समय की संसार की श्रेष्ठतम शिक्षा प्रणाली थी। चरित्र–निर्माण समाज में मान–सम्मान विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास ईश्वर की भक्ति, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक कुशलता की उन्नति ही वैदिक शिक्षा का मूल उद्देश्य थे। और ये आज उतने ही प्रासंगिक है।

संदर्भ सूची–

1. ऋग्वेद प्रातिशाख्य भाष्य उव्वट पृ.सं.37
2. ऋग्वेद 8/31/13
3. ऋग्येद 10वां मंडल
4. यजुर्वेद 25/21
5. यजुर्वेद 2/10
6. अथर्ववेद 3/30/3
7. अथर्ववेद 16/2/2
8. कठोपनिषद 1/2/24
9. मुण्डकोपनिषद 2/2/8
10. सरस्वती रहस्योपनिषद श्लोक 9
11. डॉ. एफ. ई. केई–वैदिक शिक्षा पृ.सं 11
12. गीतांजलि –रवीन्द्रनाथ टैगोर पृ.सं 12
13. यजुर्वेद 64/1

****

जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप

अनिता यादव
दर्शन और धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारत की पहचान सदा से धर्म एवं संस्कृति ही रही है और धर्म संस्कृति का आधार है। जहाँ धर्म का सूत्र मानव का सर्वांगीण विकास करता है, वही संस्कृति मनुष्यों में सामाजिक मूल्यों का निर्माण करती है।

"वैदिकैः कर्मभिः पुण्येर्निषकादिद्विजन्मनाम्।
कार्यः शरिरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।"

धर्म और संस्कृति दोनों मानव के शरीर, आत्मा और व्यवहार के परिशोधन या परिमार्जन के आन्तरिक और बाह्य पक्षों से सम्बद्ध है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति में सहायक है। धर्म का आचरण सुसंस्कृतवान समाज निर्माण, व्यक्तित्व निर्माण हेतु अपरिहार्य है, क्योंकि मानव को उसकी वाणी, व्यवहार, बोल–चाल, उठने–बैठने, अनुशासन में रहने एवं शील आदि का सौन्दर्य ही धर्म व संस्कार प्रदान करते हैं।

'खल तव कठिन बचन सब सहऊँ।
नीति धर्म मैं जानत अहऊँ।।
उत्तम कुल पुलस्ति कर नाती।
सिव विरचि गुजेहु बहु भाँति।।

जिस प्रकार 'रावण' अत्यन्त विद्वान तथा ज्ञान सम्पन्न होने पर भी धर्म का आचरण न करने के कारण राक्षसत्व को प्राप्त किया, हेय राक्षसकोटी में ही परिगणित हुआ।

मुख्य शब्दः धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, जीव, अजीव, संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष अगार धर्म, अनगार धर्म, पंच महाव्रत, समिति, मार्दव, आर्जव, सत्य, अहिंसा, मैत्री, ज्ञान, केवल ज्ञान, इन्द्रिय निग्रह, तत्त्वार्थ, अपरिग्रह, आदि।

साहित्यावलोकन : प्रस्तुत शोध पत्र लेखन के आधार पर डॉ0 कृष्ण कुमार सिंह द्वारा विरचित पुस्तक 'जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप' जिसका प्रकाशन पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी है जिसमे जैन धर्म की व्याख्या विधिपूर्वक की गयी है। इस पुस्तक से धर्म के साधन तथा प्रकार हेतु सन्दर्भ को इस शोध पत्र प्रस्तुत किया गया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' व्याख्याकार विद्यावाचस्पति आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी महाराज जिसका प्रकाशन मुनिआयाराम सम्बोधि है जिससे रत्नत्रय की व्याख्या ली गयी है। इसी प्रकार धर्म बन्धु द्वारा धर्म का यथार्थ स्वरूप आदि पुस्तक व ग्रन्थ द्वारा सहायता ली गयी है।

प्रस्तावना : जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप, धर्म का यथार्थ स्वरूप, तत्त्वार्थ सूत्र व्याख्या, महाभारत, श्रीमद्भागवतगीता, रामायण, रामचरितामनास से आदि ग्रन्थों के माध्यम से जैन दर्शन में जैन धर्म की क्या व्याख्या है? क्या उद्देश्य है? और यह व्याख्या कितना प्रमाणिक है? और कितनी वैज्ञानिक है? आदि स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। क्योंकि जैन धर्म का केन्द्र जीव है, और सम्पूर्ण धरा की ही वास्तविकता है कि सृष्टि का केन्द्र जीव है और समस्त तत्व जीवोपयोगी है। परन्तु जैन धर्म में जीव और अजीव सभी को समान अधिकार प्राप्त है। यह इसकी विशेषता है कि तत्त्वार्थ सूत्र से अगार, अनगार धर्म की व्याख्या से प्रस्तुत होता है कि जैन धर्म में तत्वों की व्याख्या अति सूक्ष्मतम स्तर पर हुआ है, जो समाज को पंचमहाव्रत सिद्धान्त आदि से स्वस्थ्य व निरोगित होने का निश्चय करता है, और परिग्रह के प्रति आसक्ति कम करता है, जो एक उत्तम चरित्र निर्माण में सहायक है। जैन धर्म की उत्तम चरित्र निर्माण की व्याख्या अति महत्वपूर्ण है।

धर्म का स्वरूप : जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। जैन धर्म के प्रतिपादन में अनेक तीर्थंकरों ने अपना अमूल्य अवदान दिया है और धर्म के स्वरूप को प्रसारित किया है। साथ ही अन्य सम्प्रदायों द्वारा भी धर्म का प्रचार–प्रसार मानव कल्याण सन्दर्भ में किया गया है।

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचन कृतम्।
यः स्यादहिंसा सम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः।।
प्रथवा पयि भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्ताः स धर्म इति निश्चयः।।
धारणात धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृता प्रजा।
यः स्यात् धारण संयुक्तः सधर्म इति निश्चयः।।

इन श्लोको में धर्म की व्याख्या निहित है, धारण करने से धर्म कहलाता है, धर्म ही प्रजा को धारण किये हुए है। धर्म प्रवचन उन्नति के निमित्त है। जो समस्त इस लोक में तथा परलोक में प्रभवसंयुक्त है उन्नति करने वाला है, वही धर्म है। प्राणियों में अहिंसा का प्रचार हो, लोग कर दूसरे को पिड़ा न दे धर्म का प्रवचन इसी हेतु से किया गया है।सभी प्राणियों के उत्थान एवं उत्कर्ष के लिए धर्म का विधान किया गया है। जिस नियम में सभी प्राणियों का विकास या उन्नति सम्मिलित है, वही धर्म है– यह महाभारत के शान्तिपर्व राजधर्म में उल्लेखित है। और जिसमें सभी प्राणियों का धारण एवं पोषण करने वाली क्षमता हो उस नियम को तथा सभी प्राणियों के लिए जो उपाय एवं काय किए जाए वे ही धर्म है।'' ज्ञान की विभिन्न शाखा और समाज की विविध क्षेत्रों में किये गये धर्म विषयक विवेचन से भारतीय दर्शन ओत–प्रोत है। और आस्तिक व नास्तिक दर्शन सभी धर्म प्रणीत है।

महर्षि कणाद व महर्षि जैमिनी ने भी अपने ग्रन्थ के प्रथम सूत्र का प्रारम्भ धर्म की व्याख्या से किया है। कणाद मुनि का धर्म वस्तु के धर्म का उपादान करता है, और महर्षि जैमिनी का धर्म समाज धर्म का विश्लेषण करता है।

''अथातो धर्म व्याख्यास्यामः।''

''अर्थात जगत और जागतिक पदार्थों के विषय में जिज्ञासा रखने वाले विनीत छात्र अब उपस्थित है, अनन्तर इस कारण धर्म की व्याख्या करेंगे।''

''यतोभ्युदयानिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।''

''अर्थात (यतः) जिससे (अभ्युदयानिःश्रेयसिद्धिः) अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है (यः) वह (धर्मः) धर्म है।''

इसी तरह धर्म की व्याख्या के सन्दर्भ में महर्षि जैमिनी के सूत्रों में भी व्याख्या सन्दर्भित है। जैसे–

''अथातो धर्माजिज्ञासा''

अर्थात् (अथ) अनन्तर (वेद अध्ययन) के (अतः) इसलिए क्यों कि वेद अध्ययन का फल केवल अर्थ ज्ञान है, स्वर्ग नहीं, इसलिए (धर्म जिज्ञासा) धर्म को जानने की इच्छा के अनुकूल विचार प्रारम्भ किया जाता है। अर्थात् वेदअध्ययन (मीमांसादर्शनम् विधोदय) कर अनन्तर धर्म को जानने की इच्छा के अनुकूल धर्म की जिज्ञासा का विचार प्रारम्भ किया जाता है। और धर्म क्या है? के जिज्ञसा का समाधान महर्षि करते हैं। दूसरे सूत्र में चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। ''प्रेरणा जिसका लक्षण साधन एवं चिह्न है, ऐसा शास्त्र अथवा बोधित विषय धर्म है।''

धर्म के प्रकार एवं परिभाषा :

धर्म की वास्तविक परिभाषा, वास्तविक पहचान, वास्तविक स्वरूप आदि मानव सृष्टि आरम्भ से ही इस सवाल का जवाब तलास रहा है, और यह प्रक्रिया अनन्त काल तक रहेगी। क्योंकि देश, काल, परिस्थितियों के अनुरूप व्यवहार परिवर्तन होता रहा है। जिससे धर्म को निश्चित रूप से परिभाषित करना कठिन प्रतीत होता है। मानव विवेकशील होने के साथ–साथ लोभी भी है, जो अपने हित के लिए शारीरिक, सामाजिक, राजनैतिक सीमाओं को लांघता ही है, परन्तु वह प्रकृति को भी चैलेंज करता है, और उसका अतिक्रमण करता है। अतः

धर्म को किसका आधार मानकर परिभाषित किया जाय। सनातन धर्म के अनुसार चौरासी लाख प्रकार के प्राणी इस धरा पर निवास करते हैं, और मनुष्य के अलावा किसी भी प्राणी में आवश्यकता से अधिक संग्रह की प्रवृती नहीं होती है। इस आधार पर धर्म की धारणा उतनी है जितने सम्प्रदाय है, परन्तु सभी का सार एक ही है और वो है, जनकल्याण धर्म की रक्षा, धर्म का पालन, मैत्री, सद्भावना की परम्परा का विकास।

"धर्म शब्द संस्कृत भाषा के व्याकरण के अनुसार, धृ–धारणे धातु (क्रियापद) से बनता है। जिसका अर्थ पाणिनी के उणादिकोष के महर्षि दयानन्दकृत माघ में इस प्रकार किया गया है–

"ध्रियते–सुखप्राप्यते सेव्यते सः धर्मः।
पक्षपातरहितो न्यायः सत्याचारो वा।।"

अर्थात् जिस नियम के धारण करने से उत्तम सुख की प्राप्ति होती है उसको धर्म कहते हैं। पक्षपात रहित होना, न्याय करना और सत्य का आचरण करना ही धर्म कहलाता है। ऋतेने सत्यमृत साप आयन्। अर्थात् ऋत का पालन करने वाले सत्य व धर्म को जानते हैं। यज्ञेन यज्ञमपजन्त देवास्तानि धर्माणी प्रथमान्यासन्। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी धर्म को परिलक्षित किया गया है–

पृथिवी धर्मणा धृताः।
सत्येनोतमिता भूमिः।
धर्मोमनुष्यः।
धर्मो वाः अधिपतिः इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में–
"यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्, तस्मात् सत्यं
वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति, धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीष्तिः।

"जो धर्म है, वही सत्य है इसलिए जो 'सत्य' बोलता है, वह मनुष्य धर्म की ही बात करता है।"

श्रीर्वै धर्मः राज्यं वै धर्मः।

अर्थात् परिणाम पूर्वक धर्म को अर्जित करना धर्म तथा राज्य का सुव्यवस्थित रूप से संचालन करना धर्म है। इसी प्रकार डॉ0 श्रीकृष्ण कुमार सिंह ने अपनी पुस्तक "जैन दर्शन में धर्म का स्वरूप" में धर्म का प्रयोग व्यापकचार अर्थों में बताया है।

1. जैन धर्म आज्ञापालन के अर्थ में
2. जैन धर्म चरित्र के अर्थ में
3. जैन धर्म कर्तव्य के अर्थ में
4. जैन धर्म परमश्रेय के अर्थ में।

अतः भगवान महाबीर ने यह स्पष्ट रूप से आचारांग सूत्र में कहा है कि "मेरी आज्ञाओं के पालन में धर्म है।"

"धर्म का लक्षण चरित्र है।"

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने भी चरित्र को ही धर्म कहा है।

दशवैकालिक, योगशास्त्र महाभारत (कर्णपर्व) धर्म की परिभाषा– जो प्रजा को धारण करता है, अथवा जिससे समस्त प्रजा का धारण या संरक्षण होता है वही धर्म है।

और इस प्रकार अन्तिम चौथे परिभाषा के रूप में दशवैकालिक में धर्म को भावमंगल व सिद्धि (श्रेय) का कारण कहा गया है।

अतः चार अर्थों में जैन धर्म की परिभाषा से यह अभिप्रायः है, कि धर्म वही सच्चा है, जिससे किसी को दुःख न हो और जिस धर्म का आचार, विचार, समाज में व्यवहारिक व मानवीय सद्भावना से, मैत्रीयता से ओत–प्रोत हो और जैन धर्म इस प्रकार एक सच्चा धर्म है। इसलिए जैन धर्म को 'अहिंसा–धर्म, स्याद्वादधर्म, आर्हत् धर्म, निर्ग्रन्थ धर्म आदि उपनाम दिया गया है। मानव धर्म की परिधि नहीं स्वयं धर्म मानव का केन्द्र है और जैन

धर्म किसी मजहब के धर्म को नही परिभाषित करता बल्कि जैन धर्म का अर्थ मानव का स्वभाव व व्यवहार है। जिसे सम्यक्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूप में होना चाहिए। धर्म के प्रकार कृष्ण कुमार सिंह के अनुसार, "जैन धर्म में गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए सागार और अनगार दो प्रकार के धर्मों का उल्लेख है। "अगार्यनगारश्च"।

सागार धर्म – घर अगार है, और उसमें रहने वाला सागार है और जिन्होंने घर को त्याग दिया है अनगार या श्रमण है।

"दिग्देशानर्थदण्डविरति–सामायिक पौषधोपवासोपभोगपरिभोग परिमाणातिथि–संविभागव्रत सम्पन्नश्च।।"

अर्थात अगारी के सात व्रत है। दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकविरति, पौषधोपवासविरति, उपभोग–परिभोग, परिमाण, अतिथीसंविभाग। "चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से घर से सम्बन्ध रखने के परिणाम को भाव घर कहते हैं, जिसके भाव मे घर है, वह गृहस्थ है भले ही वह वन में चला जाय और जिसके भाव से घर निकल गया और वह शून्य घर या देवालय में ठहर गया है, तो वह अवगार है।"

सागार धर्म के धारण का अधिकारी :

1. न्यायपूर्वक धनोपार्जन, 2. प्रशस्त वचन, 3. आत्मा के सम्यक् दर्शन, 4. योग्य स्त्री, स्थान, मकान, 5. उचित लज्जा, 6. योग्य आधार आदि 13 गुणों को धारण करने वाला ही सागार का अधिकारी है।

अनगार धर्म : घर से आसक्ति, मोह को त्याग देना घर को त्याग देना आदि अनगार है।"सकल चारित्र के धारक अनगार साधु के अट्ठाइस मूल गुण होते हैं।

पाँच महाव्रत : अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

पाँच समितियाँ : इर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेपण, उत्सर्ग

पंचइन्द्रिय : चक्षुरीन्द्रिय, श्रोतेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्श इन्द्रिय।

छः आवश्यक : चतुर्विंशतिस्तवन, समता, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कार्योत्सर्ग (नौ बार णमोकार मन्त्र)

केशलुंचगुण, आचेलकगुण, अस्नामता, भूशयन गुण, स्थिति भेजन, अदन्तधावन, आदि भी अनगार साधु के व्रत है।जो पुरूष उपरोक्त 28 गुणों से युक्त है वह अनगार का अधिकारी है। और इसके अतिरिक्त 12 प्रकार के बर्हिग व अर्न्तग का तप संचित कर्मों के नाश के लिए करता है। इस प्रकार जितेन्द्रीय होकर कल्याण की भावना ही श्रेयस्कर और श्रेष्ठ धर्म है।

इस तरह धर्म के व्रत प्रकार का वर्णन जैन धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों में भी उपलब्ध है– जैसे चार वर्ण व्यवस्था, चार आश्रम व्यवस्था ये सनातन धर्म का आधार माना गया है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के पुरूषसूक्त में चार वर्णों की व्याख्या उपलब्ध है और "जाबाली उपनिषद्" के तीसरे खण्ड में चार आश्रम की व्याख्या प्राप्त होती है।जीव की मोक्ष सिद्धि धर्म है, धर्म 10 प्रकार का है– धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धीविधा, सत्य, आक्रोश और धर्म के आठ प्रकार का भी वर्णन है– यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धृति, क्षमा और आलोभ, धर्मराज युधिष्ठिर ने सत्यवचन को ही धर्म माना है।

"धृतिः क्षमाः दमोऽस्तेयं "शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीविधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"

धर्म के साधन : प्रत्येक धर्म मे उसकी चरमलक्ष्य प्राप्ति के साधन अवश्य होते हैं जैसे हिन्दू धर्म में मनुस्मृति में 10 धर्म साधन तथा बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग प्रशस्त किये गये हैं। उसी प्रकार जैन दर्शन में धर्म साधन रूप में मोक्ष मार्ग त्रयरत्न का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में ही उल्लेखित है। धर्मधारण हेतु धर्ममार्ग का होना अपरिहार्य है।

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।"

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र समवेत रूप से मोक्ष का मार्ग है, साधन है। "सम्यक शब्द सब में लगा है जिसका अर्थ 'सम्पूर्ण' है, जिसमें एक भी गुण की हीनता न हो और वह पूरा का पूरा हमारे लिए पर्याप्त हो तभी हम पूर्ण बन सकते हैं।"

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्

↓

सम्यग्दर्शन

↓

तत्त्व + अर्थ + श्रद्धा

↓

भाव + भाववान (पदार्थ) + प्रतीति

अर्थात् शाश्वत तत्त्वों पर श्रद्धा और वह भी सम्यकत्व के साथ होना सम्यग्दर्शन है।"
सम्यग्दर्शन की व्याख्या में

"तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसेणं।
भावेणं सद्‌दहंतस्य, सम्मतं तं वियाहियं।।"

जीवों में सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ या नहीं इसकी पहचान पायलक्षण से की जा सकती है।

प्रशम– रागादि तीव्रता का न होना।
संवेग– सांसारिक बंधनों का भय।
निर्वेद– विषयों में आसक्ति का कम होना।
अनुकम्पा– मित्रता व दया भाव रखना।
आस्तिक्य – जीवादि पदार्थों को जिस रूप में बतलाया गया है। उसी रूप में मानना।

सम्यग्दर्शन हेतु सात तत्वों का ज्ञान श्रद्धापूर्वक आवश्यक है।
जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष स्वरूप तत्त्वों का यथार्थ दर्शन सम्यग्दर्शन है।

जीवाजीवास्त्रवबन्धसंबरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।

और साप्त तत्त्वों की व्याख्या रत्नकरण्डश्रावकाचार में इस प्रकार है–

जीवोजीवास्त्रवो बन्धः संवरो निर्जरा तथा
मोक्षश्च सप्त सत्त्वार्थाः मोक्षमार्गेषिणामिमे।।

उत्तराध्ययन सूत्र में सात तत्त्वों का वर्णन नौ सद्‌भूत पदार्थों रूप में किया गया है–

जीवाजीवय बंधो च पुण्णं पावासवो तहा। संवरो निज्जरा मोम्खो सन्तोए तहिया नव।।`

अर्थात जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नौ पदार्थ या सात तत्व है। क्योंकि पुण्य और पाप दो पदार्थों को आश्रव व बन्ध में गर्भित कर लिया गया है।

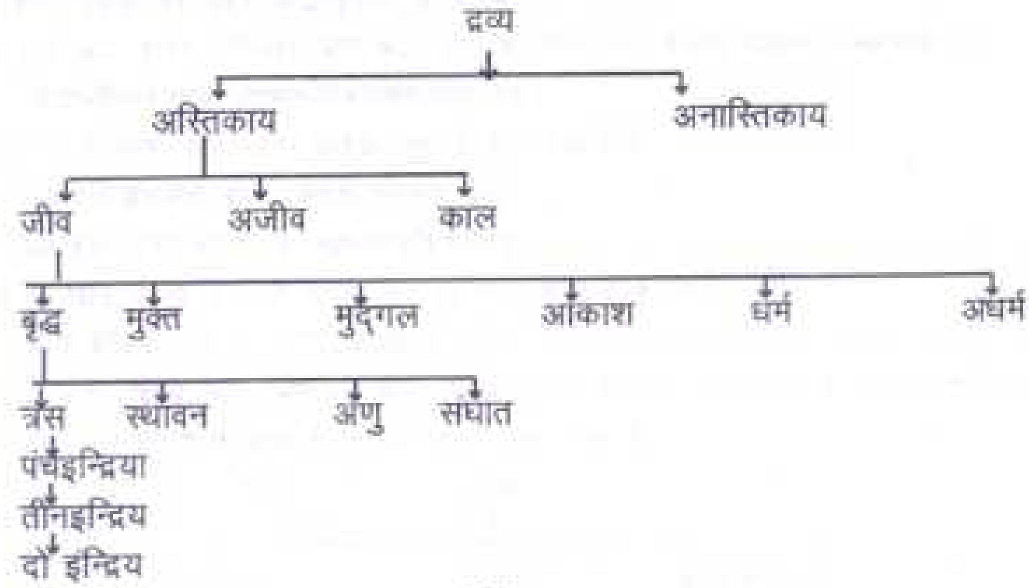

आस्त्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष इनका वर्णन जैन दर्शन जीव के कर्म बन्ध, संयोग–वियोग, दिखाने के लिए करता है।

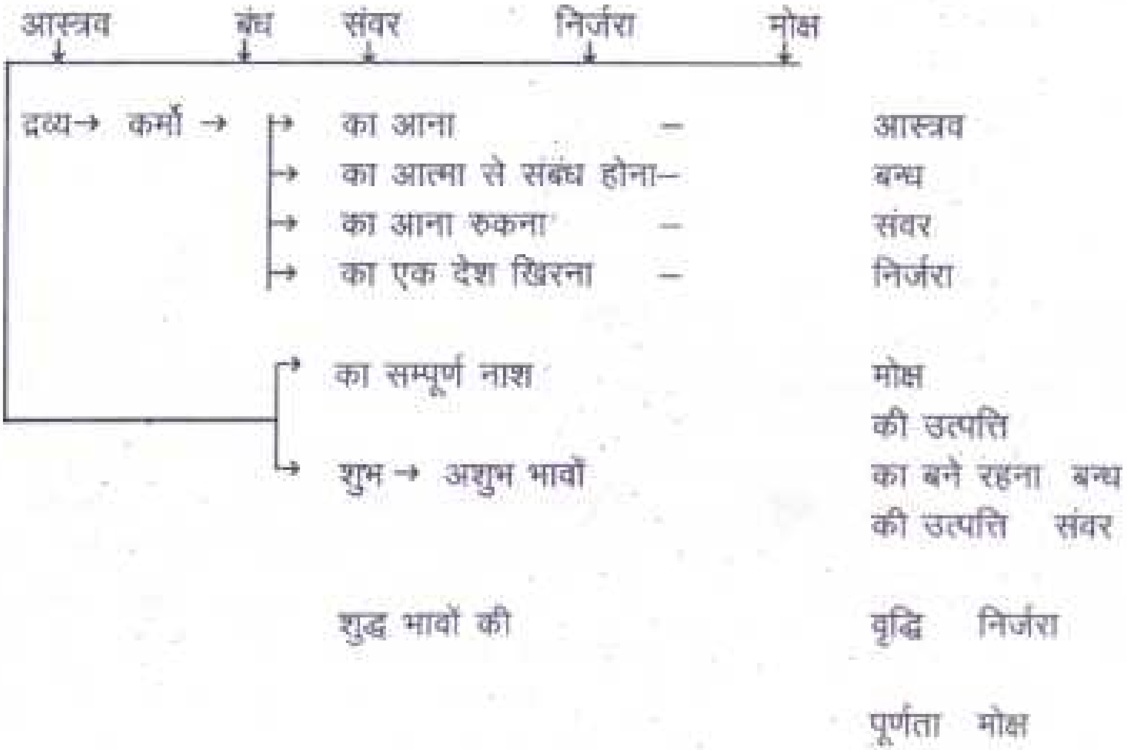

उपरोक्त सारणी तत्वार्थ सूत्र व्याख्याकार विधावाचस्पति से लिया गया है।

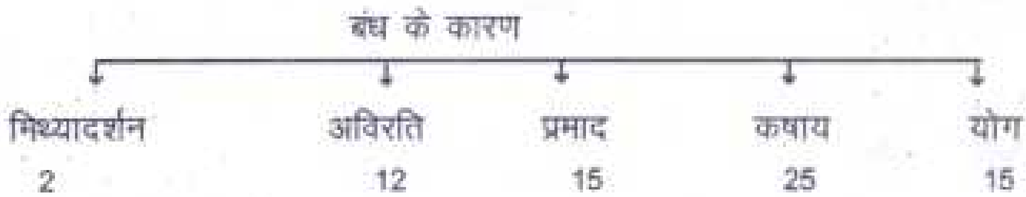

सम्यग्ज्ञानःसंशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नामक तीन, प्रकार के भ्रान्तियाँ है भ्रान्तियाँ रहित ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। आत्म तत्व को अथवा वास्तविक कल्याण साधन मार्ग को पहचानना ही सम्यग्ज्ञान है।

तत्त्वार्थश्रद्धानम के साथ–साथ तत्त्वों के प्रति ज्ञान, भी आवश्यक है अज्ञान ही बंधन का कारण मूल धारण है, इसलिए मोक्ष प्राप्ति हेतु ज्ञान का योगदान महत्त्वपूर्ण है।

सम्यग्यारित्रः पवित्र आचरण घटना सम्यग्चारित्र है अशुभ से हटकर शुभ में प्रवृत्त होना सम्यक् चारित्र है। यहाँ दो प्रकार का है।

1. सकल चारित्र, 2. विकल चारित्र

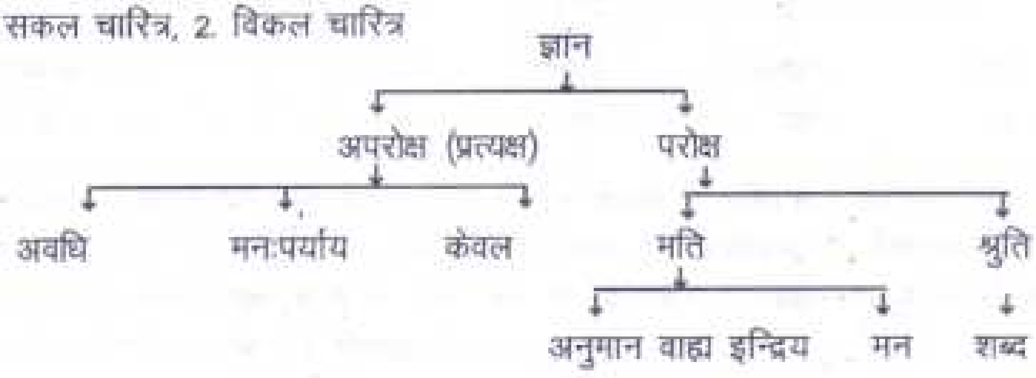

अपने जीवन को पाप के संयोग से दूर रखकर निर्मल बनाना और यथाशक्ति परहित साधन परायण रहना सम्यग्चारित्र है। उपरोक्त विवरण सम्यग्मोक्ष में सहायक है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मुनस्मृति 2/26
2. रामचरितमानस 6/22/4,6/20/3
3. महाभारत 109/12
4. वही, 109/10
5. वही, 109/11
6. धर्मबन्धु, धर्म का यथार्थ स्वरूप, पृ0सं0 8
7. वैशेषिक सूत्र 1.1
8. वैशेषिक दर्शन, उदयवीर शास्त्री, प्रकाशक, विजयकुमारगोविन्दराम, हासानन्द, पृ0सं0 37
9. वैशेषिक सूत्र 1.2
10. उदयवीरशास्त्री, पृ0सं0 4
11. मीमांसा सूत्र 1.1
12. मीमांसा सूत्र उदयवीर शास्त्री, पृ0सं0 24
13. मीमांसादर्शनम् विद्योदयभाष्यम्, पृ0सं0 26
14. वही, पृ0सं0 26
15. धर्मबन्धु–धर्म का यथार्थ स्वरूप
16. ऋग्वेद 7/56/12
17. यजुर्वेद 31/10
18. अथर्ववेद 14/1/1
19. गोपथब्राह्मण 2/2/13
20. तैत्तिरी संहिता 3/9/16/2
21. शतपथ ब्राह्मण 14/4/2/26
22. धर्मबन्धु, पृ0सं0 7
23. जैमिनी ब्राह्मण 3/231
24. आचारांग 1/62/181
25. स्थानांग सूत्र की टीका 4/3/320
26. तत्वार्थ सूत्र 7.14
27. तत्वार्थ सूत्र 7.16
28. के0के0सिंह, पृ0सं0 205
29. मनुस्मृति 6/92
30. तत्वार्थ सूत्र 1.1
31. के0के0 सिंह, पृ0सं0 91
32. तत्त्वार्थसूत्र व्याख्या, विद्यावाचस्पति आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी महाराज, प्रकाशक मुनिमायाराम, सम्बोधि, दिल्ली
33. उत्तराध्ययन सूत्र, 21/93
34. तत्त्वार्थ सूत्र 5.4
35. रत्नकारण्डश्रावकाचार 1.4
36. उत्तराध्ययन 28.14

भारतीय संस्कृति में मूल्य–बोध

कपिल नेमा
अतिथि विद्वान, दर्शनशास्त्र विभाग
शासकीय मानकुंवर बाई कला एवं वाणिज्य
स्वशासी महिला महाविद्यालय जबलपुर (म.प्र.)

संस्कृति एक व्यापक शब्द है जो प्रायः मानव व्यक्ति या मानव– समूह के समुन्नत स्वरूप का आंकलन है। वैश्विक सांस्कृतिक अवधारणा को समझने का प्रयास करें तो यह प्रायः भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति में वर्गीकृत होती है। पाश्चात्य संस्कृति में जहाँ नैतिक मान्यताओं, कलाओं, प्रौद्योगिकियों तथा धार्मिक मान्यताओं पर अधिक जोर देखने मिलता है वहीं भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक तथा वसुधैव कुटुंबकम् की भावना पर आधारित रही है। वेदवाक्य 'सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा'' से स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति समन्वय एवं आपसी सहयोग की भावना को प्रधानता देती रही है। इसी पारस्परिक सहयोग के भाव से अन्य समस्त गुण विकसित होते हैं। यह भावना एक सांस्कृतिक मूल्य है जो संस्कृति में इस प्रकार व्याप्त है कि संस्कृति के साथ इसका तादात्म्य दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति 'विश्ववारा' है। इसके सांस्कृतिक जीवन मूल्य सार्वदेशीय व सर्वकालिक है। मनुष्य मात्र इन मूल्यों के बिना एक सार्थक जीवन की ओर उन्मुख नहीं हो सकता है। धृति, क्षमा आदि गुण हो या यम–नियम आदि वृहद अवधारणाएं अथवा पुरुषार्थ–चतुष्टय का युक्तियुक्त समन्यवय, ये सभी मनुष्य मात्र के लिए ही हैं।

संस्कृति एक आवरण है जिसमें मानव अपने जीवन व्यवहार को विकसित करता है। मनुष्य के मूल्य–बोध का निर्माण एवं विकास सांस्कृतिक आलम्बन में ही होता है। 'किसी संस्कृति की परीक्षा तीन कसौटियों से करनी चाहिए, प्रथम उसकी मूल भावना से, दूसरी उसकी सर्वोत्तम प्राप्ति से, और अंत में उसकी अपेक्षा.त दीर्घजीवन और नवीनीकरण की शक्ति से एवं अपने आपको जाति की चिरंतन आवश्यकताओं के नये रूपों के अनुकूल बनाने की सामर्थ्य से।'[2] सामान्यतः संस्कृति में व्याप्त मूल्यों की परीक्षा भी इन्हीं तीन कसौटियों पर की जा सकती है। भारतीय संस्कृति की मूल भावना मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना की चैतसिक अभिव्यक्ति है। यह भावना धर्म से अनुप्राणित है। धर्म सदा ही एक महत्वपूर्ण व प्रायः अपरिहार्य अंग के रूप में माना जाता है।

वैदिक चिन्तन से लेकर वर्तमान तक प्रायः दार्शनिक/विचारक अथवा चिंतन ने धर्म को अपने मुख्य सिद्धांतों में सम्मिलित किया गया है। भारतीय चिंतन में धर्म विविध स्वरूपों में देखने को मिलता है। वेदों में 'एक सदविप्रा बहुधा वदन्ति'[3] में जहां विश्व की मौलिक एकता का उद्घोष है ,वहीं प्राचीन काव्यों एवं उपनिषदों में वर्ण–व्यवस्था', आश्रम व्यवस्था', मनुष्य की स्वतंत्रता', तथा युद्ध और शांति' का भी निरूपण है। 'काम्टे ने अपने सांस्कृतिक विकास की तीन श्रेणियों वाले नियम में यह माना है कि संस्कृति की प्रथम श्रेणी धर्म–विद्या विषयक होती है।'[4] पश्चिम में सांस्कृतिक पुनर्जागरण के बाद से धर्म की स्वीकार्यता में ह्रास हुआ है। पश्चिमी विचारक धर्म के स्वरूप पर विचार करते है किंतु वे धर्म की उस ऊँचाई तक नहीं पहुंच सके हैं जहां भारतीय धर्म पहुंचा है। सुकरात के कथन 'ज्ञान सद्गुण है' से लेकर परवर्ती विचारकों के 'धर्म अफीम है' तथा 'ईश्वर मर चुका है' आदि कथन धर्म के मूल्य के ह्रास के द्योतक हैं। भारतीय परंपरा के लिए धर्म संस्कृति का अनिवार्य अंग है। भारतीय मनीषा में धर्म की नानाविध प्रति के विवरणों तथा वादों में सामंजस्य रोपित करने के प्रयास देखने मिलते है। ब्रह्मसूत्र के 'तत्तुसमन्वयात्' मे इसी प्रकार के विवरण द्योतित होते हैं।[5]

भारतीय संस्कृति की मूल्य–विषयक चेतना को आधार बनाकर विचार करने पर इसकी सर्वोत्तम प्राप्तियों के निरूपण में मानव तथा प्रत्येक प्राणी के सामूहिक कल्याण की प्रेरणा निहित है। भारतीय चिंतन में भौतिक तथा आध्यात्मिक क्रियाओं का सुंदर सम्मिश्रण है। आत्मा की सर्वव्यापी सत्ता की एकनिष्ठ स्वीकार्यता समस्त

प्राणियों में एकात्मता को प्रकाशित करती है। भारतीय दर्शन में नियतिवाद तथा प्रज्ञावाद का अतिक्रमण कर आध्यात्मवादी दृष्टिकोण की स्थापना होती है। छाँदोग्य उपनिषद में अश्वपति केकय ने सिद्ध किया है कि 'समस्त भूतों और तत्वों की समष्टि अर्थात समस्त विश्व आत्मा है।'[10] सर्व एकात्मता से जो मूल्य–बोध उत्पन्न होता है वह सांस्कृतिक विजय से अधिक 'आत्मनो मोक्षार्थ जगतहिताय च' की भावना को प्राधान्य देता है।

आध्यात्मिकता, विवेक एवं स्वतंत्रता की त्रिवेणी[11] ही मूल्य–बोध को जन्म देती है। भारतीय संस्कृति के मूल्य–बोधक तत्वों में यह दर्शन स्पष्ट परिलक्षित होता है। पुरुषार्थ–चतुष्टय, अहिंसा, सत्य, कर्म, आदि ऐसे ही मूल्य है जो एकत्व, बंधुत्व, आदि का समावेशी चित्रण प्रस्तुत करते हैं। अतिवादिता भारतीय संस्कृति का लक्षण नहीं है। नीर–क्षीर–विवेक से समस्त भोगों का संतुलन ही जीवन का सर्वोत्तम मार्ग है। पुरुषार्थ–चतुष्टय में जो मानव मूल्य निर्धारित दिए गए है, वे वस्तुतः एक पूर्ण जीवन का द्योतक है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' में श्रुति का यही संकेत है।

'किसी भी संस्कृति के जीवन–मूल्य की जांच करने के लिए हमें उसकी तीन शक्तियों को जांच लेना चाहिए। प्रथम है जीवन विषयक उसके मौलिक विचार की शक्ति, दूसरी है उन रूपों, आदर्शों और गतिछन्दों की शक्ति जो उसने जीवन को प्रदान किये हैं। अंतिम, उसके उद्देश्यों की प्राणवंत कार्यान्विति के लिये उसके प्रभाव है।'[12] भारतीय संस्कृति अपने मूल्य और मौलिक विचार के कारण ही हजारों वर्षों की परंपराओं, समयानुकूल नवीनताओं तथा संक्रमण के अध्यायों को सहज ही स्वीकार करती हुई अपने आदर्शों व उद्देश्यों को जीवित रखे हुए हैं। अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन में आधुनिकतावाद, विवेकीकरण एवं उपयोगितावाद आदि दर्शनों के उदय से संस्कृति का एक नया स्वरूप सामने आया है। यूरोपीय पुनर्जागरण में नए –नए अन्वेषण और अविष्कार हुए तथा दर्शन धर्म और संस्कृति का नया स्वरूप सामने आया। मनुष्य में चेतना के जो उच्चतम स्तर हैं तथा वे तत्व जो उसे चेतना के परम शिखर तक ले जाने में सहायक हैए उनकी उपेक्षा का अनुभव करके संस्कृति के सतर्क चिंतकों को पीड़ा का अनुभव अवश्य होता है। भौतिक प्रवृति के नियमों की खोज में हमारी सर्वोच्च उपलब्धि 'आत्मा का स्वातन्त्र्य' आज भी ह्रास की अवस्था में है। 'परंतु एक निष्पक्ष विचारक संस्कृति के इस युग को विकास की एक अवस्था एवं मानव प्रगति का एक अपूर्ण पर महत्त्वपूर्ण मोड़ समझना अधिक पसंद करेगा।'[13] डॉ. राधाकृष्णन इस सांस्कृतिक परिवर्तन से व्याप्त हुयी चिन्ता पर आश्वस्त करते हुए कहते है कि यद्यपि पश्चिम के संसर्ग से पारंपरिक सिद्धान्तों में हलचल अवश्य हुयी है तथापि इनके दृष्टिकोण में कोई प्रमुख परिवर्तन उत्पन्न नहीं हुए हैं। 'थोड़े–से ऐसे भी है जिन्होंने भारतीय परम्पराओं का त्याग कर दिया है और कतिपय पाश्चात्य विचारकों के विचारों को ग्रहण कर लिया है, किन्तु दुर्भाग्यवश उन्होंने न तो भारतीय चिंतन पर न पाश्चात्य दर्शन पर कोई गहरा प्रभाव डाला है।'[14]

भारत की सांस्कृतिक प्रवत्ति का झुकाव शाश्वतता की ओर अधिक रहा है किन्तु वह भौतिक और सांसारिक आगमन की अवहेलना नही करती है। शाश्वत व भौतिक का समन्वय ही संस्कृति का मूल्य–वैशिष्ट्य है। श्री अरविंद संस्कृति की इस सांसारिक अथवा भौतिक अभिव्यंजना को स्वीकार्य भाव से देखते है। वे इस भौतिक अभिवृत्ति को संस्कृति का बाह्य स्वरूप मानकर करते है कि 'बाह्य रूप में परिवर्तन हो सकता है और होगा भी, किन्तु एक नई रचना, एक नवीन आत्माभिव्यक्ति या आत्म–रचना होनी चाहिए जो भीतर से विकसित हो। यह आत्मा की अपनी विशिष्ट प्रकृति से युक्त होनी चाहिए, एक विजातीय प्रवृति के बाह्य रूपों से उधार ली हुई नहीं।'[15] धार्मिक विश्वास की एकता अवश्य वह साधन हो सकती है जो संस्कृति की विशाल परिधि को उसके कल्याणकारी मूल्यों से जोड़े रह सकती है।

संदर्भ–ग्रंथ सूची

1. यजुर्वेद, 7/14
2. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी, 2013, पृ.73–74
3. ऋग्वेद, 1/164/64
4. वर्णों का विभाजन गुण और कर्मों के अनुसार है। महाभारत के शांतिपर्व, 188, (11–13) तथा श्रीमद् भगवद्गीता में भी यही तथ्य मिलता है।
5. आश्रम व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख जाबालि–उपनिषद में माना जाता है। छांदोग्य उपनिषद में भी इसका उल्लेख है। मनुस्मृति में प्रथम तीन आश्रमों को ही माना गया है।
6. श्रीमद्भगद्गीता के समस्त संदेश का सार है कि जैसी इच्छा हो, वैसा कर्म करो (18.63), क्योंकि वह प्रकृति के बंधन में होते हुऐ भी स्वतंत्र है।
7. श्री मद्भगवद्गीता में युद्ध और शांति का महान समन्वय है। (2.2–3), (2.11), (2.35,) (2.37), (2.31) आदि को एक साथ देखने पर यह तथ्य उद्घाटित होता है।
8. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, भारतीय संस्कृति कुछ विचार, राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली, पृ. 2016, पृ.47
9. वही पृ.15
10. 'स वै विश्वरूप आत्मा'
11. पाण्डेय, गोविन्द चंद, मूल्यमीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1989, पृ.31
12. श्री अरविंद, भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी, 2013, पृ.19
13. वही, पृ.33
14. डॉ. राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, भारतीय संस्कृति कुछ विचार, राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली, 2016, पृ.65
15. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, श्री अरविंद आश्रम प्रकाशन विभाग, पांडिचेरी, पृ.6

****

दर्शन का विकास : यूनानी नीतिशास्त्र के विशेष सन्दर्भ में

लेखा मि
शोध–छात्र, दर्शन एवं धर्म विभ
काशी हिन्दू विश्वविद्या

दर्शन अत्यन्त व्यापक है। सभी लौकिक तथा पारलौकिक विषय दार्शनिक माने जाते हैं। अतः इस विशालता तथा व्यापकता के कारण इसके स्वरूप का निर्धारण कठिन कार्य हो जाता है। किसी विषय के स्वरू का निर्धारण करना तो विषय की सीमाओं को बतलाना है। परन्तु जिसके विषय ससीम और सान्त से लेकर अस और अनन्त सभी हो, उसकी सीमा का निर्धारण एक दुष्कर कार्य बन जाता है। परन्तु इस कठिनाई का अर्थ नहीं कि उसका स्वरूप निर्धारण नहीं हो सकता। जिसके स्वरूप का पता नहीं लग सकता उसके विवेच्य–वि का भी हमें ज्ञान नहीं हो सकता। अतः दर्शन का विवेच्य विषय या विषय–वस्तु क्या है? उस पर विचार क से ही दर्शन के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

दर्शन के स्वरूप ज्ञान में संभवतः दर्शन की परिभाषा सहायक है परन्तु दर्शन की कोई एक सर्वमा परिभाषा नहीं है। अंग्रेजी में दर्शन को Pkhilosophy कहते हैं। यह दो शब्दों के योग से बना है– Pkhilas अ Sophia पहले का अर्थ है प्रेम और दूसरे का अर्थ ज्ञान है। अतः सम्पूर्ण शब्द का अर्थ गहरे ज्ञान के प्रति या अनुराग है।[1] इससे भी यह स्पष्ट होता है कि दर्शन का प्रारम्भ जिज्ञासा से होता है और यह जिज्ञासा सम विश्व तथा समग्र जीवन से संबंधित कुछ मूलभूत प्रश्नों के उत्तर के संबंध में होती है।[2] पाश्चात्य दर्शन का ज आश्चर्य से होता है (Philosophy begins in wonder), यह गहरे ज्ञान के प्रति आस्था (Love of Wisdom) सम्पूर्ण संसार के स्वरूप को समझ लेने से बढ़कर कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिये दर्शन का प्रारंभ आश्चर्य से मा गया है। आश्चर्य ज्ञान रूप होता है अज्ञान रूप नहीं। वेबर महोदय का कहना है कि दर्शन जीवन और जग को समग्रता में समझने का प्रयास है। यह सभी विषयों की व्यापक व्याख्या है। जीवन और जगत की समग्र के अन्तर्गत व्यक्ति और विश्व के सभी विषय हैं।[3]

दर्शन के मुख्य रूप से तीन विभाग हैं– तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और नीतिमीमांसा। मेरे शोध–पत्र मुख्य विषय दर्शन का विकास यूनानी नीतिशास्त्र के संदर्भ में है, तो अब हम इस पर विचार करेंगे। परिभाषा रूप में कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र उस चीज का अध्ययन है जो आचरण को अच्छा, उचित या शुभ बना है। नीतिशास्त्र आचरण की सामान्य मीमांसा है जो मनुष्यों के कामों पर अच्छाई–बुराई, औचित्य– अनौचि शुभ–अशुभ परिणामों के उत्पन्न होने की दृष्टि से विचार करता है। नीतिशास्त्र के लिए अंग्रेजी में 'एथिक (Ethics) और Moral Philosophy नाम प्रचलित हैं। Ethics शब्द यूनानी भाषा के शब्द Ethica से लिया ग है जो इसी भाषा के शब्द Ethos से व्युत्पन्न होता है, जिसका अर्थ है रूढ़ि या आदत (रीति–रिवाज)। Mor शब्द लैटिन के 'मोरेस' (mores) से निकला है, जिसका भी अर्थ है आदतें या रूढ़ियाँ। इस प्रकार व्युत्पत्ति आधार पर कहा जा सकता है कि नीतिशास्त्र मनुष्यों की आदतों और रूढ़ियों का अथवा दूसरे शब्दों में, उन चरित्रों का, अर्थात् जिन सिद्धान्तों के अनुसार काम करते रहने की उनकी आदतें बन जाती हैं उनका विवेच करता है तथा यह विचार करता है कि वे कौन–सी बातें हैं जो उन सिद्धान्तों को उचित या अनुचित बनाती जो उन आदतों को अच्छी–बुरी या शुभ–अशुभ बनाती हैं।[4]

प्राचीनतम युग से ही, जिसकी हमें स्पष्ट ऐतिहासिक जानकारी है, नैतिक जीवन की समस्याओं का लो के विचारों में प्रमुख स्थान रहा है। सबसे पहले के यूनानी विचारकों ने अपना ध्यान मुख्य रूप से भौतिकी समस्याओं की ओर लगाया–विशेष रूप से इस प्रश्न की ओर कि विश्व किस तत्त्व से बना है। लेकिन भौतिकीय दार्शनिकों हेराक्लाइट्स और डीमोक्रिटस ने कुछ स्पष्टता के साथ नैतिक समस्या पर अवश्य विच किया था। हेराक्लाइटस ने अग्नि को मूल भौतिक तत्त्व माना था जो कि प्रकाशवान और शुष्क है, और शाय

यह कल्पना की थी कि इस तत्त्व का अंधकारमय और आर्द्र स्वरूप वाले विरोधी तत्त्व से निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। शायद उसने यह भी सोचा था कि मनुष्य के जीवन में इस संघर्ष को निरन्तर चलते हुए देखा जा सकता है तथा नैतिक जीवन का महान् लक्ष्य प्रकाशवान और शुष्क तत्त्व को विजय दिलाना है। उसका मूल नैतिक सिद्धान्त था, ''अपनी आत्मा को शुष्क रखो।'' दूसरी ओर, डीमोक्रिटस शायद आचार का मूल सिद्धान्त सुख को मानता था। लेकिन इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन दार्शनिकों में से किसी ने भी अपने नीतिशास्त्रीय विचारों को व्यवस्थित रूप से विकसित करने का कोई प्रयत्न किया था।[6] मानवीय आचरण का वैज्ञानिक ढंग से परीक्षण सबसे पहले सोफिस्ट दार्शनिक ने किया। ई0पू0 5वीं शताब्दी से ही यूनान में दर्शन की स्वस्थ परंपराएँ बन चुकी थी। 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है'– प्रोटागोरस की इस उक्ति में सोफिस्ट आचारशास्त्र के अच्छे और बुरे दोनों अंग प्रतिबिंबित हैं। जहाँ एक ओर इस कथन से आचारशास्त्र ठोस समस्याओं की ओर झुकता है, वहीं दूसरी ओर यह व्यक्तिगत और सापेक्ष भी बन जाता है।[6] जार्जियस का विचार है कि सत्य पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ है, अतः अपने आप में कुछ भी सत्य अथवा असत्य नहीं है, हम किसी भी वस्तु के स्वरूप को ठीक–ठीक जान नहीं सकते और यदि जान भी लें तो हम अपने इस ज्ञान को दूसरों तक पहुँचा नहीं सकते। इसी प्रकार एक अन्य सोफिस्ट प्रोडिकस का कथन है कि अपने आप में किसी भी वस्तु का कोई मूल्य नहीं होता, मनुष्य द्वारा उसके बुद्धिसंगत उचित उपयोग के कारण ही वह मूल्यवान् हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोफिस्ट मूलतः व्यक्तिनिष्ठवाद तथा सापेक्षतावाद में ही विश्वास करते थे इसी कारण उन्होंने व्यक्ति विशेष की भावनाओं तथा इच्छाओं से स्वतन्त्र शुभ, सत्य एवं न्याय की सत्ता को स्वीकार नहीं किया।[7]

सुकरात ने सर्वप्रथम एक ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण किया जो आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित था। सुकरात का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। 'ज्ञान ही सद्‌गुण है।' जिसे उचित कर्मों का वास्तविक ज्ञान है, उसका आचरण ठीक होना ही पड़ेगा, और अज्ञान की परिणति दुराचार में होना भी उतना ही अनिवार्य है। सोफिस्ट 'न्याय', 'नियम', 'संयम' आदि शब्दों का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इनकी सूक्ष्म व्याख्या उन्होंने कभी नहीं की। सुकरात ने इस बात पर जोर दिया कि व्यक्तिनिरपेक्ष नैतिक आदर्शों का आधार ज्ञानमीमांसा ही है। जो अंतर 'ज्ञान' और 'जानकारी' में है, वही नियमबद्ध आचारशास्त्र और प्रथाजन्य नैतिक धारणाओं में है। सभी का लक्ष्य समान है– 'भलाई'। परंतु ज्ञान द्वारा ही 'भलाई' और परमशुभ में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। और इस सामंजस्य का सामाजिक रूप केवल ऐसे राज्य में मिल सकता है जहाँ शासकगण अच्छे जीवन को एक कला समझकर उसे आत्मसात् करने का यत्न करते रहें।[8] सुकरात के समय के तुरन्त बाद नीतिशास्त्रीय चिन्तन–मनन अलग–अलग सम्प्रदायों मे बँट गया। सुकरात के अनुयायियों के दो सर्वाधिक स्पष्ट नीतिशास्त्रीय सम्प्रदाय सिनिकों और सैरेनैक्स के थे जिनसे बाद में स्टोइकों और एपिक्यूरसवादियों के सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। इन सम्प्रदायों के सदस्यों ने जितना सुकरात की विचारधारा पर ध्यान केन्द्रित किया लगभग उतना ही उसके जीवन–चरित और प्रभाव से संबंधित बातों पर भी। सिनिक उसकी स्वतन्त्रता और निर्द्वन्द्वता से प्रभावित हुए, और इसी को उन्होंने अपना आधारभूत सिद्धान्त बनाया। सैरेनैक्स अपने आस–पास की चीजों का अच्छे–से–अच्छा उपयोग करने की उसकी चतुराई और कुशलता से अधिक प्रभावित हुए। इस प्रकार सिनिक यातित्ववाद के समर्थक बने और सैरेनैक्स सुखवाद के।[9]

सिनिक्स तथा सैरेनैक्स ने सुकरात के विचारों की अपने–अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करके एकांगी नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना की थी, किन्तु प्लेटो ने सुकरात के दर्शन के आधार पर मानव–जीवन के मार्गदर्शन के लिए अधिक संतुलित एवं तर्कसंगत नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। प्लेटो ने अपने विचार संवादों के माध्यम से व्यक्त किये हैं और इन संवादों में सुकरात ही मुख्य वक्ता है। ऐसी स्थिति में सुकरात तथा प्लेटो के विचारों को अलग–अलग करना बहुत ही कठिन है।[10] प्लेटो का सामान्य दार्शनिक मत प्रत्ययों के सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। उसका विश्वास था कि चीजों की आधारभूत सत्यता प्ररूपों में है, जिनके वे अनुरूप होती हैं और जिनके वे अपूर्ण प्रतिरूप हैं। और इन प्ररूपों में सबसे आधारभूत 'शुभ का प्रत्यय' है, और सदाचार का आदर्श

यह है कि इस प्रत्यय के उत्तरोत्तर निकट पहुँच जाए। इस प्रत्यय को समझने के लिए दार्शनिक प्रशिक्षण के एक क्रम में से गुजरना जरूरी होता है, और इसलिए सदाचार का सर्वोच्च रूप केवल दार्शनिक ही प्राप्त कर सकता है। लेकिन प्लेटो ने सदाचार का एक निम्न रूप भी माना जिसे अच्छा नागरिक प्राप्त कर सकता है, और तदनुसार प्लेटो ने नागरिक के सद्‌गुणों का विश्लेषण किया।"[11] प्लेटो विवेक, साहस, संयम और न्याय इन चार सद्‌गुणों को नैतिक आचरण का आधार मानते हैं। उनके अनुसार वास्तविक सुख अथवा आनंद वही है जो बुद्धि द्वारा नियंत्रित और विवेक पर आधारित है। इसी कारण उन्होंने चिंतन अथवा बुद्धि को मानव–कल्याण के लिए अनिवार्य ही नहीं माना अपितु उसे सर्वोच्च स्थान भी दिया है। उनका मत है कि जो व्यक्ति चिंतनशील है और जिसके कर्म बुद्धि द्वारा नियंत्रित होते हैं वही सद्‌गुणयुक्त आचरण करते हुए जीवन में वास्तविक आनंद प्राप्त कर सकता है।[12]

सुकरातवादी परंपरा की परिणति अरस्तू के आचारशास्त्र में मिलती है। अरस्तू ने विश्लेषण और प्रयोग करते हुए आचरण के विभिन्न पहलुओं की वैज्ञानिक ढंग से समीक्षा की। आचार दर्शन का स्वतंत्र शास्त्र के रूप में विकास अरस्तू के 'निकोमेकियन एथिक्स' से ही आरंभ होता है। अरस्तू के अनुसार शुभ की अभिव्यक्ति दो दिशाओं में होती है। पहली दिशा वह है, जिसमें अभ्यास और प्रयत्न द्वारा मानव अपनी निम्नतर प्रवृत्तियों को उच्चरित शक्ति के अर्थात् बुद्धि के नियंत्रण में लाता है। इस प्रयास के फलस्वरूप जिन सद्‌गुणों की सृष्टि होती है वे हैं 'नैतिक सद्‌गुण'। लेकिन शुभत्व का एक दूसरा माध्यम भी है– अर्थात् बुद्धि द्वारा विशुद्ध सत्ता या चरम सत्य की खोज। इस चिंतन–मनन से बौद्धिक सद्‌गुणों की सृष्टि होती हैं परंतु आचारशास्त्र का प्रत्यक्ष संबंध बौद्धिक सद्‌गुणों की अपेक्षा नैतिक सद्‌गुणों से अधिक घनिष्ठ है। नैतिक सद्‌गुणों का आधार है मध्यम मार्ग का सिद्धांत। एक ओर अतिरेक और दूसरी ओर अभाव इन दोनों त्रुटियों से बचकर ही सदाचार संभव है। इस प्रकार यह मानते हैं कि मनुष्य के लिए सन्तुलित आदर्श नैतिक जीवन व्यतीत करना तभी संभव है जब वही अपनी इच्छाओं पर बुद्धि अथवा विवेक द्वारा उचित नियन्त्रण रखते हुए उनकी तृप्ति करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूनानी नैतिक दर्शन में अलग–अलग विचारकों ने अपने अलग–अलग विचारों को प्रस्तुत किया। एक ओर जहाँ सुकरात ने ज्ञान को ही नैतिकता का मूल आधार माना है, वहीं दूसरी ओर प्लेटो ने माना कि नैतिक सिद्धान्त व्यक्ति और समाज दोनों पर समान रूप से लागू होता है तथा अरस्तू ने नैतिक जीवन का आधार राजनीति को माना है। हालांकि इनके दर्शन में ऐसी कई बातें हैं जिनसे हम सहमत नहीं होंगे वे जिसे महत्व देते थे जिनकी प्रशंसा करते थे वह उससे बहुत अलग है जिसे हम महत्व देते हैं और प्रशंसा करते हैं। ऐसा शायद इसलिये भी है क्योंकि उनका बुनियादी नैतिक और धार्मिक दृष्टिकोण हमसे बहुत अलग था।

संदर्भ ग्रन्थः

1. बद्रीनाथ सिंह : पाश्चात्य दर्शन, पृ0 1
2. प्रो0 केदारनाथ तिवारी : तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा, पृ0 4
3. बद्रीनाथ सिंह : पाश्चात्य दर्शन, पृ0 2
4. J.S. Mackenzie : Manual of Ethics, p. 1
5. Ibid., p. 132-33
6. हिन्दी विश्वकोश, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0 357
7. वेद प्रकाश वर्मा : नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ0 38–39
8. हिन्दी विश्वकोष, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ0 357
9. J.S. Mackenzie : Manual of Ethics, p. 136
10. वेद प्रकाश वर्मा : नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ0 48
11. J.S. Mackenzie : Manual of Ethics, p. 137
12. वेद प्रकाश वर्मा : नीतिशास्त्र के मूल सिद्धान्त, पृ0 55

धर्म और नैतिकता : स्वामी विवेकानंद के विशेष सन्दर्भ में

रेनू उरॉव
शोध–छात्रा
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

सारांश :

विश्व में विभिन्न धर्म को मानने वाले लोग रहते हैं। सभी अपने–अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तथा अन्य धर्म की उपेक्षा करते हैं। इसी कारण लोगों में आपसी संघर्ष होते रहे हैं। स्वामी विवेकानंद प्रत्येक धर्म को महत्व देते थे तथा उनके सारभूत तत्वों को जो मानव जीवन को उनका चरिष तथा ज्योति प्रदान करने में सक्षम हो को अपनाने का आह्वान करते थे, जिसे एक नाम दिया गया "सर्वधर्म सम्भाव"। स्वामी विवेकानंद मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। उनकी नैतिकता धर्म की अवधारणा का परिणाम है।

मैं इस लेख मे स्वामी विवेकानंद के धर्म और नैतिकता के बारे में यह बताने का प्रयास करूँगी कि कैसे नैतिकता धर्म की अवधारणा का परिणाम है।

शब्द कुंजी– धर्म, नैतिकता, सार्वभौम धर्म।

प्रस्तावना :

धर्म शब्द से ही विश्व धर्म का बोध होता है। हिन्दू धर्म, मुस्लिम धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म आदि विश्व के प्रमुख धर्म हैं। धर्म का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि धर्म के नाम पर निरंतर संघर्ष होते रहे हैं। साधारणतः सभी अपने–अपने धर्म को अनूठा समझते हैं तथा अन्य धर्मों की उपेक्षा करते हैं। विश्व के सभी धर्म सत्य की प्राप्ति में संलग्न हैं। सभी का लक्ष्य एक है, अन्तर सिर्फ साधन–पक्ष एवं क्रिया पद्धति को लेकर होता है। धर्म मानवीय जीवन का केन्द्र होता है, इसका सम्बन्ध धार्मिक अनुभूतियों से है। जिसमें बुद्धि, भावना, क्रिया का समावेश होता है। धर्म के लिए ये तीनों पहलू अनिवार्य है। विलियम जेम्स ने धर्म की परिभाषा दी है–"धर्म का अर्थ व्यक्ति का वह ऐकान्तिक भाव, क्रिया एवं अनुभव है, जो व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध के ज्ञान से विकसित होते हैं।"[1] इस परिभाषा में धर्म के तीनों पहलू मौजूद हैं।

भारतीय परंपरा में 'धर्म' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक अर्थ यह है कि यदि कोई हमसे पूछता है कि आप किस धर्म को मानते हैं तो स्वाभाविक तौर पर हमारा उत्तर हिन्दू, मुस्लिम, सिख आदि होता है। इस संदर्भ में धर्म का मुख्य विषय ईश्वर–विचार है। यदि हम मनुष्य के इतिहास का सिंहावलोकन करते हैं तो हम पाते हैं आदिकाल से मनुष्य धर्म से सम्बद्ध रहा है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो धर्म से शून्य हो। किसी भी धर्मों में ईश्वर संबंधी आदर्शों में भिन्नता के कारण एक–दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार व्यक्तिगत भाषा सम्भव नहीं है उसी प्रकार व्यक्तिगत धर्म भी सम्भव नहीं है। "यही कारण है कि गैलवे महोदय 'अराधना और सेवा' तथा मार्टिन्यू महोदय 'नैतिक संबंध' पर बल देते हैं।"[2]

दूसरे संदर्भ में धर्म का अर्थ नैतिक दायित्व का पालन करना होता है। जैसे– अगर कोई कहे कि मित्र का धर्म है कि वह संकट में फँसे अपने दोस्त की सहायता करे, तो इस संदर्भ में 'धर्म', 'नैतिकता' का पर्यायवाची हो जाता है। प्रत्येक धर्म में नीति एवं आचार संबंधी सिद्धांतों का स्पष्टीकरण हुआ है। नीति का अर्थ– मार्गदर्शन होता है। जो सिद्धांत, चिंतन या विचार मनुष्य का मार्गदर्शन करे उसे नीति कहना होगा। नीतिशास्त्र में मानव जीवन की नैतिक समस्याओं का व्यवस्थित, सुसंगठित, निष्पक्ष रूप से विवेचन किया गया है। "नीतिशास्त्र सदा कहता है मैं नही तू। इसका उद्देश्य है– स्व नही, निः स्वः।"[3] इसका कहना है कि स्वयं को सबसे अन्त में रखो। इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर आधारित है।

भारतीय दर्शन में किसी न किसी रूप में नैतिक जीवन का चित्रण किया गया है। प्रत्येक दर्शन में मोक्ष या मुक्ति को स्वीकार किया गया है और इस मुक्तिलाभ या आत्मलाभ के लिए सदाचार के नियमों की समीक्षा

आवश्यक हो जाती है। वैदिक काल से लेकर आज तक भारत में नैतिक चिन्तन की परम्परा चली आ रही है। सामान्यतः नैतिकता तथा धर्म में यह कह कर भेद किया जाता है कि नैतिकता का संदर्भ समाज से है जबकि धर्म सामाजिकता से भी ऊपर उठ जाती है। स्वामी विवेकानंद का कहना है कि इस प्रकार के भेद से गलत धारणाएँ उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। इनके धर्म तथा नैतिकता पर चर्चा करने से पहले हम उनके जीवन दर्शन के बारे में जान लें।

स्वामी विवेकानंद का जीवन दर्शन :

स्वामी जी का जीवन दर्शन वास्तव में भारत का वास्तविक जीवन दर्शन है। स्वामी विवेकानंद का वास्तविक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका जन्म 12 जनवरी 1863 ई0 में कलकत्ता के अभिजात क्षत्रिय परिवार में हुआ। सन् 1881 में उनकी मुलाकात रामकृष्ण परमहंस से हुई। विवेकानंद रामकृष्ण परमहंस के सबसे प्रिय शिष्य थे। सन् 11 सितंबर 1893 ई0 में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में वे भारत के प्रतिनिधि बनकर गए। स्वामी जी एक महान् देशभक्त तथा विश्व बंधुत्व की भावना से ओत–प्रोत थे।

स्वामी विवेकानंद के संदर्भ में धर्म और नैतिकता :

स्वामी विवेकानंद मानव धर्म को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे। उनके अनुसार धर्म मनुष्य के चिंतन और जीवन का सबसे उच्च स्तर है। हम देखते हैं कि मानव प्रेम एवं धर्म जगत में दो शक्ति की क्रिया सबसे अधिक प्रस्फुटित हुई है। वस्तुतः नैतिकता में 'मापदण्ड' की समस्या बड़ी कठिन समस्या है। इसी स्थल पर नैतिकता के लिए धर्म की उपयोगिता एवं मूल्य है। नैतिकता सार्थक तभी हो सकती है जब उसका लक्ष्य सार्वभौम हो। विवेकानंद का कहना है कि नैतिकता को ऐसा ही 'सार्वभौम आधार' धर्म के द्वारा प्राप्त होता है। सार्वभौमिक धर्म के संदर्भ में उनका कहना था कि "धर्म की सार्वभौमिकता धर्म का सार है।"[4] सार्वभौम होने का अर्थ है कि धर्म का हर अनिवार्य अंग हर अनिवार्य विषय–वस्तु सार्वभौम रहे। विभिन्न धर्मों में संघर्ष देखे जाते हैं, किन्तु विवेकानंद का कहना है कि धर्म यदि वास्तविक अर्थ में सार्वभौम है तो उसे इन संघर्षों से ऊपर उठना है। ये धर्मों की विभिन्नता तथा आपसी मतभेद को धर्म के लिए अनिवार्य माना है। किन्तु प्रश्न उठता है कि यदि मतभेद एवं विवाद धर्म के लिए अनिवार्य है तो धर्म सार्वभौम कैसे हो पाएगा।

विवेकानंद इसी प्रश्न के समाधान के लिए सार्वभौम धर्म में दो अनिवार्य लक्षण मानते हैं– पहला यह है कि धर्म सार्वभौम तभी हो सकता है, जब इसका द्वार सबों के लिए खुला रहे। दूसरा लक्षण यह है कि सार्वभौम धर्म में यह शक्ति होनी चाहिए कि वह विभिन्न संस्थाओं को संतुष्ट एवं तृप्त कर सके। विवेकानंद का कहना है कि इन दोनों लक्षणों से युक्त धर्म वस्तुतः है, इसलिए सार्वभौम धर्म की सम्भावना पर संशय करना अकारण है। हमें अपने धर्म का पालन खुले हृदय से करें। जिस भी धर्म को मानें, उसी के अनुरूप चलें तथा यह समझते हुए चलें कि मेरे लिए तो यही मार्ग है, किन्तु अन्य मार्ग भी सम्भव है। "विवेकानंद का कहना है कि सार्वभौम धर्म का मूल मंत्र है– 'स्वीकृति'।"[5] अन्य धर्मों के प्रति स्वीकृति का भाव रखें। धर्म केवल सिद्धांत और मत की बात नहीं है। तुम क्या पढ़ते हो अथवा किसी मत में विश्वास करते हो यह उतना महत्व नहीं है। असल चीज तो यह है कि तुम क्या अनुभव करते हो। कहा गया है– "वे धन्य हैं जो हृदय से पवित्र है, क्योंकि वे ही ईश्वर का दर्शन करेंगे।"[6]

स्वामी विवेकानंद का नैतिकता उनकी धर्म की अवधारणा का परिणाम है। उनके अनुसार धर्म कोई सिद्धांत नहीं बल्कि एक आवश्यक दिव्यता की अनुभूति है जो सभी व्यक्तिगत रूप में व्याप्त है। विवेकानंद की नैतिकता मनुष्यों की एकता पर आधारित है। सभी एक है इसलिए मुझमें और दूसरों में शायद ही कोई अंतर हो। मैं और तू का भेद मिट जाता है।" 'तू निःस्वार्थ बन', मैं नहीं, वरन, 'तू'"[7] यह भाव रखें। जिसमें कि दूसरों को किसी प्रकार हानि न पहुँचे क्योंकि इसमें मेरा ही नुकसान होगा। विवेकानन्द का कहना है कि नैतिकता और कुछ नहीं बल्कि व्यक्ति को एक अच्छा नागरिक बनने में सहायता करने वाली आचार संहिता है। आचार संहिता को सार्वभौमिक रूप से लागू किया जाना चाहिए जैसा कि धर्म को 'सार्वभौम' कहा गया है। जो मेरे लिए अच्छा

नहीं है वह दूसरों के लिए भी अच्छा नही हो सकता। सार्वभौमिकता अद्वैत वेदांत में दिखाई गई एकता का परिणाम है। विवेकानन्द ने अद्वैत वेदांत की नीव पर ही सभी मनुष्यों के लिए धर्म का प्रस्ताव रखा।

निष्कर्ष :

स्वामी विवेकानंद का धर्म अत्यंत उच्चकोटि के हैं। जीवन के मूल सत्यों, तथ्यों को समझने की कुंजी है। उन्होंने यह आह्वान किया कि आने वाली पीढ़ी नैतिक गुणों से भरपूर होकर सच्चे भारतीय होने के गौरव को बनाए रखे। धर्म के नाम पर एक–दूसरे से विवाद न करें। नैतिक आदर्शों पर चलने हेतु दृढ़ संकल्पित हो। जात–पात, धर्म, भेदभाव से ऊपर उठे। ईश्वर एक है, हम सब उसी के संतान हैं इसलिए मानवता की सेवा को पहला स्थान दें। सर्वधर्म के द्वारा सच्चे मानवता, समाज, नवयुग का निर्माण होगा।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. डॉ० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा : धर्म दर्शन की रूप–रेखा, मोतीलाल बनारसीदास, बंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली, 1990, पृ० 59
2. वही, पृ० 16
3. विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, जनवाप्पी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1971, पृ० 195
4. बसन्त कुमार लाल : समकालीन भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2013, पृ० 53
5. वही, पृ० 58
6. विवेकानन्द साहित्य, द्वितीय खण्ड, जनवाप्पी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1971, पृ० 234
7. स्वामी विवेकानंद : धर्मतत्व, रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृ० 73

*****

दर्शन का स्वरूप : वर्तमान परिस्थितियों के दृष्टिगत परिवर्तित होते आयाम

सौरभ द्विवेदी
शोध छात्र
दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

सारांश –

प्रस्तुत शोध पत्र में दर्शन के स्वरूप का वर्तमान समय में हो रहे परिवर्तनों के सन्दर्भ में समझने का प्रयास किया जा रहा है। प्राचीन काल से ही जब से मनुष्य ने किसी भी विषय पर चिंतन–मनन व विचारना प्रारंभ किया है, तब से दर्शन का प्रारंभ माना जा सकता है। परन्तु जब व्यवस्थित रूप से वेद वाङ्गमय का सृजन हुआ, उपनिषदों का प्रादुर्भाव हुआ तब से दर्शन का भी एक व्यवस्थित युग प्रारंभ हुआ जिसके अन्तर्गत अनेक आस्तिक व नास्तिक दार्शनिक परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ व चिंतन–मनन प्रारंभ हुआ। इन परम्पराओं में स्वयं के मत का मण्डन व स्वयं के मत से भिन्न मत के खण्डन की प्रक्रिया सतत् रूप से एक लम्बे समय तक चलायमान रही। आधुनिक युग में समकालीन दार्शनिक ने मानव–केन्द्रित चिंतन परम्परा को फलीभूत किया बजाए खण्डन व मण्डन प्रक्रिया पर जोर देने के, परन्तु वर्तमान समय में भौतिकता के युग में मनुष्य के मानसिक अवस्था में बहुत अधिक परिवर्तन हो चुका है। मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया पूर्णतः प्राचीन काल के तुलना में भिन्न हो चुकी है। मनुष्य की जिज्ञासा का केन्द्र बिन्दु आध्यात्मिक यह भौतिकता पर चिंतन करना नहीं रहा अपितु महज भौतिक पदार्थों के भोग तक सीमित हो गया है। चिंतन–मनन की प्रक्रिया को समाप्त करते हुए महज भौतिक पदार्थों के भोग की प्रवृत्ति ने मनुष्य के जीवन में ही नहीं अपितु समस्त चराचर प्राणी जगत के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न कर अनेक समस्याओं को जो जीवन हेतु कष्टकारी है, को उत्पन्न कर दिया। प्रस्तुत शोध पत्र में मनुष्य की भौतिकता भोग केन्द्रित प्रवृत्ति के फलस्वरूप उत्पन्न गंभीर समस्याओं व संकटकों का वर्णन व दार्शनिक चिंतन प्रक्रिया द्वारा उनके समाधान खोजने के प्रयास को दर्शाने को प्राथमिकता दी जा रही है।

मुख्य भाब्दावली – (1) दर्शन का स्वरूप (2) मानव केन्द्रित चिंतन प्रक्रिया (3) चराचर जगत, (4) जीवन–यापन (5) पर्यावरण।

परिचय –

प्राचीन काल से ही जब से मनुष्य का जीवन चराचर जगत में अस्तित्व में आया कमोवेष चिंतन प्रक्रिया प्रारंभ हो गयी। मनुष्य अपने जीवन को आसान व सुविधाजनक बनाने हेतु प्रयासरत हुआ; उसने अत्यधिक चिंतन मनन करना प्रारंभ किया तथा जीवन को यापन करने हेतु अनेक जीवन यापन के लिए आधारभूत वस्तुओं तक की पहुँच को सरल व आसान बनाया। जीवन यापन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ एवं पदार्थों को पूर्व से ही प्रकृति ने मनुष्य को सुलभ उपलब्ध किया। मनुष्य चिंतन प्रक्रिया द्वारा उसमें परिवर्तन करके जीवन यापन हेतु समय के साथ आसान व भौतिक पदार्थों के भोग की प्रवृत्ति में वृद्धि करता चला गया। मनुष्य की जिज्ञासा व कौतुहल का एक और विषय उत्पन्न हुआ कि यह समस्त चराचर जगत की उत्पत्ति कैसे हुयी तथा इसके पीछे किस शक्ति का योगदान है व उसके स्वयं की उत्पत्ति की गहराई में कौन है जड़वत प्रकृति या उससे भिन्न कोई अन्य चेतन सत्ता? उक्त समस्त प्रश्नों का प्रादुर्भाव व उनके समाधान हेतु एक चिंतन–मनन प्रक्रिया प्रारंभ हुई। जिसको उत्कृष्ट व सर्वोच्च अवस्था में पहुँचने पर दार्शनिक चिंतन प्रक्रिया की संज्ञा से विभूषित किया गया।

इस दार्शनिक चिंतन प्रक्रिया के अन्तर्गत अनेक आस्तिक व नास्तिक दार्शनिक परम्पराओं का उद्भव एवं विकास हुआ। नास्तिक दर्शन में चार्वाक, बौद्ध व जैन परम्परा तथा आस्तिक परम्परा में सांख्य–योग

न्याय–वैशेषिक व मीमांसा–वेदान्त (पूर्व मीमांसा–उत्तर मीमांसा) इत्यादि है। इन दोनों दार्शनिक परम्पराओं का भेद वेद मत को स्वीकार व अस्वीकार के आधार पर माना जाता है। वेद मत स्वीकार सम्प्रदायों को आस्तिक परम्परा के अन्तर्गत व वेद मत को अस्वीकार करने वाले सम्प्रदायों को नास्तिक परम्परा के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। प्रत्येक दार्शनिक परम्पराओं में मनुष्य के भौतिक जीवन के विकास के साथ ही साथ आध्यात्मिक जीवन का विकास का भी संर्वधन व सृजन हुआ। मनुष्य के भौतिक जीवन को विकसित किया तथा उसके जिज्ञासा, कौतुहल (मानसिक स्तर पर) व स्वयं तथा चराचर जगत के प्रति उत्पन्न उसकी शंकाओं व जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इससे ईश्वर, ब्रह्म, जीव, जगत इत्यादि तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं का सृजन हुआ। परन्तु वर्तमान संसार की समस्याएं और भी गंभीर होती जा रही है।

दर्शन का स्वरूप : परिवर्तित होते आयाम –

"आत्मानं विद्धि" (स्वयं को जानो), "आत्मा वाऽरे दृश्टवो"[1] यह भारतीय दार्शनिक परम्परा का ध्येय रहा है। स्वयं को जानने व अपने आत्म स्वरूप को पहचानने का कार्य दार्शनिक चिंतन के अन्तर्गत किया गया। दर्शन के स्वरूप के अन्तर्गत दर्शन शब्द को परिभाषित किया जा सकता है। दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'दृश' धातु के कारण अर्थ में ल्युट प्रत्यय 'अन्' लगाकार बना है। जिसका तात्पर्य है जिसके द्वारा देखा जाए "दृश्यते अनेन इति दर्शनम"। देखने से अर्थ है संसार के प्रत्येक सत्ता चाहे वह जड़वत हो या चेतनमय के बारे में दृष्टिकोण प्रस्तुत करना। यह दृष्टिकोण स्थूल या सूक्ष्म, भौतिक और आध्यात्मिक दोनों अर्थों में हो सकता है। डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने कहा "दर्शन वास्तविकता के स्वरूप का तार्किक विवेचन है।"[2] दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु अनेक परिभाशाओं का प्रतिपादन किया गया। जिसके अन्तर्गत कभी इस चराचर जगत को समझने पर दृष्टिपात किया तो कभी मनुश्य को स्वयं की संपूर्णता को जानने पर दृष्टिपात किया गया। भारतीय दार्शनिक परम्परा में जहाँ 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्'के द्वारा दर्शन को समझाने का प्रयास हुआ। वही पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में दर्शन के लिए 'फिलॉसफी' शब्द का प्रयोग किया गया। जिसका तात्पर्य 'ज्ञान के प्रति अनुराग (प्रेम)' से समझा गया। पाश्चात्य परम्परा में भी दर्शन को किसी भी सत्तामान वस्तु के बौद्धिक विश्लेषण या चिंतन करने से समझाया गया। प्राचीन दार्शनिकों प्लेटो व अरस्तु से लेकर आधुनिक मूर, रसेल, जौन डी0वी0, सार्त्र आदि अनेक दार्शनिकों की दर्शन के प्रति संभावता एक मूल ही संकल्पना प्रस्तुत की जा सकती है कि दर्शन किसी विद्यमान तत्व या मत अथवा अवधारणों का बौद्धिक चिंतन–मनन है। दर्शन का मूल प्रयोजन एक दृष्टिकोण का विकास करना रहा है जो गहन चिंतन–मनन अथवा बौद्धिक विश्लेषण पर आधारित अवश्य हो। कदाचित इसका विषय जड़पदार्थ या चेतन–पदार्थ रहा हो या भौतिक जीवन या आध्यात्मिक जीवन के प्रति दृष्टिकोण प्रस्तुत करना रहा हो या स्वयं के मूल की खोज रहा है। "आत्म–निरीक्षण के द्वारा व्यक्ति विचारो के स्वभाव तथा मूल को खोज सकता है।"[3]

वर्तमान समय में जगत की प्रवृति समय के साथ अत्यधिक परिवर्तित हो चुकी है। आज का युग भौतिक चमक–दमक व दिखावट पर पूर्णतः आधारित हो चुका है। भोग करने की प्रवृत्ति अपने चरम पर पहुँच रही है। आज मनुष्य का चिंतन–मनन केवल समस्त भौतिक पदार्थो को भोगने पर केन्द्रित हो गया है। वास्तव में यह कहना अधिक समाचीन है कि मनुष्य चिंतन–मनन अथवा बौद्धिक विश्लेषण की प्रक्रिया से विमुख होकर महज भोगवादी नीति पर केन्द्रित हो गया है। प्रत्येक मनुष्य 'येन केन प्रकारेण' संपूर्ण जगत के संपूर्ण भौतिक सुखों को भोगने हेतु लालायित दिख रहा है। वर्तमान में मनुष्य की समस्त चिंतन प्रक्रिया का केन्द्र बिन्दु भौतिक जगत के समस्त भौतिक पदार्थो की प्राप्ति करके उनसे सुख प्राप्त करना हो गया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति ने संसार में अनेक असाध्य व विनाषकारी समस्याओं को उत्पन्न किया है तथा अनेकों विकट व गंभीर चुनौतियों को संसार के सामने प्रस्तुत कर दिया। इन चुनौतियों में सबसे गंभीर चुनौती स्वयं प्राणी जगत के अस्तित्व पर ही संकट उत्पन्न कर देने में सर्वोपरि होगी, यह कहना अतिशयोक्ति नही होगी। यह गंभीर चुनौती प्रकृति या पर्यावरण को भोग की दृष्टि से मनुष्यों द्वारा अत्यधिक दोहन की प्रवृत्ति है जिससे मनुष्य का मूलभूत वस्तु जीवन व उसका

स्वास्थ्य गंभीर रूप से प्रभावित हो रहा है। प्रकृति या पर्यावरण का अनुचत रूप से अत्यधिक दोहन ने अनेक पर्यावरणीय गंभीर व विकट समस्याओं को उत्पन्न किया है। इसमें हरित ग्रह प्रभाव (ग्रीन हाउस इफेक्ट) सबसे अधिक खतरनाक होता जा रहा है। इसके अन्तर्गत पृथ्वी का तापमान में निरंतर वृद्धि होती जा रही है जिससे जीवन यापन के लिए आवश्यक वातावरण प्रतिकूल होता जा रहा है। इसका मूल कारण मनुष्य का जीवन यापन के लिए मूलभूत आवश्यकताओं से बहुत अधिक प्रकृति के भोग के प्रति बढ़ती प्रवृत्ति है।

संसार के समस्त कार्यों हेतु चाहे वह चिंतन–मनन की प्रक्रिया हो या आध्यात्मिक उन्नति करने की आशा या फिर भौतिक जगत को भोगने की प्रवृत्ति अथवा अन्य सांसारिक कार्य उक्त सभी क्रिया–कलापों हेतु जीवन का स्वस्थ व पूर्ण होना आवश्यक है। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों के दृष्टिगत हो रहे पर्यावरणीय क्षति ने एक स्वस्थ व पूर्ण जीवन के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह उत्पन्न कर दिया है। इन समस्त समस्याओं का मूल दृष्टिकोण विचारना है। मनुष्य भोगवादी नीति का दृष्टिकोण को धारण करके स्वयं के संपूर्ण कार्य कर रहा है। चूंकि दृष्टिकोण या चिंतन मनन की प्रक्रिया मूल रूप से दर्शन का कार्य है। इस कारण दर्शन का मूल ध्येय वर्तमान में मनुष्य के अस्तित्व पर उत्पन्न संकट को दूर करने हेतु मनुष्य के भोगवादी दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए प्रयास होना आवश्यक है। संपूर्ण समस्याओं की मूल जड़ मनुष्य की भोगवादी चिंतन प्रक्रिया है और दर्शन का भी मूल ध्येय मनुष्य की सकारात्मक व शुद्ध चिंतन प्रक्रिया का विकास करना है, जहाँ भोगवादी दृष्टिकोण की निवृति करना है, जिससे संपूर्ण प्रकृति को मनुष्य के जीवन यापन हेतु अनुकूल परिस्थितियाँ सतत् विद्यमान रहे व मनुष्य का स्वस्थ्य व सुरक्षित जीवन यापन संभव हो।

निष्कर्ष –

दर्शन के स्वरूप का वर्तमान परिस्थितियों में आयाम भिन्न हो रहे यह कहने से अधिक यह कहना समीचीन है कि दर्शन के चिंतन प्रक्रिया के विषय को प्रायिकता देना जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास हेतु आवश्यक हो। जिससे एक स्वस्थ्य व सुरक्षित मनुष्य, समाज एवं मानवता के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ का सृजन व विकास हो सके इस प्रकार की चिंतन प्रक्रिया का उद्भव करना दर्शन का कार्य है। दर्शन कोई एक विषय न होकर संपूर्ण विषयों के गहन चिंतन प्रक्रिया प्रस्तुत करने वाला व मनुष्य के जीवन यापन हेतु एक दृष्टिकोण है।

अतः दर्शन का कार्य वर्तमान में मनुष्य द्वारा अज्ञानवश उत्पन्न संकट व चुनौतियों मुख्य रूप से पर्यावरणीय या प्राकृतिक संकट के निवारण हेतु उचित चिंतन प्रक्रिया का विकास करना व मनुष्य के भोगवादी प्रवृत्ति के निराकरण हेतु एक प्रकृति से समन्वय स्थापित करने वाले दृष्टिकोण का उद्भव व परिपुष्ट करना है। चूंकि यह प्रकृति संसार में विद्यमान है, अतः मूल रूप से संसार को लेकर एक सकारात्मक दृष्टिकोण का विकसित होना आवश्यक है। "व्यक्ति के लिए यह संसार मात्र घटनाओं का एक प्रवाह नहीं है– एक समुच्च मात्र नहीं है। बल्कि संसार की अनुभूति एक तरह का अर्थ रखती है।"[4] इसलिए संसार को लेकर दृष्टिकोण परिवर्तित करना ही दर्शन का स्वरूप है।

सन्दर्भ सूची –

1. वृहदारण्यक उपनिषद, 2.4.5।
2. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन (भाग–1), अनु0 : नन्दकिशोर गोभिल मवालंकर।
3. स्वामी राम, कर्मबन्धन से मुक्ति, साहित्य निकेतन, कानपुर, 1982, पृ0सं0 31।
4. मिश्र, आनन्द, शंकराचार्य एवं सार्त के दर्शन में मानव–नियति, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृ0 6–7।

******

पातंजल योग में शौच की नैतिक उपादेयता

शशिभूषण प्रजापति
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ
वाराणसी (उ.प्र.)–221002

सारांश–

महर्षि पतंजलि का योग दर्शन नैतिकता में भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। आष्टांग योग का पालन करने पर तो मोक्ष की प्राप्ति साधक को हो जाती है, लेकिन जब तक वह मोक्ष को प्राप्त नही करता है, वह नैतिकता भरा जीवन व्यतीत करता है। क्योंकि आष्टांग योग के आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि है। जिसमें यम व नियम को नैतिकता का आधार माना गया है। यम व नियम का पालन करने पर व्यक्ति नैतिक हो जाता है। इसके सभी अंग नैतिकता में ही आते है।

मुख्य शब्द :–

महर्षि, नैतिकता, कल्याण, विश्व, मोक्ष, यम, नियम, ईर्ष्या, शौच, घृणा, असूया, क्लेश, चित्त, सत्वगुण, अन्तःकरण।

साहित्यावलोकन :–

इस शोध–पत्र के लेखन के लिए मैंने महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र, पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस, गोरखपुर, मानव धर्म, गीताप्रेस गोरखपुर, कठोपनिषद ग्रन्थों व पुस्तकों का अध्ययन किया। इसी के साथ ही पातंजल योगामृत, शिवानन्द द्वारा रचित पुस्तक का भी अध्ययन किया।

शोध पत्र का उद्देश्य :–

प्रस्तुत शोध–पत्र का उद्देश्य महर्षि पतंजलि कृत योग दर्शन का हमारे नैतिक जीवन में क्या महत्व रखता है? इसको बताना है, इनके आष्टांग योग का पालन करके व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त तो करता है। इनके यम व नियम को जीवन में उतारने से व्यक्ति का कल्याण होता है। मात्र शौच का पालन करे मानव तो नैतिक हो जाएगा। इस शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य यही है।

प्रस्तावना :–

पातंजल योग दर्शन में अष्टांग योग बड़ा ही महत्व रखता है। अष्टांग योग के अन्तर्गत आठ अंग है, जो इस प्रकार से है– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, अष्टांग योग में यम व नियम को नैतिकता का आधार माना जाता है, यम के पांच अंग है– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा नियम के भी पांच अंग है– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर–प्राणिधान है। यहां पर शौच के बारे में बात की जाएगी। शौच का पालन करके मानव अपने जीवन को नैतिक बना सकता है। शौच का पालन करने पर मानव का शरीर तो स्वस्थ रहेगा साथ ही साथ मानव का मन भी स्वच्छ हो जाएगा। जिसके द्वारा मानव अपने साथ–साथ इस संसार का भी कल्याण करेगा। शौच को दो रूपों में माना गया है– बाहरी शौच और आन्तरिक शौच। **बाहरी शौच**– मिट्टी, जल, गाय के गोबर आदि से अपने पात्र, वस्त्र, आश्रम, स्थान आदि को पवित्र रखना तथा जल, मिट्टी आदि से अपने शरीर को स्वच्छ रखना, तथा शुद्ध सात्विक भोजन को ग्रहण करके शरीर को सात्विक, निरोग व स्वस्थ रखना। बस्ती, धौती, नेती आदि और औषधि से शरीर शोधन करना, इनको बाहरी शौच कहा जाता है।

आन्तरिक शौच– ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलों को मैत्री आदि से दूर करना, बुरे भावों को शुद्ध भावों से दूर करना, गलत व्यवहार को सही व्यवहार से सही करना, इसे मानसिक शौच कहा गया है।

अविद्या आदि क्लेशों के गन्दगी को अपने विवेक–ज्ञान के द्वारा हटाना चित्त का शौच कहलाता है।[1]

जब मानव (साधक) बाह्य शौच का पालन करने में सक्षम हो जाता है, तो उसका ह्रदय शुद्ध हो जाता है, उसे इस शरीर में मल, मूत्र आदि अशुद्धियों का भण्डार दीखने लगता है। इसी कारण से साधक को अपने शरीर से राग व ममत्व छूट जाता है। इसी प्रकार से वह दूसरे मनुष्य (विपरीत लिंग) से संसर्ग करने की इच्छा भी समाप्त हो जाती है। वह मानव दूसरे मानव के साथ अपने शरीर को मिलाने में घृणा करने लगता है। उसे एकान्त प्रिय लगने लगता है। उसे किसी से मिलने की इच्छा समाप्त हो जाती है।[2] कुछ मानव तो अपने शरीर की सुरक्षा तथा स्वस्थ रखना आवश्यक मानकर, अपने शरीर को ही साध्य मान लेते है। अपने शरीर के मोह में पड़कर उसे सजाने–संवारने में लिप्त हो जाते है। इस तरह वह अपने जीवन के लक्ष्य से भी भटक जाते है। बाह्य शौच का पालन करने वाले मानव में अपने शरीर के प्रति ज्ञान होने पर की यह तो मल–मूत्र अपवित्र वस्तुओं का भण्डार है, उसे अपने शरीर से घृणा हो जाती है। इस प्रकार यह मानव जब संसार में विचरण करता है तो वह अपने से विपरीत लिंग के साथ शारीरिक सम्बन्ध नहीं बनाता है। इस तरह से देखा जाए तो आज वर्तमान समय में जो बलत्कार का मामला आता है, वह समाप्त हो जाएगा। बाह्य शौच का पालन करने से मानव कई तरह के रोगों व कष्टों से भी छुटकारा पा सकता है। ऐसे मानव संसार में पूजनीय हो जाता है। ऐसे मानव से किसी को कोई भय नहीं होता है। वह इस प्रकार से नैतिकता का पालन भी करता है तथा समाज के माहौल को खुशनुमा बनाए रखता है। जब मानव (साधक) अभ्यास के माध्यम से आन्तरिक शौच को दृढ़ कर लेता है तो उसके चित्त की शुद्धि, मन निर्मल, एकाग्र तथा इन्द्रियों पर विजय व आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। यह सब आन्तरिक शौच के सिद्ध होने पर स्वतः ही प्राप्त हो जाता है। उसके अन्दर से तमोगुण, रजोगुण के आवरण धुल जाते है, जिससे चित्त निर्मल हो जाता है। राग–द्वेष ईर्ष्या आदि मलों का अभाव होकर शुद्ध सत्वगुण रूप अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और मन भी प्रसन्न रहता है।[3]

अपने आत्मा को ब्रह्म को अर्पण करना ही आन्तरिक शौच है। वास्तविकता तो यह है कि जब तक इस हाड़–मांस के शरीर में अहंबुद्धि रहती है, तब तक तो शौच की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। शरीर तो ऐसे पदार्थों से निर्मित है, कि इसको कोई कितना भी धो व पोंछ ले लेकिन यह अपवित्र ही रहेगा। इसमें से कौन पदार्थ शुद्ध है, रक्त, मज्जा, मेद, मांस, अस्थि, वीर्य, कफ, पसीना, थूक, गीड़ आदि कोई भी पदार्थ शुद्ध व पवित्र नहीं कहा जा सकता है जो लोग इस चमड़े की थैली में भरे हुए इन पदार्थों के समूह को अपना रूप मानते है, वे सर्वदा अशुद्धि है। सुन्दर, सुगन्धित तथा रूचिकर पदार्थ भी इस शरीर में अन्दर जाते ही, अपवित्र, असुन्दर, घृणित और दुर्गन्धयुक्त बन जाते हैं इसी के साथ–साथ यह भी देखने को मिलता है कि मानव कितना ही स्वच्छ व साफ बढ़िया से बढ़िया पकवान (भोजन) कर ले वह थोड़ी देर में ही विष्ठा (मल) के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे अपवित्र शरीर में अहम् बुद्धि करने वाले वास्तव में कभी शुद्ध नहीं हो सकते है। बाहरी तथा आन्तरिक शौच के द्वारा जब स्वयं के शरीर तथा दूसरे शरीर में वैराग्य और मन में प्रसन्नता तथा ज्ञान के प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है, तब जाकर कहीं आत्मसाक्षात्कार की योग्यता आती है।[4]

स्वयम्भू (प्रभु) ने इन्द्रियों के छेदों को बाहर की ओर किया है। इसीलिए मानव बाहर की ओर ही हमेशा देखता रहता है। उसकी कामना बाहरी संसार में ज्यादा आकर्षित होती है। वह अपने अन्दर थोड़ा भी नहीं झांकता है कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ, मेरा जन्म क्यों हुआ है। कोई धीर गंभीर मानव ही अमृत को चाहता हुआ, अपनी आंखों को बन्द करके अन्तर्मुख होकर उस आत्मा को जो उसके अन्दर विराजमान है उसको देखता है। इस प्रकार से इन्द्रियों को अपने वश में कर लेने पर ही चित्त में विवेक–ख्यातिरूपी आत्मदर्शन की योग्यता मिल जाती है।[5]

सुखी मनुष्यों से प्यार, दुखियों के लिए दया, पुण्यात्माओं के प्रति प्रसन्नता तथा पापियों के प्रति उदासीनता की भावना रखने पर चित्त प्रसन्न व शान्त रहता है। संसार के सभी सुखी जीवों के साथ प्रेम का भाव रखने पर चित्त का ईर्ष्या–मल नष्ट हो जाता है। जलन की अग्नि बुझ जाती है। संसार में अपनो को सुखी

देखकर खुश होते है, क्योंकि उन्हें अपना मानते है, यदि इसी प्रकार से सभी सुखी जीवों को देखकर अपने चित्त को प्रसन्न रखा जाए तो, जो दूसरों को सुखी देखकर जलन पैदा होती है वह समाप्त हो जाएगी। दुःखी प्राणियों के प्रति दया करने पर, अपकाररूप चित्त का मल नष्ट हो जाता है। जब अपने पर कष्ट आता है तो उसे दूर करने के लिए किसी दूसरे से नहीं पूछते है, या फिर कष्ट आने से पहले ही उसका उपाय निकाल लेते है। यदि ऐसी ही भावना संसार के सभी दुःखी प्राणियों के साथ हो जाए तो बहुत से लोगों का दुःख दूर भाग जाएगा। धार्मिक लोगों को देखकर हर्षित होने से दोषारोपण नामक असूया मल नष्ट हो जाता है। इसी के साथ–साथ ही धार्मिक पुरुष की भांति चित्त में धार्मिक वृत्ति जाग्रत हो जाती है। असूया के नष्ट होने से चित्त शान्त हो जाता है। पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखने पर चित्त का क्रोध रूप मल का नाश हो जाता है। पापों का चिन्तन न होने से उनके संस्कार अन्तःकरण पर नहीं पड़ते है। किसी भी जीव से घृणा नहीं होती है, इससे चित्त में शान्ति बनी रहती है।[6]

उपर्युक्त व्याख्या से यह सिद्ध हो जाता है कि मोक्ष को प्राप्त करने वाले मनुष्य को शौच का पालन करना परम आवश्यक धर्म है, तथा उसको पूरा करने के लिए बाह्य तथा अभ्यान्तर दोनों शौच का पालन करना चाहिए।

निष्कर्ष :

बाह्य शौच तथा आन्तरिक शौच का पालन जब मानव पूर्ण रूप से करने लगता है तो वह अपना कदम नैतिकता की ओर स्वयं बढ़ाने लगता है। वह एक सभ्य मानव की तरह रहने लगता है, उसे अपने शरीर तथा दूसरे के शरीर के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहा जाता है। वह विपरीत लिंग के साथ संसर्ग भी नहीं करना चाहता है। ऐसा मानव जब वह हो जाए तो उससे समाज का कल्याण ही होता है। उसके अन्दर से दूसरों के प्रति जो जलन, ईर्ष्या–द्वेष की भावना है वह समाप्त हो जाती है वह सबमें अपने आपको देखता है एवं अपने में सबको, जिसके कारण वह किसी से किसी प्रकार का भेद–भाव नहीं करता है। इस प्रकार से देखा जाए तो "शौच" का पालन करने वाला मानव संसार के लिए नैतिकता को प्रदर्शित करता है तथा समाज का कल्याण भी होता है।

संदर्भ सूची –

1. तीर्थ, श्रीस्वामी ओमानन्द, पातंजलयोगप्रदीप, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या–433
2. शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः। पातंजल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र–40
3. सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।
   पातंजल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र–41
4. पोद्दार, हनुमानप्रसाद, मानव–धर्म, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ संख्या–40
5. पराचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
   कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्। कठोपनिषद् अध्याय– द्वितीय, बल्ली–प्रथम, मन्त्र–प्रथम
6. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुः खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसाद –नम्, पातंजलयोगसूत्र, समाधिपाद, सूत्र–33

बौद्ध धर्म का पर्यावरण में योगदान

डॉ. भारत वालोंद्रे
तत्त्वज्ञान विभागप्रमुख
नबीरा महाविद्यालय, काटोल
जिला–नागपूर

भगवान बुद्ध का मानवतावादी पर्यावरणीय दर्शन सभी परिस्थितियों का एकमात्र रास्ता है। बुद्ध ने मानव कल्याण के लिए समानता, नैतिकता और अहिंसा का मार्ग जन–जन तक पहुचाया था। सभी प्राणि सुखी हो, सभी कुशल हो तथा सभी एक दूसरे के कल्याण की कामना करें यहीं उनका उपदेश रहा है। बुद्ध के पंचशील में पहिला ही शिल 'प्राणातिपाता वेरमणी सिखापदं समादियामि' सभी प्राणि मात्रां के प्रति करुणा का भाव रखे ऐसा कहा है।

बुद्धकालीन मानव एवं पर्यावरण अध्ययन का मुख्य आधारबिंदू है। बुद्धकालीन मानवदर्शन के विकास में पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। पर्यावरण दृष्टिकोण से पाली त्रिपिटक का महत्त्व अनन्य साधारण रहा है। पालि त्रिपिटक में सुत्त पिटक, विनय पिटक एवं अभिधम्म पिटक है इन ग्रन्थों में कई स्थानों का वर्णन है, जो मानवदर्शन एवं पर्यावरण के विकास में सहायक है। अट्ठकथाओं में बुद्धकालिन भारत के लिए जम्बुद्वीप का प्रयोग हुआ है। जम्बुद्वीप पुराणों में भी वर्णित है। भारत सप्त द्वीपों में विभक्त है जिसका नाम (1) जम्बु (2) शाक (3) कुश (4) शाल्मक (5)क्रौंच (6) गोमेद और पुष्कर इस प्रकार था।[1]

जम्बुद्वीप के संबंध में ऐसा कहा है कि बुद्ध केवल जम्बु में ही उत्पन्न होते हैं। इस क्षेत्र का जम्बुद्वीप नाम इसलिए पड़ा क्योंकि जम्बु अर्थात् जामुन नामक वृक्ष की संख्या अधिक पायी जाती थी। जम्बुद्वीप सुमेरू पर्वत की दक्षिण में है। इसमें हिमालय पर्वत सम्मिलित था, चौर्‍याशी हजार चोटियां थी बुद्धघोष के अनुसार जम्बुद्वीप का क्षेत्रफल 10 हजार चोटिया थी। इनमें 3000 योजन जंगल फैला हुआ था और 3000 योजन में मनुष्य रहा करते थे। इस क्षेत्र से गंगा, यमुना, सरयू जैसी नदियाँ निकली हुई थी।[2]

पालि त्रिपिटक में ऐसा वर्णन आया कि, बुद्ध बुद्धत्व प्राप्ति के बाद राजगृह के लिट्ठवनुय्यान के सुप्रतिष्ठ चौत्य में ठहरे थे जो आज वेणुवन के नाम से विख्यात है, वहां बासों का वन था। बुद्धघोषने इसे तालुय्याम कहा जाता था। विनय पिटक के अनुसार राजा बिम्बिसार लट्ठिवन उद्यान में बुद्ध से मिलने आये और दूसरे दिन वह भिक्षुसंघ को भोजन अर्पित करने के बाद यह वन भी अर्पित किया था। यह वन बाद राजगृह और मगधप्राप्त का प्रचार का केंद्र बना था वेनुवन के जीवों के प्रति उस समय के लोग दया का भाव रखते थे वेणुवन के लोग पर्यावरण शुद्ध रखने में अपना योगदान देते थे।

राजगृह के चारों ओर बौद्धकालिन पर्यावरण था। आसपास में रमणीय स्थल, वन, गुफा, पर्वत काफी आकर्षक तथा मनोरम थे। ये सभी भगवान बुद्ध के जीवन कार्य से संबंधित थे। इसके अलावा वैशाली में अम्बपालिवन, जनपद में अमबाहक वन, श्रावस्ती में अन्धवन तथा जेतवन, भद्दिय राज्य में जातियवन, भद्रगवर्णी में कप्परिण्यवन, बुद्ध का जन्म स्थल लुम्बिनी वन (वर्तमान में रूम्मिनदेई), वज्जी जनपद के हस्तिनाग्राम में नागवन, नालंदा में पावारिकम्बनवन का (आम्रवन) यह राजा प्रवारिक ने भिक्षु संघ को अर्पित किया था।[3] सुसमार गिरि में भेसकलावन मृगदाय, कौशल जनपद में सेजन्य नगर में सिसंपावन कौशाम्बी में भी सिसंपावन थे। हिरण्यवती नदी के तट पर कुशीनारा के पास उपवतन शालवन था। बुद्धकालिन नदियां, पर्वत, वन, झील, तालाब एवं सरोवर आदि चिजे प्रभावित करती थी। बोधगया की निरंजना नदी उदाहरण के रूप विख्यात है। यह सभी बौद्ध धर्म ग्रंथ के अध्ययन से उपरोक्त सारी बाते स्पष्ट होती है।

वन तथा जंगल बौद्ध विहारों के पर्यावरण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। राजगृह स्थित वेणुवन, वैशालिका अम्बापालि वन, साकेत स्थित अन्जनवन, श्रावस्तीका अन्धवन, नालंदा का पावारिकाम्बन, कोसल जनपद का सिंसपावन, कुशीनारा स्थित उपवतन, शालवन बुद्ध के जन्मस्थल स्थित लुम्बिनीवन इस प्रकार के कई सारे वन थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि, बुद्ध काल में वनों का भण्डार था। बौद्ध धर्म का प्रकृति प्रेम में बड़ा योगदान है । इस धर्म ने अहिंसा का संदेश हमारे मानव समाज को दिया। सम्राट अशोक ने युद्ध और हिंसा से विलग होकर बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार करने में अपना सारा जीवन व्यतित किया।

भगवान बुद्ध का जन्म साल वृक्ष तथा पीपल वृक्ष के नीचे ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और बुद्ध ने धर्म प्रचार के काल में वनों में ही अपना विहार बनाया और वहीं से ही उपदेश देते रहे। इससे यह प्रमाणित होता है कि बौद्ध धर्म प्रकृति के समीप था। इस प्रकार बौद्ध धर्म विश्व मानवता के पर्यावरणीय क्षेत्र को शाबूत, कायम रखने में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

अथर्व वेद में भी जल की शुद्धता के विषय में उल्लेख मिलता हैद्य इस संदर्भ में ऐसा कहा है–

आप इव्दा भषजीरापो अगीचातनीः

आपो विश्वस्य भेषजी स्तास्त्वा मुच्छन्तुः क्षेत्रियात् ।[4]

अर्थात् जल निःसंदेह औषधि है, जल रोगनाशक है, जल सब रोगों की दवा है, वह जल क्षयरोग से छुटा देने वाला है।

अथर्ववेद दुसरा वचन भी पर्यावरण से संबंधित है।

शुद्ध न आपस्तेन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये।

त नि दहयः पवित्रेण पृथ्वि मोत पुनामि।।[5]

अर्थात् हे मातृभूमि ! आप हमारे शरीर के लिए जल प्रवाहित करें। हमारे शरीर से उतरा हुआ जल हमारा अनिष्ट करने के इच्छुकों के पास चला जाय। हे भूमे पवित्र शक्ति से हम स्वयं को पवित्र मानते है।

यत्पर्जन्य कनिकदत्त स्तनयन् हसि हए.तः ।

प्रतिदंविश्वं मोदतये यत किन्च पृथिव्यामाधि ।।[6]

ऋग्वेद में भी जल को औषधिय गुणों से युक्त माना गया है। इससे यह स्पष्ट होता है की आयुर्वेदशास्त्र भी पर्यावरण से ही जुड़ा है।

पर्यावरण शब्द विन्यास के आधार पर आवयते से बना है जिसका अर्थ है जो हमे चारों ओर से धारण किये हुए है। अतः इसके अन्तर्गत प्रकृति के सभी तत्त्व अर्थात आकाश, अग्नि, पर्वत, नदियों, वृक्ष, वनस्पति, जीव–जन्तु, गृह नक्षत्र यह सम्पूर्ण सम्मिलित हो जाते है। संस्कृत कोश के अनुसार पर्यावरण 'परि' एवं 'आवरण' इन दो शब्दों से बना है। परि का अर्थ सभी ओर, चारो तरफ और आवरण का अर्थ घेरा, दीवार, ढंकना है।[7] पर्यावरण का आंग्ल भाषा में Environment शब्द फ्रेन्च भाषा के Environer से बना है। जिसका अर्थ समस्त परिस्थिती तथा परिवृत्ति से होता है और विश्वकोश में इसका अर्थ सभी दिशाये, संगठन एवं प्रभ सम्मिलित किया गया है।[8]

पर्यावरण शब्द का सबसे सरल अर्थ 'आस–पास' वैज्ञानिक दृष्टि से पर्यावरण जीवों की अनुक्रिया को प्रभावित करने वाली परिस्थिति के का योग है। पर्यावरण जैविक एवं अजैविक घटकों को दर्शाने वाली क्रिया प्रक्रिया है। पर्यावरण चेतना एक ऐसा तथ्य है जो मानव व्यवहार को नियंत्रित रखने की क्षमता रखता है। इसीके द्वारा निर्णय प्रभावित होते है। पर्यावरण चेतना मानव को मानसिक अनुभूति है, जो समय एवं पारिस्थिति के साथ–साथ परिवर्तित होती रहती है। भारत में स्टॉफ होम सम्मलन 1972 में हुआ था जिसमें पर्यावरण की नींव रखी गई। बाद भारत में सरकारी स्तर से पर्यावरण संबंधी कार्यक्रम चलाये जाने लगे। विज्ञान एवं प्रौद्योगिक मंत्रालय के अन्तर्गत पर्यावरण नियोजन कार्यालय की स्थापना हुई। आगे वह पर्यावरण मंत्रालय के रुप में

विकसित हुआ। 1976 में 42 वे संविधान संशोधन द्वारा एक नया नीति निर्देशक तत्व अनुच्छेद 48 जोड़ा गया। जिसके अनुसार राज्य का यह कर्तव्य होगा की वह पर्यावरण को बनाये रखे और उसे सुधारे देश ।

वर्तमान में पर्यावरण की उत्पत्ति की संकल्पना का बीजारोपण 19वीं शताब्दी में Origin of Species यह किताब चार्ल्स डार्विनने लिखी जिसमें पर्यावरण पर प्रकाश डाला है। आज भी पर्यावरण संरक्षण के लिए लोग लड़ते हुये दिखाई देते है। 5 जून को सम्पूर्ण विश्व में पर्यावरण दिन मनाया जाता है। पर्यावरण के प्रति सर्तकता लाने के लिए पर्यावरण के संदर्भ अनुसार क्रमों में भी यह बाते डाली गई है। मानव एवं पर्यावरण के बीच वनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पर्यावरण इको तंत्र के सुरक्षित, संचालित एवं प्रगतिशील बनाता है। जब किसी प्रदेश में वनों को कहा जाता है वहाँ अनेक प्रकार के संसाधन वन्य जैव जगत भूमिका उपजाऊ वन जल जैसे महत्त्वपूर्ण कारक नष्ट हो जाते है।

बढती जनसंख्या आर्थिक सुधार एवं स्वच्छ वातावरण ने वन तकनीक पर आधारित नये मकान, घरेलू फर्नीचर, कागज उद्योग के विकास, इमारती लकडी, जलाऊ लकडी आदि में वृद्धी होने से वनों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। औद्योगिक विकास एवं कृषि के क्षेत्र में व्यापक विकास के कारण वनों की बड़े पैमाने पर कटवाई हुई। 20वीं सदी के अन्त तक भयानक जनसंख्या विस्फोट ने वनों का अधिकांश भाग कृषि एवं उद्योग के रूप में बदल दिया। वैज्ञानिक विकास से वनों पर व्यापक स्तर पर बुरा असर पड़ा। फलतः वन समाप्त होते गये और हमारा पर्यावरण प्रदूषित होता गया। वैज्ञानिक औद्योगिक विकास व परमाणू विस्फोट तो वायुमंडल के ओजोन परत को ही नष्ट करने लगा। विश्व के लोगों के सम्मुख पर्यावरण संरक्षण की चिन्ता सताने लगी, इसके बावजूद आज विकसित देश इस पर ध्यान देते नजर आते दिखाई देते है।

प्रदुषण के बुरे प्रभाव के कारण दिनोदिन नई–नई बिमारियाँ पैदा हो रही है। जनसंख्या विस्फोट के कारण मानव को सम्मुख सुख सुविधा प्राप्त करने के लिए पर्यावरण के मुलाधार पेड़ पौधे टिक हुये भी दिखाई देते है। अच्छे भवन निर्माण के लिए पेड पौधे महत्त्वपूर्ण साबित हो रहे है। नये तकनीक उद्योग एवं नये प्रौद्योगिक का प्रयोग तेजी से होने लगा है। जिससे हमारा वायुमण्डल प्रदूषित होते जा रहा है। क्लोरो कार्बन के उर्त्सजन को रोककर मानव कार्यो द्वारा ओजोन गैस में कमियां नजर आते दिखाई देती है। वायुमंडल में 20–22 किलोमिटर उँचाई में उडने वाले जेट विमान नाइट्रोजन ऑक्साइड के कारण ओजेन का ऑक्सीजन एवं मोनो ऑक्साइड में विघटन हो जाता है। इसी कारण ओजेन वायु कम कम होते जा रहा है ओजेन वायु के सुर्य की किरणे पृथ्वी तक रोकने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है।"

पर्यावरण के बचाव में कुछ सुझाव इस प्रकार है।

1) वृक्षरोपण को बढावा : प्रत्येक नगर में पर्यावरण संगठन बनाकर पर्यावरण के संबंध में जागृति लानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पेड लगाये और अपने पीढी को भी इस रास्ते पर चलने लगाये।

2) ओजोन गॅस के प्रमाण बढाने के लिए रेफ्रिजरेटर तथा एयरकंडिशन चिजों का इस्तेमाल कम करे हवा में उडनेवाले प्रवासी संसाधन का उपयोग कम करे। हवा में नाइट्रोजन आक्साइड, मोनोक्साइड इस वायु में ओजोन परिवर्तित होने से प्रदुषण का प्रमाण बढता है इससे तापमान में वृद्धि होगी और यह मानव जीवन के लिए हानिकारक है।

3) जनसंख्या पर रोक : प्रकृति को संरक्षित रखने के लिए हमे जनसंख्या पर काबू पाना होगा। दिनों दिन जनसंख्या की आबादी बढते जा रही है। इस पर रोक लगाना आवश्यक है तभी पर्यावरण शाबुत रहेगा।

4) स्वास्थ्य के प्रति सजगता : सभी मनुष्य ने स्वास्थ के लिए मानवीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। पर्यावरण के संबंध में पत्रिकाएँ तथा साहित्य प्रकाशित करना चाहिए दूरदर्शन तथा आकाशवाणी द्वारा समाज को जागृत करे। महाविद्यालय में बच्चों को पर्यावरण के बारे में सजग करे। इस प्रकार मनुष्य ने अपने रक्षा के लिएं आगे आये।

पर्यावरण को समतुल्य बनाएं रखने के लिए वनस्पति जगत की सुरक्षा एवं संरक्षण अति आवश्यक है। आज विश्व के औद्योगिक देशों में जो पर्यावरण को प्रदुषित किया है उससे ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्या उत्पन्न हो गई है। वनसंपदा तथा पर्यावरण के लिए कुछ कठोर कदम उठाना चाहिए कि वनस्पति जगत को सुरक्षा प्रदान करने के लिए, पर्यावरण संतुलन बनाये रखने के लिए नीतिदर्शक के अनुरूप कार्य करना चाहिए मानव को सभी पशु–पक्षी एवं वनस्पतियों के प्रति सन्मान की भावना रखनी चाहिए।

मनुष्य को अपने सम्पूर्ण विकास का अधिकार है यह वन्य प्राणियों को भी होना चाहिए। वास्तव में मनुष्य को नैतिक प्राणी माना जाता है। तथा इसे विवेकशील प्राणी भी कहा जाता है। परंतु मनुष्य का विवेक अन्य प्राणियों पेड़ पौधे के प्रति करूणा की भावना जगते हुये दिखाई नही देता। इसके पश्चात सरकार ने संगठन बनाकर प्रोत्साहित करना चाहिए। नीजी वाहनों के बजाय सार्वजनिक वाहनों का इस्तेमाल करना चाहिए। वनसंपदा बचाने के लिए कठोर नियम बनाने चाहिए। वनों में अधिकतर वृक्षरोपण होना चाहिए। इस तरह की योजना राज्य सरकार अंमल में लाती है तो निश्चित तौर पर पर्यावरण के प्रति सचेत और सजगता आऐगी।

सन्दर्भ :

1. कौशल्यायन आनन्द, जातक कथा, भाग 1, पृ.1
2. हॉर्डी स्पेन, मैन्युअल बुद्धिजम ज्योआग्रॉफी अर्ली बुद्धिज्झम लॉ, पृ.17
3. बुद्धघोष आचार्य, समन्तपासादिका, भाग–3, पृ.575
4. अथर्ववेद, पृ 3.7.5
5. तत्रैव, पृ. 12.1.33
6. ऋग्वेद, पृ.5.83.9
7. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ.580
8. Universal Enclyclopedia, Vol-6, p-310-
9. अंर्तराष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन टॉक होम, 1972
10. पाण्डे, डॉ. जनार्धन, स्वात्र्योत्तर गांधी विचार, गौतम प्रकाशन, भागलपूर, पृ. 327

******

जैन, बौद्ध तथा गांधी दर्शन का भारतीय संस्कृति पर प्रभाव : एक तुलनात्मक अध्ययन

लालबिहारी कुशवाहा
एम.ए./नेट/शोधार्थी
अ0प्र0सिंह विश्वविद्यालय रीवा (म0प्र0)
प्रो0 श्रीकान्त मिश्र
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
अ0प्र0सिंह विश्वविद्यालय रीवा (म0प्र0)

शोध सरांश–

"भारतीय दर्शन" एक शब्द है जो भारतीय दर्शनिक परंपराओं को संदर्भित करता है, जिनमें भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित विभिन्न दार्शनिक प्रणालियां शामिल है। ये दार्शनिक प्रणालियां मूलभूत प्रश्नों पर विचार करती हैं जैसे कि वास्तविकता की प्रकृति, चेतना, अस्तित्व, और आत्मा। कुछ मुख्य भारतीय दर्शनों में वेदांत, न्याय, वैशेषिक, योग, और मीमांसा शामिल हैं।
"भारतीय संस्कृति" भारतीय संस्कृति को संदर्भित करता है, जो बहुत विविध और समृद्ध है, जिसे देश के इतिहास, विभिन्न धार्मिक परंपराएं, भाषाएँ, रीति–रिवाज, और कला–फंसों ने आकार दिया है। भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएं इसमें धार्मिक विविधता, त्योहार और उत्सव, संगीत, नृत्य, कला और साहित्य, आदि शामिल हैं।

जैन, बौद्ध और गांधी दर्शन में कई समानताएं है। ये तीनों धार्मिक अनुयायी अहिंसा, करुणा, समता, शांति और सच्चाई की महत्वपूर्ण अहमियत को मानते हैं। उनके मानने का तरीका अलग हो सकता है लेकिन उनकी मूल भावनाओं में समानता देखी जा सकती है। जैन धर्म में अहिंसा को बहुत महत्व दिया जाता है, जैसे कि बौद्ध धर्म में भी। दोनों ही धर्मों में प्राणियों के प्रति समान दृष्टि से देखा जाता है। गांधी दर्शन में भी अहिंसा और शांति को मुख्य स्थान दिया गया था, जो उनके अहिंसक आंदोलनों से प्रकट होता है। सभी में से, समता और सामाजिक न्याय के प्रति मानविक अधिकार की प्रतिक्षा भी महत्वपूर्ण है। गांधी जी ने समाजिक भेदभाव, जातिवाद और अन्य अंतरिक्षों को दूर करने के लिए काम किया। जैन और बौद्ध दर्शन भी समान रूप से समाजिक समरस्ता के लिए महत्वपूर्ण समझते हैं। ये तीनों दर्शन मूल रूप से व्यक्ति की आत्मा शुद्धि और मानसिक शांति पर बल देते हैं, जो सभी के हित में हैं।

बीज शब्द – दर्शन, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, गांधीवाद, भारतीय समाज, संस्कृति, पंचमहाव्रत, आष्टांगिक मार्ग, एकादश व्रत आदि।

भूमिका

भारतीय दर्शन, जिसमें भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित विभिन्न दार्शनिक परंपराओं को शामिल करता है, के लिए है। इन दर्शनिक प्रणालियों ने अक्षरण, ज्ञान, और आत्मा की प्रकृति के बारे में मौलिक प्रश्नों का अध्ययन किया है। कुछ मुख्य भारतीय दर्शन के विचारधारा हैं:

हिन्दू दर्शनः हिन्दू दर्शन भारतीय दर्शन के महत्वपूर्ण हिस्से है और वेदांत, न्याय, वैशेषिक, योग, और मीमांसा जैसी विभिन्न प्रमुख प्रणालियों को शामिल करता है। इन प्रणालियों ने वास्तविकता, ज्ञान, और जीवन के आखिरी उद्देश्य के बारे में बिभिन्न दृष्टिकोणों का अन्वेषण किया है।

बौद्ध दर्शनः भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बौद्ध दर्शन है, जिसमें भिक्षु दर्शन, महायान, और वज्रयान जैसी बौद्ध दर्शन की विचारधाराएं शामिल हैं, जिन्होंने भारतीय दर्शन के धरोहर को गहरे प्रभावित किया है।

जैन दर्शनः जैन दर्शन एक और प्राचीन भारतीय दर्शन परंपरा है, जिसमें अहिंसा, सत्य, और अपरिग्रह के महत्व को जोर दिया गया है। जैन दर्शन वास्तविकता, कर्म, और मोक्ष के मार्ग के बारे में अध्ययन करता है।

चार्वाक दर्शनः चार्वाक, जिसे लोकायत के रूप में भी जाना जाता है, भारतीय दर्शन का एक सामग्रीवादी और नास्तिक प्रमुख है, जो प्राप्त अनुभव के महत्व को जोर देता है और अद्भुत के अस्तित्व को नकारता है।

"भारतीय संस्कृति" भारतीय संस्कृति को सूचीपूर्ण रूप से जाना जाता है, जिसे देश के इतिहास, विभिन्न धार्मिक परंपराएँ, भाषाएँ, रीति–रिवाज, कला रूप, स्थापत्य, साहित्य, खाना–पीना, और आध्यात्मिकता के साथ बनाया गया है। भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण विशेषताएँ शामिल हैं।

भारतीय संस्कृति में इन विशेषताओं के अलावा भी अनेक गुण हैं जो इसे विश्व भर में प्रसिद्ध बनाते हैं। यह समृद्ध संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो अनेक वर्षों से एकीकृति, एकता और सामाजिक सहानुभूति का उदाहरण प्रस्तुत करती आई है।

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति की विशेषताएँ –

भारतीय संस्कृति, यानी इंडिया की संस्कृति, दुनिया भर में अपनी विविधता और समृद्ध परंपराओं के लिए प्रसिद्ध है। यहां की कुछ मुख्य विशेषताएँ हैं:

समृद्ध इतिहासिक विरासतः भारत, अपने समृद्ध इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व के लिए प्रसिद्ध है। देश में अनेक पुराने शहरों, भव्य स्मारकों और इतिहासिक स्थलों की भरपूर संख्या है।

धार्मिक आदर्श : भारत में धार्मिक आदर्शों का बड़ा महत्व है। यहां की संस्कृति में हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन और अन्य सम्प्रदायों का समावेश होता है। सभी धर्मों के प्रति सम्मान और सम्वेदना भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

विविधता और एकताः भारतीय संस्ति में सामाजिक, भाषिक और सांस्तिक रूप से अनेकता है। यहां अलग–अलग क्षेत्रों में अलग भाषा, परंपरा और आचार–विचार देखे जा सकते हैं। फिर भी, एकता और सद्भावना की भावना यहां की संस्ति के एक मुख्य स्तंभ हैं।

कला और साहित्य की प्राचीन परंपराः भारत की कला और साहित्य में अनेक वर्षों की प्राचीन परंपरा है। भारतीय रंगमंच, संगीत, नृत्य, चित्रकला और साहित्य दुनिया भर में प्रसिद्ध हैं। कथक, भरतनाट्यम, हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत और कथकली जैसे प्रमुख नृत्य शैलियां और संगीत परंपरा भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

परंपरा और परंपरागत उत्सवः भारत में अनेक परंपरागत उत्सव होते हैं, जैसे होली, दिवाली, दुर्गा पूजा, ईद, क्रिसमस, गुरु नानक जयंती और अन्य। ये उत्सव भारतीय संस्कृति के मूल भाग हैं और लोग इन उत्सवों को बड़े उत्साह और हर्ष के साथ मनाते हैं।

आचार्य परंपराः भारतीय संस्कृति में गुरु–शिष्य परंपरा का बहुत महत्व है। यह परंपरा विद्या, कला और दर्शन की परंपरा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

भारतीय संस्कृति में इन विशेषताओं के अलावा भी अनेक गुण हैं जो इसे विश्व भर में प्रसिद्ध बनाते हैं। यह समृद्ध संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो अनेक वर्षों से एकीकृति, एकता और सामाजिक सहानुभूति का उदाहरण प्रस्तुत करती आई है।

जैन दर्शन एवं भारतीय संस्कृति

जैन धर्म, भारत की प्राचीन धार्मिक परंपराओं में से एक है। यह ऐतिहासिक रूप से बहुत प्राचीन है और मूल रूप से सम्यक दर्शन पर आधारित है। जैन धर्म की मुख्य विशेषताएँ और उसके सिद्धांत निम्नलिखित हैं:

1. अहिंसा का महत्वः जैन धर्म में अहिंसा का विशेष महत्व है। यहां पर अहिंसा का पालन न केवल भोजन और व्यवहार में होता है, बल्कि सोच और विचार धारा में भी व्याप्त है।

2. अनित्य और अस्मिता सिद्धांतः जैन दर्शन में संसार के अनित्य और अस्मिता पर विशेष बल दिया गया है। इसके अनुयायी मानते हैं कि संसार में सब कुछ अनित्य है और इसमें आसक्ति लेने से ही दुःख का कारण बनता है।

3. मोक्ष की प्राप्तिः जैन धर्म के अनुयायी मोक्ष या मुक्ति को सबसे उच्च लक्ष्य मानते हैं। इसके लिए विशेष आचरण और सम्यक दर्शन की आवश्यकता होती है।

4. पंचमहाव्रतः जैन धर्म में पंचमहाव्रत, यानी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह, का महत्व है। इन व्रतों का पालन करके व्यक्ति अपने जीवन को पवित्र और धार्मिक बना सकता है।

5. तीर्थंकर और जैन तीर्थः जैन धर्म में तीर्थंकर की बहुत महत्व है। भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक, तीर्थंकरों की महिमा और उनके दिए मार्ग का अनुयायी सम्मान करते हैं। जैन तीर्थों का देश भर में महत्व है और यहां के तीर्थ यात्री अनेक तीर्थंकरों के पवित्र स्थलों को दर्शन करने आते हैं।

भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का भी महत्व है। उसका योगदान सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में भी महत्वपूर्ण रहा है। जैन दर्शन ने अहिंसा, सत्य और सम्यक दर्शन की महिमा को समाज के माध्यम से प्रचारित किया है और उसका भारतीय संस्कृति में गहरा प्रभाव रहा है।

बौद्ध दर्शन एवं भारतीय संस्कृति–

भारतीय संस्कृति विश्व की सबसे प्राचीन और समृद्ध संस्कृतियों में से एक है। इसका इतिहास हजारों वर्षों से अधिक का है और यह कई धार्मिक और सांस्कृतिक परंपराओं का गहरा संगम है। भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बौद्ध धर्म को माना जाता है, जिसकी उत्पत्ति और विकास भारतीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

बौद्ध धर्म की उत्पत्ति गौतम बुद्ध के शिक्षाओं से हुई, जो 6वीं सदी ईसा पूर्व में हुई थी। इसमें अहिंसा, शांति, समता और मानवता के सिद्धांतों की मान्यता होती है। बौद्ध धर्म ने भारतीय समाज में समाजिक असमानता, जातिवाद और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई और समाज को समृद्धि, शांति और सद्गुणों की दिशा में मार्गदर्शन किया।

बौद्ध धर्म के विचारों ने भारतीय संस्कृति को अनेकानेक देशों में फैलाया, जिनमें चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत, नेपाल और सिडनी शामिल हैं। इससे भारतीय संस्कृति का संदेश विश्व के अन्य हिस्सों तक पहुंचा, जिसने विश्वास की और समर्थन की भावना को बढ़ावा दिया।

भारतीय संस्कृति में बौद्ध धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। यह धर्म न केवल आत्म–विकास और शांति की ओर मार्गदर्शन करता है, बल्कि इसके सिद्धांतों ने भारतीय समाज को समृद्ध, सद्गुणी और सहानुभूति पूर्ण बनाया है। इसके अलावा, बौद्ध धर्म ने कला, साहित्य, और विज्ञान में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसने भारतीय संस्कृति को विश्व स्तर पर मान्यता दिलाई है।

इस प्रकार, बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर है जो मानवता, समृद्धि, शांति और सहानुभूति की मूल भावनाओं को अपनाती है। इसके सिद्धांतों ने समाज में समानता और शांति की भावना को बढ़ावा दिया है और भारतीय संस्कृति को विश्व स्तर पर महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

बौद्ध धर्म का महत्वः

- शांति और सहमति का सन्देशः बौद्ध धर्म में अहिंसा, शांति और सहमति का महत्वपूर्ण स्थान है। यह धर्म अनिवार्य रूप से सभी प्राणियों के प्रति करुणा और सहमति की बढ़ावा देता है।
- गौतम बुद्ध का जीवन और उनके उपदेशों का महत्वः गौतम बुद्ध के जीवन और उनके उपदेश बौद्ध धर्म के मूल हैं, और ये मानवता के लिए मार्गदर्शक हैं।
- विश्व की एकता का प्रतीकः बौद्ध धर्म विश्वभर में अपने अनुयायों के बीच एकता और सामंजस्य का प्रतीक है।

- भिक्षु संप्रदाय का महत्वः बौद्ध धर्म में भिक्षु संप्रदाय का महत्वपूर्ण स्थान है, जो ध्यान और सेवा के क्षेत्र में अपने योगदान के लिए प्रसिद्ध है।

बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रभावः

- कला और सांस्कृतिक धरोहरः बौद्ध धर्म ने भारतीय कला और सांस्कृतिक धरोहर को भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में आकार दिया है।
- जीवन और आदर्शः बौद्ध धर्म के आदर्श और मूल्य संस्कृति के भीतर आपसी सहमति और समरसता को बढ़ावा देते हैं।
- सामाजिक और राजनीत में प्रभाव।

गांधी दर्शन और भारतीय संस्कृति–

महात्मा गांधी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रमुख नेताओं में से एक थे, जिनका संघर्ष और दर्शन भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके दर्शन और उनकी सोच ने भारतीय संस्कृति को गहरे रूप में प्रभावित किया और उन्होंने भारतीय समाज में सामाजिक और आर्थिक उत्थान की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

- **अहिंसा और सत्याग्रहः** महात्मा गांधी ने अपने दर्शन में अहिंसा और सत्याग्रह को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने इसे समाज के विकास और समृद्धि की मूल आधारशिला बनाया। **सामाजिक समरसताः** गांधीजी ने सामाजिक समरसता की प्रेरणा दी और वे विभिन्न वर्गों और समुदायों के बीच सद्भावना और सामंजस्य को बढ़ावा दिए।
- **ग्राम स्वराजः** गांधीजी ने भारतीय समाज को ग्राम स्वराज की दिशा में प्रेरित किया, जिसमें उन्होंने ग्रामीण विकास और स्वयं सहायता को महत्वपूर्ण बताया।
- **धार्मिक समन्वयः** गांधी जी ने सभी धर्मों के प्रति समर्पण और सम्मान की भावना को अपनाया। उन्होंने धर्म के माध्यम से सामाजिक समरसता और एकता को प्रोत्साहित किया।
- **स्वदेशी आंदोलनः** गांधी जी ने स्वदेशी आंदोलन को अपने दर्शन का महत्वपूर्ण हिस्सा बनाया और उन्होंने उसे आर्थिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वावलंबन की दिशा में प्रेरित किया।

इन सभी पहलुओं के माध्यम से, गांधीजी ने भारतीय संस्ति में सामाजिक, आर्थिक, और धार्मिक समरसता को बढ़ावा दिया और उसे एक समृद्ध और समृद्धिशाली समाज की दिशा में प्रेरित किया।

उपसंहार–

समय के साथ, भारतीय दर्शन और संस्ति ने विश्व को एक साथ लाने वाली एक विशेषता और गहराई की भावना को उजागर किया है। यहाँ तक कि आधुनिकता के दौर में भी, यह मानवता के आदर्शों और संस्कृति की मूलभूत भावनाओं के प्रति विशेष सम्मान और आदर्शवादी दृष्टिकोण को प्रामाणिक बनाए रखा है। इस प्रकार, भारतीय दर्शन और संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान विश्व सभ्यता की विविधता में एक समृद्ध और विशेष स्थान रखता है, जो समृद्ध सांस्कृतिक विरासत का प्रतीक है। इसे आगे बढ़ाकर हम समृद्ध और समर्थ समाज की ओर प्रगति कर सकते हैं, जो समृद्ध भारतीय विचारधारा और सांस्कृतिक विरासत के प्रति निष्ठावान रहता है।

भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति दोनों ही हमारे समाज और सभ्यता के महत्वपूर्ण हिस्से हैं। भारतीय दर्शन हमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को समझने और सभ्य तरीके से उन्हें अपनाने का मार्ग दिखाते हैं, जबकि भारतीय संस्कृति हमें एकजुटता, सहयोग, और समृद्धि की दिशा में मार्गदर्शन करती है। यह दोनों मिलकर हमें अपने जीवन को अधिक सार्थक और समृद्ध बनाने में मदद करते हैं। इसलिए, हमें अपने भारतीय दर्शन और संस्कृति की मूल्यांकन करने के साथ, उन्हें अपने जीवन में अपनाने का प्रयास करना चाहिए। इससे हम अपने समाज को मजबूत और समृद्ध बना सकते हैं और हमारी संस्कृति को जीवंत रख सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. वर्मा वेदप्रकाश, (2013) :नीतिशास्त्र के मूलसिद्धांत, एलाइड प्रकान, लखनऊ ।
2. राधाकृष्णन सर्वपल्ली (1923) : भारतीय दर्शन, जार्ज एलन एंड अनविन पब्लिकेशन लंदन।
3. अंबेडकर बी0 आर0 (1957) : द बुद्धा एंडहिज धम्म, सिद्धार्थ कालेज प्रकाशन, मुम्बई।
4. जैन विवभारती विवि (2001): जैन संस्कृति एवं जीवन मूल्य, जैन विवि प्रकाशन, लाडनू, राजस्थान।
5. शर्मा चंद्रधर (1971): भारतीय दर्शन आलोचना एव अनुशीलन, मोतीलाल बनारसी दास प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. श्रीवास्तव के0सी0 (1991) :भारत की संस्कृति तथा कला, यूनाइटेड बुक डिपो।
7. राजेद्रबाबू, (2013) : गांधी की देन, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. डॉ. राधाकृष्णनसर्वपल्ली (2015): हमारी संस्कृति एवं सत्य की खोज, हिंदपॉकेट बुक्स, पुनर्मुद्रित।
9. सिन्हा प्रो0 हरेन्द्रप्रसाद (2016) : भारतीय दर्शन की रूपरेखा, बनारसीदास प्रकाशन, नईदिल्ली।
10. B.R. Ambedkar, Budhha and his Dharma: Sidhharth Prakashn Bomby
11. लाल, बसन्तकुमार (2006): समकालीनभारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
12. पाण्डेय, प्रो. संगमलाल (1968) : गाँधी का दर्शन, दर्शनपीठ इलाहाबाद,
13. नैय्यर सुशीला (2016) : बापू की कारावास की कहानी, सस्तासाहित्य प्रकाशन, नईदिल्ली,
14. गांधी, मो. क.(1945) : मेरे समकालीन, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, ।
15. गांधी, मो. क. (1945) : ब्रह्मचर्य (भाग–1), नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद
16. बंग, ठाकुरदास : महात्मागांधी, सर्व सेवासंघ प्रकाशन, वाराणसी, online edition downoaded from http://www.sssprakashan.com.
17. मिश्रा श्रीकान्तः (2018) भारतीय नीतिशास्त्र एक परिचय, श्री विनायक प्रकाशन आगरा।
18. कुमार, अभय (2016) : सत्यनिष्ठा, अभिरुचि एवं नैतिकता, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
19. शर्मा रामशरण(2006) : प्राचीन भारत का इतिहास, एन सीआरटी प्रकाशन ईदिल्ली।
20. चंद्रविपिन(2016): भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली विवि।
21. एनसीईआरटी (2012) – भारतीय समाज।

****

सत्यानंद योग परंपरा : योग अभ्यास से योग संस्कृति तक की यात्रा

डॉ.विनय पटेल
योग आचार्य
महर्शि महेषयोगी वैदिव विश्वविद्यालय
जबलपुर

योग इस शताब्दी का सबसे लोकप्रिय विषय बन गया है। दर्शन और विज्ञान दोनों के विद्वान आज साथ बैठकर योग की चर्चा और अभ्यास कर जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। योग अज्ञान से ज्ञान की ओर, शक्तिहीनता से शक्ति सम्पन्नता की ओर, घृणा से प्रेम की ओर, तृष्णा से तृप्ति की ओर, तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर ले जाने का मार्ग है। अब यह किसी जाति, धर्म संस्कृति के दायरे में सीमित नही है अपितु सार्वभौमिक चिन्तन का विषय है। आज हर आयु वर्ग के हृदय में योग अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

आधुनिक युग में योग की कहानी का शंखनाद 1940 के दषक में स्वामी सत्यानंद जी के गुरु स्वामी श्विानंद जी ने किया। इसके पूर्व लोग इस विद्या से कम परिचित थे। योग का अस्तित्व तो था पर इसे केवल वैरागियों और साधु–सन्यासियों की साधना माना जाता था। योग का समाज में कोई स्थान नहीं था इसे समाज द्वारा अपनाये जाने और सामान्य लोगों द्वारा अभ्यास करने योग्य नही माना जाता था। सन् 1943 में, स्वामी जी ने ऋषिकेश में गंगा किनारे षिवानंद आश्रम की स्थापना के साथ योग और वेदान्त के द्वारा सेवा, प्रेम और दान का सन्देश दिया और लोगों को आध्यात्मिक जीवन, दिव्य जीवन जीने की प्रेरणा दी। कालान्तर में उन्होंने अपने शिष्यों को एक आदेश दिया–योग का सर्वत्र प्रचार करो। आज स्वामी सत्यानंद, स्वामी विष्णुदेवानंद और स्वामी सहजानंद जैसे अनेक शिष्य दुनियाभर में योग के उत्कृष्ट प्रतिपादन के लिए सुप्रसिद्ध हैं। स्वामी शिवानंद जी ने अपने शिष्य सत्यानंद जी से कहा कि –"ऋषिकेश तुम्हारे लिए छोटा पड़ेगा तुम बाहर जाओ संसार तुम्हारी राह देश रहा है। योग का प्रचार द्वारे–द्वारे तीरे–तीरे करो।" गुरु आज्ञा का पालन करते हुए सत्यानंद जी बिहार की नगरी मुंगेर पहुचे जो आज योग नगरी मुंगेर के नाम से विश्व प्रसिद्ध है।

सत्यानन्द योग परंपरा का संक्षिप्त परिचय–'योग ही भविश्य की संस्कृति है' – इस उद्घोष के साथ ही श्री स्वामी जी ने भारत भूमि में अपने मिशन का बीजारोपण किया। स्वामी सत्यानंद जी कहते हैं कि "योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन–पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।" योग विद्या की विकास यात्रा के क्रम में 1960 के दशक में योग को शारीरिक व्यायाम के रूप में देखा जाने लगा। 1970 के दषक में इसे तनाव एवं चिंता से मुक्ति का और शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में सुधार लाने का साधन माना जाने लगा। 1980 के दषक में शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य में सुधार लाने के लिए योग में निहित विभिन्न सम्भावनाओं और क्षमताओं पर व्यापक स्तर पर शोध किये जाने लगे। 1990 आते तक आसनों के अभ्यास पूरे विश्व में लोकप्रिय हो गए और योग की चर्चा नगर–नगर और डगर–डगर होने लगी।

सत्यानन्द योग परम्परा की अखंड गुरु–शिष्य श्रंखला:– योग की अलख संपूर्ण विश्व में जगाने का संकल्प गुरु शिष्य परंपरा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में अपने मूल स्वरूप में हस्तांतरित होता गया। स्वामी शिवानन्द सरस्वती से स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती जी से स्वामी निरंजनानंद सरस्वती जी को और आज स्वामी निरंजनानंद जी स्वामी जी की शिक्षाओं को प्रचारित करने का दायित्व निभा रहे हैं।

सन्यास की परम्परा का प्रशिक्षण एवं योग में अनुसंधान की आधारशिला :–भारत वर्ष मे लुप्त होती सन्यास की परम्परा और समाज में इसकी घटती लोकप्रियता को नवजीवन प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य सत्यानन्द योग की अनुपम भेंट है। सन्यास का प्रशिक्षण सन् 1964 से निरंतर चल रहा है। बिहार योग विद्यालय के संन्यासियों और शिक्षकों ने ही इस परम्परा की निरन्तरता और पवित्रता को बनाए रखा है। समर्पित और निष्ठावा लोग ही किसी मिशन के विकास में दीर्घकालीन और सकारात्मक योगदान दे सकते हैं। स्वामी जी कहते हैं संन्यासी का मूल गुण है निःस्वार्थ भावना, यह जीवन लोगों की भलाई के लिए है, अपनी भलाई के लिए कदापि नहीं। सन् 1975 से 85 के बीच स्वामी जी के मार्गदर्शन में योग पर गहन अनुसंधान कार्य हुए। उन दिनों बहुत कम संस्थाएँ योग के क्षेत्र में अनुसंधान कर रही थीं। आसन, प्राणायाम, शिथिलीकरण और ध्यान के अभ्यासों का शारीरिक और मानसि स्वास्थ्य पर प्रभाव, दमा अन्य स्वास सम्बन्धी रोग, मधुमेह, मनोरोगों आदि अनेक बीमारियों पर अनुसंधान किए गए। इस प्रकार 1975 से 85 की अवधि में बिहार योग विद्यालय का मुख्य ध्येय अनुसंधान रहा।

समन्वित योग साधना पर बल– स्वामी जी ने व्यक्ति निर्माण की सभी साधनाओं को बराबर का महत्व दिया। स्वामी जी कहते हैं कि "कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, मंत्रयोग और हठयोग जैसे अनेक योगांगों के अधिकतम लाभ के लिए संयुक्त अभ्यास की आवश्यकता है। सिर्फ एक प्रकार का योग अधिक लाभदायक नहीं होगा। जिस तरह सर्वांगीण विकास के लिए विटामिन और अन्य पोषक तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अपने व्यक्तित्व को भी अनेक पोषक तत्त्वों की आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति समन्वित योगाभ्यास से ही सम्भव है।"

योग संस्कृति का आधार अगली पीढ़ी की तैयारी:– योग की आवश्यकता उम्र बीत जाने पर नहीं, बल्कि जीवन के बसंत में है जहाँ से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है। सत्तर के दषक में शिक्षा में योग पर काफी काम हुआ। आगे चलकर यह आंदोलन 'रिसर्च ऑन योगा इन एडयुकेशन' के नाम से पूरे विश्व में फैल गया। सन् 1993 के विश्व योग सम्मेलन के बाद गंगा दर्शन में बाल योग मित्र मण्डल की स्थापना हुई जिसका लक्ष्य है स्वावलम्बन, संस्कार और राष्ट्र–संस्कृति–प्रेम। आज भारत में इस आन्दोलन से जुड़े बच्चों की संख्या पाँच लाख के करीब पहुच गई है। इन बच्चों का नारा है कि। 'जो काम बड़े लोग नहीं कर पाते वे हम छोटे बच्चे करके दिखाते हैं।' श्री स्वामी जी का स्पष्ट कहना था कि अगर हम बच्चों तक पहुँच पाते हैं और उनके जीवन की गुणवत्ता और प्रतिभा में सुधान ला पाते हैं, तो वे अपनी रचनात्मकता का अधिकतम उपयोग कर, अपने भावी जीवन के तनावों और संघर्षों का सामना बेहतर ढंग से कर पाऐंगे।

योग के दो अध्याय–

प्रथम अध्याय– 1960 के दषक में प्रारंभ हुए इस अभिमान में घर–घर योग का संदेश पहुचाने के लिए सर्वप्रथम सन्यासियों को प्रशिक्षित किया जिनका इस कार्य में कोई निजी स्वार्थ नहीं था और जो योग के प्रचार, प्रसार में अपना पूरा समय लगा सकते थे। योग के प्रति, अपने गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित लोगों ने इस कार्य का प्रारंभ किया। बिहार योग विद्यालय, शिवानंद आश्रम, योग रिसर्च फाउन्डेशन, योग पब्लिकेशन ट्रस्ट, श्री पंचदशनाम परमहंस अलखबाड़ा, अन्तर्राष्ट्रीय योग मित्र मण्डल, रिखियापीठ, बालयोग मित्र मण्डल संस्थानों की स्थापना के माध्यम से योग स्वास्थ्य रक्षा सत्र, योग शिक्षण प्रशिक्षण, आश्रम जीवन, क्रिया योग, योग विज्ञान एवं जीवन शैली जैसे अनेक प्रशिक्षण सत्रों का संचालन कर जन–जन तक योग का संदेश पहुचाने का कार्य प्रारंभ किया। प्रथम अध्याय की पूर्णाहुति 21 जून 2015 को आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस में दिखाई दी, जिसे दुनिया के 175 देषों ने अनुमोदित किया। योग नगर –नगर और डगर–डगर यह पहले अध्याय का नारा था क्योंकि उस समय योग प्रचार पर जोर दिया गया।

द्वितीय अध्याय– सन् 2013 में बिहार योग विद्यालय ने अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई। 50000 से अधिक योग साधकों, शिक्षकों, शोधकर्ताओं और आचार्यों ने भाग लिया। स्वामी निरंजनानंद जी ने योग के प्रथम अध्याय की

पूर्ण आहुति और द्वितीय अध्याय के प्रारंभ की घोषणा की जिसका लक्ष्य रखा – गम्भीरता, निष्ठा और प्रतिबद्धता के साथ योग के अंगों का बेहतर प्रयोग करना। योग को क्षण प्रतिक्षण जीना है– यही योग के दूसरे अध्याय का नारा है। *स्वामी निरंजनानंद जी कहते हैं कि "अपने यौगिक अनुभवों को गहन बनाएँ तथा योग को मात्र* एक शारीरिक अभ्यास के रूप में नहीं, बक्कि एक प्रगतिशील साधना, एक सुव्यवस्थित जीवनशैली और एक सुंदर संस्कृति के रूप में आत्मसात करें।" बिहार योग भारती के तीन लक्ष्य ऋषि परम्परा, वैदिक जीवन शैली और योग की सनातन संस्कृति। योग के विकास क्रम में हम योग को मात्र एक अभ्यास नहीं मानते बल्कि निरंजन योग संहिता में "योग को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है– अभ्यास, साधना, जीवनशैली और संस्कृति।"

योग साधना के चार स्तर:– योग आंदोलन के महानायक श्री स्वामी सत्यानंद जी ने योग को जीवन के हर एक आयाम को उन्नत बनाने के साधन के रूप में देखते हुए योग मार्ग के चार पड़ाव बताए।

योग अभ्यास– यह योग का प्रथम चरण है जिसमें व्यक्ति सिर्फ अपनी शारीरिक एवं मानसिक समस्याओं का समाधान करने के लिए योग को अपनाता है। जैसे ही उसे अपनी व्याधि से छुअकारा मिल जाता है, वह अभ्यास को त्याग देता है। अधिकतर लोग योग का उपियोग प्रायः इसी ढंग से करते हैं। शारीरिक और मानसिक व्याधि के लिए किया गया प्रयास कुछ ही महीने तक चल पाता है। यहाँ हम योग को व्यक्तिगत आवश्यकताओं और अभिलाषाओं का साधन मानते हैं।

योग साधना– इसे योग का दूसरा चरण बताया है, जिसमें साधक योग द्वारा निर्देशित लक्ष्य को प्राप्त करने की कोशिश करता है। जैसे भक्ति योग में भावनाओं का नियंत्रण, राजयोग में चंचल मनोवृत्तियों का नियंत्रण कर्म योग में अनासक्ति का भाव उत्पन्न करने का प्रयास। जो योग को इस रूप में देखता है उसे योग साधक कहा गया है। जैसे–जैसे हम योग के एक चरण से दूसरे चरण की ओर बढ़ते हैं, वैसे–वैसे योग के साथ हमारा सम्बन्ध गहन होता जाता है। जैसे–जैसे हम अपने स्वभाव, मानकिता, विवेक और व्यवहार में हो रहे रूपान्तरण को देखते हैं वैसे– वैसे योग के प्रति हमारी श्रद्धा प्रगाढ़ होती जाती है।

यौगिक जीवनशैली– तीसरे चरण में योग जीवनशैली में रूपान्तरित हो जाता है। व्यक्ति योग के सिद्धान्तों को हर समय व्यवहार में उतारने का प्रयास करता है। योग हमारी जरूरत से आदत में परिवर्तित होने लगता है। डिजाइनिंग डेस्टिनी – 'अपने हर कार्य में श्रेष्ठ बनने का प्रयास।' दैनिक योग साधना का निर्माण, आहार एवं निद्रा की सुव्यवस्था, वार्षिक चर्या आध्यात्मिक डायरी एवं सजगता का विकास आदि बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करने का प्रयास करता है। यौगिक जीवन शैली कहती है कि तुम अपने जीवन को पहले देखो और समझो। अपनी सजगाता का विस्तार करो, साक्षी बनो। साक्षी भाव का विस्तार होने पर हम अपने जीवन की आदतों को व्यवहार को देख सकते हैं। जो हानिकारक है उसे बदल सकते हैं जो लाभदायक है उसे और सक्षम बना सकते हैं। "जब हम वैदिक जीवन शैली की बात करते हैं तो किसी प्राचीन, पुरातन जीवनशैली की ओर संकेत नही कर रहे हैं, बल्कि एक व्यवस्थित जीवन शैली की ओर संकेत कर रहे हैं, जहाँ आपके दिमाग, दिल और हाथ, (बुद्धि, भावना और कर्म) तीनों में सामंजस्य रहे। वैदिक जीवन शैली एक व्यवस्थित जीवन शैली है जिसमें मनुष्य स्वयं के प्रति, अपने कर्त्तव्यों के प्रति और समाज के प्रति भी सजग रहता है।"

यौगिक संस्कृति – चौथा चरण यौगिक संस्कृति का है, जिसमें योग मार्ग का पथिक प्रकाश स्तम्भ बन जाता है, योग की सुरभि चहुँ ओर प्रसारित होने लगती है। उसे देखकर लोग योग की शक्ति, शान्ति और संपूर्णता का अनुभव करते हैं। योग संस्कृति का मतलब होता है योग की मानसिकता को अपनाने का प्रयास करना। सर्वोत्तम स्वभाव उसका होता है जो योग संस्कृति को अपनाता है। श्री स्वामी सत्यानंद जी हमेशा कहते थे कि मनुष्य अपने जीवन में कठोर भावना ही व्यक्त करता रहता है। क्रोध कठोर होता है, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा सब कठोर हैं। और इन कठोर भावनाओं को ही कोमल करना है। प्रेम, दया, करुणा, संवेदनशीलता– ये सब कोमल भावनाएँ हैं। यौगिक विचारधारा को जीवन में लाने का प्रयास हमें कठोरता से कोमलता की ओर ले जाता है और यही जीवन की पूर्ण आहुति है। ऐसी ही प्रभावशाली संस्कृति भविष्य में 'योग' होगी। स्वामी जी

कहते हैं कि "जिन–जिन देशों में योग होगा, वहाँ सुख, शान्ति और समृद्धि होगी। योग से हमार तात्पर्य एक ऐसी संस्कृति से है जो मनुष्य को विकास के उच्चतम शिखर पर ले जाएगी। योग संस्कृति इतनी शक्तिशाली संस्कृति है कि यह सारी दुनिया के धर्मों को, सारे पंथों को और सारे सम्प्रदायों को अपनी छत्रछाया में रख सकती है।"

योग के छेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिए वर्ष 2017 में स्वामी निरंजनानंद जी को पद्मभूषण सम्मान से अलंकृति किया गया और बिहार योग विद्यालय को अंतर्राष्टीय योग दिवस वर्ष 2019 के अवसर पर संस्थागत प्रधानमंत्री योग पुरस्कार प्रदान किया गया। माननीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जी कहते हैं कि "योग में मानव जाति के सर्वांगीण प्रगति एवं षान्ति, करुणा और भाईचारे के एक नए युग का निर्माण करने की छमता रखता है।" श्री स्वामीजी द्वारा अपनी प्रथम विश्व यात्रा में कही गई निम्नांकित पंक्तियाँ आज के इस चुनौतिपूर्ण दौर में भी उतनी ही प्रासंगिक और प्रेरक हैं जितनी उस समय थी–"जब चारों ओर अविश्वास फैला हो, और परिवारों तथा राष्ट्रों में गृहयुद्ध हो रहा हो और साथ–साथ मनुष्य अपनी खोज में नए सिरे से जुटा हो और मुझसे कोई पूछे सुख–शान्ति का रास्ता, तो मेरा उत्तर है दो टूक– घर–घर पहुँचाओ योग का सन्देश और सात समन्दरों पार बसने वाली धरती को योगामृत से भर दो।"

आइये स्वास्थ्य, सुख, शांति तथा संतोश की जिंदगी जीने के लिये योग अभ्यास से योग संस्कृति के मार्ग में हम सभी अपने कदम बढ़ाने का प्रयास करें।

संदर्भ ग्रन्थ

1. स्वामी ज्ञानसिद्ध सरस्वती, नवम्बर 2020, पृ.क्र.7 योग विद्या पत्रिका, शिवानन्दमठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।
2. स्वामीशक्तिमित्रानंद सरस्वती, जून 2016, पृ.क्र.14.योग विद्या पत्रिका, शिवानन्दमठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।
3. स्वामीशक्तिमित्रानंद सरस्वती, फरवरी 2018, पृ.क्र.13, योग विद्या पत्रिका, शिवानन्दमठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।
4. स्वामी शक्ति मित्रानंद सरस्वती, नवम्बर 2017,पृ.क्र.43, योग विद्या पत्रिका, शिवानन्दमठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।
5. स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती, 2013,पृ.क्र.31, बिहार योग विद्यालय का इतिहास, योगपब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
6. पातंजल योगदर्शनसूत्र–1/2
7. अनाश्रितः कर्मफलम् कार्यं कार्म करोतियः। श्रमद्भगवद्गीता 6/1
8. दाजी कमलेश पटेल, डिजाइनिंगडेस्टिनी 2019, ईकावेस्टलैन्ड पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटे
9. स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, 2013, पृ.क्र.70, यौगिक जीवन,योग विद्यालय का इतिहास, योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार भारत।
10. स्वामी निरंजनानंद सरस्वती, पृ.क्र.11,बिहार योग विद्यालय स्वर्ण जयंती प्रकाशन 2013
11. स्वामी ज्ञानसिद्ध सरस्वती, नवम्बर 2020, पृ.क्र.7, योग विद्या पत्रिका, शिवानन्दमठ, गंगादर्शन, फोर्ट मुंगेर।

ईशावास्योपनिषद–भाष्य में आचार्य शंकर कृत ज्ञानकर्मसमुच्चयकीआलोचना का समीक्षात्मक अनुशीलन।

विकास पाण्डेय
शोध छात्र, दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी–221005

भाव–सारांश : भारतीय दार्शनिक परंपरा के उद्भव एवं विकास में उपनिषदों का अतिमहत्वपूर्ण स्थान रहा है भारतीय चिंतन परंपरा में अद्वैत वेदांत के अंतर्गत प्रस्थानत्रय में उपनिषदें प्रमुख हैं। उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद जो शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का चालीसवां अध्याय है, विशेष महत्त्व का है। आचार्य शंकर ने इस पर विशद भाष्य लिखकर अपना मन्तव्य प्रकट किया है। उन्होंने उक्त उपनिषद भाष्य के प्रारंभ में सर्वप्रथम संबंध भाष्य तत्पश्चात् प्रत्येक मंत्र में वर्णित विषय तथा उसके निहितार्थ का तार्किक विश्लेषण एवं उनका समन्वय अद्वैत मत के अनुरूप किया है।

मंत्रानुसार अद्वैततत्त्व विमर्श, ज्ञानमार्ग–कर्ममार्ग का भेद, आत्मस्वरूप विवेचन, कर्म, उपासना, अविद्या, विद्या, संभूति–असंभूति आदि तत्त्वमीमांसीय–ज्ञानमीमांसीय दार्शनिक बिन्दुओं का विमर्श निहित है। आचार्य के अनुसार ज्ञानकर्म का समुच्चय नहीं हो सकता–"..ज्ञानकर्मणोविरोधं पर्वतवदकम्प्यं"। आचार्य स्वमत स्थापना हेतु अन्यान्य उपनिषदों यथा– छांदोग्य, बृहदारण्यक, महाभारतादि का उल्लेख किया है। भाष्य के उपसंहार में ग्रंथार्थ विवेचन नामक विलग प्रकरण में भगवत्पाद द्वारा ज्ञान कर्म समुच्चय विषयक पूर्व पक्ष के अनेकानेक आक्षेपों का प्रत्युत्तर दिया है। विषय वस्तु की दृष्टि से ईशावास्योपनिषद अन्य उपनिषदों का उपजीव्य कहा जा सकता है। इसका प्रभाव श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर भी दृष्टव्य है। इसमें विश्व बन्धुत्व का प्रतिपादन यथा–"यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति" जैसा दृष्टिकोण भी प्राप्त है।

शब्द–सूचीः– उपनिषद, भाष्य, ज्ञान कर्म समुच्चय, माया, अविद्या, अद्वैत आदि।

अद्वैत वेदांत के आधार ग्रंथ उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्र हैं। ब्रह्मसूत्रों की रचना अद्वैत विषयक दार्शनिक मंतव्य के स्पष्ट प्रतिपादन के साथ–साथ परमत की समालोचना एवं स्वमत के संस्थापन हेतु श्रुति की संगति के उद्देश्य से हुई है। आचार्य बादरायण के पश्चात भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य ने उक्त प्रस्थानत्रय पर भाष्य लिखकर समस्त दार्शनिक शंकाओं का निवारण किया है। आचार्य शंकर ने उपनिषदों एवं गीता के मंतव्य का निहितार्थ अविद्या निवृत्ति एवं ज्ञानात्मक संन्यास सिद्ध किया है। अनादि अविद्या का शमन ज्ञान से ही हो सकता है। स्वरुपज्ञान ही मोक्ष है। अद्वैत वेदान्त का प्रयोजन ही जीव ब्रह्मैक्य की अनुभूति और मोक्ष प्राप्ति है। आचार्य शंकर ईशावास्योपनिषद भाष्य के प्रारंभ में लिखते हैं–

"सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवउपक्षयात। गीतानां मोक्षधर्माणां चौवंपरत्वात।.."

अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषदों की परिसमाप्ति आत्मा के यथार्थ स्वरूप निरूपण में तथा गीता आदि का भी इसी में तात्पर्य है।

वेद के तीन विभाग माने गए है– ज्ञान विभाग, उपासना विभाग एवं कर्म विभाग।

अद्वैत ज्ञान विभाग के प्राधान्य को स्वीकृत करता है।

अद्वैत के इतर मीमांसा सम्प्रदाय ने समस्त श्रुति का तात्पर्य विधि निषेध आदि क्रिया की प्रवृत्ति के रूप में किया था। आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् इसके अनुसार वेदाम्नाय का ज्ञानात्मक पक्ष गौण माना गया। शंकर पूर्व अन्य दार्शनिकों ने ज्ञान और कर्म दोनों की समान रूप से महत्ता स्वीकार कर ज्ञान कर्म समुच्चयात्मक व्याख्या प्रस्तुत किए हैं।

परंतु आचार्य शंकर न केवल मीमांसको की इसव्याख्या से भिन्न मत रखते है, अपितु पूर्वाचार्यों द्वारा कृत ज्ञानकर्मसमुच्चय की आलोचना ईशावास्योपनिषद भाष्य में प्रस्तुत करते है।

ईशावास्योपनिषद मे कुल 18 मंत्र है। इन 18 मंत्रों में से मंत्र संख्या 9, 10, 11, 12 ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग के वर्णन, उनका भेद, कर्म एवं उपासना का समुच्चय का निरूपण हुआ है। वस्तुतः उपनिषदों में केवल अद्वैत–वेदान्त परक दृष्टिकोण नहीं है। परिष्कृत रूप से कहा जाय उपनिषदें वेदान्त परक है। ईशावास्योपनिषद ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय की भी बात करता है और दोनों के फल भेद की भी। आचार्य शंकर ने ज्ञान की अपेक्षा कर्म पक्ष को गौण माना है। ज्ञान कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है–

"ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं..।

इसलिए उक्त उपनिषद के मंत्र का प्रयोजन विलग विलग अधिकारी के लिए है। अधिकार भेद से भी आचार्यने दो मार्ग स्वीकार किए है– ज्ञानाधिकार मार्ग तथा कर्माधिकार मार्ग। इस आधार पर प्रथम मंत्र संन्यासी (ज्ञानमार्गी) के लिए है।दूसरा कर्ममार्गी के लिए।इस आधार पर उपनिषद का प्रत्येक प्रकरण तत्तद अधिकारी के हेतु प्रवृत्त है। उपनिषद में मंत्र आया है कि विद्या और अविद्या दोनों का अलग अलग फल है।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे

आचार्य के मत में विद्या से तात्पर्य देवता ज्ञान है। परमार्थ ज्ञान नहीं। अविद्या से तात्पर्य कर्म है। यहां कर्म का अर्थ शास्त्र विहित कर्म है। विद्या और अविद्या से भेद कैसे सिद्ध होगा इसके लिए आचार्य बृहदारण्यक श्रुति का उदाहरण देते हैं–

"विद्या देवलोक"(बृ० 1/5/16)
"कर्मणा पितृलोकः'(बृ० 1/5/16)

अर्थात् विद्या से देवलोक तथा कर्म से पितृलोक की प्राप्ति होती है।अतएव अधिकार ज्ञान कर्म समुच्चय संभव नहीं है।

ग्रंथार्थ विवेचन भाग में आचार्य अपने इस मत को और पुष्ट रूप से प्रकट किया है। पूर्वपक्षी प्रश्न करता है– विद्या और अविद्या में अविद्या विरोध कैसे सिद्ध होता है? इसके प्रत्युत्तर ने आचार्य ने तीन तर्क प्रस्तुत करते हैं–

क) हेतुस्वरूपफलविरोधात।

अर्थात् दोनों के हेतु,स्वरूप और फल में विरोध होने के कारण दोनों मार्गों का अविरोध सिद्ध नहीं होगा।

पूर्वपक्षी पुनः तर्क देता है कि यदि दोनों का समुच्चय माने–जो कि श्रुति में स्वीकार किया गया है, तब ज्ञानकर्म का समुच्चय मानना पड़ेगा!

आचार्य शंकर इसका समाधान दूसरे तर्क से देते हैं–

ख) नयसहसम्भवानुपपत्तेः।

अर्थात् दोनों का एक साथ रहना संभव नहीं होगा। दो विरूद्ध स्वभाव वाले तत्व एक साथ कैसे रह सकेगें! इस आधार पर दोनों का समुच्चय संभव नहीं है।

पूर्वपक्षी पुनः अपना मत प्रस्तुत करता है कि विद्या और अविद्या क्रम से एक आश्रय में रहें तब समुच्चय संभव हो सकेगा। आचार्य पुनरूखंडन करते हुए तर्क देते हैं–

ग) नयविद्योत्पत्तौ अविद्याया ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः।

अद्वैत मत में ज्ञान अज्ञान में विरोध माना गया है। उसी का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि विद्या के उत्पन्न हो जानेपर अविद्या का नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रय में अविद्योत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार आचार्य ज्ञान और कर्म का विरोध सिद्ध कर ज्ञानकर्म समुच्चयवाद का खंडन करते हैं। विवेकचूड़ामणि में भी इसी बात को प्रकारान्तर से कहा गया है–

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित् कर्मकोटिभिः।।

अर्थात् कर्म का प्रयोजन चित्तशुद्धि में है वस्तु उपलब्धि में नहीं। क्योंकि वस्तु की सिद्धि विचार से हो जाती है कर्म से नहीं। अद्वैत मत में ब्रह्मभाव नित्य सिद्ध है। वही वस्तु है। जो नित्य सिद्ध है उसका निरूपण विचार के माध्यम से तार्किक प्रक्रिया से निर्वचन किया जाता है न कि कई प्रकार के कर्मों से। वस्तुतः अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति में कर्म सहायक है। प्राप्तस्य की प्राप्ति ज्ञान से ही हो सकती है। अतएव ज्ञान–कर्म का समुच्चय संभव नहीं है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. ईशादि नौ उपनिषद, सानुवाद शांकरभाष्य, 2016, गीताप्रेस गोरखपुर।
2. कल्याण, उपनिषद–अंक, अट्ठारहवां पुनर्मुद्रण, 2021, गीताप्रेस गोरखपुर।
3. Aurbindosri Isha Upanishad 2019, Pondicherry Ashram
4. Hume Ernest The Thirteen Principal Upanishads, 1931, Oxford University Press.

****

भारतीय दर्शन में धर्म

रितेश कुमार सिंह
दर्शनशास्त्र विभाग
वीर कुवंर सिंह विश्वविद्यालय
आरा, बिहार।

दर्शन अर्थात् साक्षात्कार "दर्शन साक्षात्करणम्" अपि च दृश्यते अनेन इति दर्शनम् दर्शन शब्द का अंग्रेजी मे अनुवाद प्रायः दो ग्रीक् "सोफिया" और 'फिलोस्' से बने फिलोसोफी शब्द से किया जाता हैं। जिनका क्रमशः अर्थ हैं। प्रेम' और विद्या। अतः विद्या प्रेम या ज्ञान के प्रति अनुराग। मानव मनमें स्वयं को और बाह्य जगत् को जानने की नैसर्गिक प्रवृत्ति होती है। दार्शनिक चिंतन मानव की मूल प्रवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को कोई न कोई जीवन दृष्टि जीवन – मूल्य या दर्शन अवश्य होता हैं। 'धर्म' भारतीय दर्शन का प्राणभूत तत्त्व है। भारतीय दर्शन में धर्म जीवन पद्धति है, दर्शन और धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। भारतीय दर्शन के कई सम्प्रदाय धार्मिक सम्प्रदाय भी हैं। जो इसके महत्त्व को स्वतः स्पष्ट करता है। भारतीय दर्शन प्राय अपरोक्षानुभूति या आत्म साक्षात्कार को प्रधान और बौद्धिक चिंतन को गौणमानता है। दर्शन शब्द का अर्थ ही है साक्षात् देखना अर्थात् परमतत्त्व का साक्षात्कार या अपरोक्षानुभव। आत्मा को जानो (आत्मनां विद्धि) यह भारतीय दर्शन का उद्घोष है। मनुष्य अपनी नैसर्गिक स्थिति को वास्तविकता में जो सुख, दुःख, जीवन, मरण आदि का द्वन्द्व देखता हैं उससे उसे उस स्थिति की अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है। और इस गोचरता से परे वह गवेषणा करना चाहता है । वर्तमान समय में धर्म को किसी जाति विशेष तथा उपासना से जोड़कर, जो अर्थ लिया जा रहा है वह सर्वथा अनुचित है। भारतीय मनीषियों ने धर्म के व्यापक स्वरूप को समझा एवं धर्म के व्यापक अर्थ को स्वीकार करते हुए व्यक्ति और समाज को धारण करने वाले तत्त्व को धर्म कहा तथा इसे सम्पूर्ण जगत् का आधार माना–

'धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।' 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।'

इसके अनुसार धर्म के आचरण से मनुष्य इस जगत् में उन्नति को प्राप्त करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर लेता है अर्थात् धर्म इहलोक और परलोक दोनों को सिद्ध करने वाला है– 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।' जब व्यक्ति के ह्रदय में आरंभ से ही यह धारणा बद्धमूल हो जाती है कि धर्म ही उसके समग्र उन्नतिका हेतु है अन्य कोई नहीं, तब वह सद्कर्मों में प्रवृत्त होता है और असद्दमों से निवृत्त हो जाता है। व्यक्ति के यही सद्–असद् कर्म उन्नति तथा अवनति की ओर ले जाते हैं–

या.शेन तु भावेन यद्यत्कर्मनिषेवते। ता.शेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते ।।

महर्षि मनु ने तो सम्पूर्ण मानव जाति के विकास के लिए दस धर्मों का कथन किया है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।।

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय–निग्रह, धी, विद्या, सत्य और क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण हैं जो हमारे समक्ष धर्मपरायण संस्‍कृति का एक अनूठा उद्धहरण प्रस्तुत करते हैं।

आचार धर्म का आधार है। इसी से धर्म की वृद्धि होती है। यही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण कर उसे सामाजिक नियमों के परिपालन योग्य बनता है। जिससे समाज विकास की ओर उन्मुख होता है। यदि मनुष्य आचार का पालन न करे तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जाए। सामान्यतः सभी धर्मशास्त्रकारों ने आचार को ही धर्म का पोषक या धर्म का मूल माना है। श्रुति और स्मृति में कहा गया है कि आचार ही परम धर्म है, आत्मकल्याण चाहने वाले मनुष्य को इसके लिए प्रयत्नवान् होना चाहिये–

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च । तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ।।

आचार के अंतर्गत नैतिक शिक्षा–सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि की शिक्षा, पंचमहायज्ञ, तीन ऋण, संस्कार कर्म, पुरुषार्थ इत्यादि का समावेश हो जाता है जिनका पालन समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।

सत्य, अहिंसा आदि मनुष्य के चरित्र–निर्माण में सहायक है। ये मनुष्य में मानसिक शुद्धता एवं पवित्रता को स्थापित करते हुए उच्च नैतिक गुणों का विकास करते हैं। मनुष्य को समाज में स्थिरता, संतुलन तथा शांति बनाए रखने के लिए प्रेरित करते हैं। सत्य शुद्ध स्वरूप है, मन, वचन, कर्म की पवित्रता है, जो व्यक्ति को हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, लोभ, क्रोध आदि तुच्छ भावनाओं से निवृत्त कर सदाचरण की ओर प्रवृत्त करता है। अहिंसा मानव में मानवता का संचार करती है।यह सभी के प्रति दया, रक्षा, सहानुभूति, सर्वकल्याण की भावना को उत्पन्न करती है, विश्वशांति के लिए जीवों में विश्वबंधुत्व एवं समानता का भाव जाग्रत करती है । अस्तेय व्यक्ति को किसी अन्य के द्रव्य या धन पर आसक्ति न रखते हुए त्याग व कर्मपूर्वक भोग करने का उपदेश देता है। अपरिग्रह व्यक्ति को भोग साधनों के आवश्यकता से अधिक सञ्चित करने व उनमें आसक्ति का निषेध करता है, जिससे समाज में आर्थिक संतुलन व संतोष बना रहे।

प्राचीन समय से ही हिंदू धर्म में ऐसा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य जन्म के साथ ही तीन ऋणों ऋषिऋण, देवऋण एवं पितृऋण से ऋणी हो जाता है। इन तीन ऋणों से उऋण होना गृहस्थ के लिए अनिवार्य है अन्यथा वह मोक्ष के लिए प्रयत्नशील नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य को इन तीन ऋणों से उऋण होने का निरंतर प्रयास करते रहना चाहिए। वह ऋषिऋण, देवऋण एवं पितृऋण से क्रमशः अध्ययन–अध्यापन द्वारा, यज्ञ करके एवं संतानोत्पादन व श्राद्ध से उऋण हो जाता है।

संस्कार मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के प्रथम सोपान माने गये हैं। जो व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत, धर्मनिष्ठ, सुसंस्कृत करने तथा उसके चरित्र–निर्माण में सहायक है। इसलिए जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत के सभी संस्कारों को विधिवत् समय पर सम्पन्न किया जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति में मुख्यतः षोडश संस्कार प्रचलित हैं– गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशांत, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि । इन संस्कारों से न केवल मानव जीवन परिष्कृत व सुसंस्कृत होता है। अपितु भौतिक एवं आध्यात्मिक आकांक्षाओं को भी गति मिलती है।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थ हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन में इनका समन्वय होना अति आवश्यक है। ये सभी पुरुषार्थ जीवन को सफल, सार्थक एवं पूर्ण करने वाले हैं। मनुष्य को सर्वप्रथम धर्म का उपार्जन करना चाहिए, तत्पश्चात् धर्मयुक्त धन का संग्रह करे, उसके बाद धर्म और अर्थ के अनुकूल काम का सेवन करना चाहिए। इस प्रकार सेवन करता हुआ, वह समस्त मनोरथों को पूर्ण कर लेता है। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, यह तभी संभव है जब वह धर्म– मूलक अर्थ और काम का उपभोग करे। यदि अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हो तो उनका त्याग कर देना चाहिए। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि धर्म निरंकुश है यदि धर्म भी लोककल्याण तथा मोक्ष में बाधक है तो उसे छोड़ देना चाहिए। अतः धर्म, अर्थ आदि व्यक्तिगत संतुष्टि के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए है, इसलिए इनकी अभिवृद्धि के लिए निरंतर प्रयासरत रहना चाहिए।

सन्दर्भ सूची –

1. भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास : एस. एन. दासगुप्ता।
2. भारतीय दर्शन : हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा।
3. भारतीय दर्शन के 50 वर्ष : वी. पी. वापट।
4. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन : चन्द्रधर शर्मा।
5. भारतीय धर्मशास्त्र का इतिहास : डॉ. पी. वी. काणे।

स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गाँधी के मानवतावाद का दार्शनिक अन्वेषण

सुन्दर लाल तिवारी
शोध छात्र
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय,
आरा (बिहार)

"महात्मा वो है, जो गरीबों और असहाय के लिए रोता है अन्यथा वो दुरात्मा है।
'स्वामी विवेकानन्द'

भौतिक विज्ञान के विकास से मानव–मानव के बीच की भौतिक दूरी तो कम कर रही है लेकिन मानव मानव के बीच मानसिक एवं वैचारिक दूरियां कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है। आपस में प्रेमत्व एवं एकत्व की भावना घटती जा रही है। परिणाम स्वरूप अनाचार, लैंगिक असमानता, किशोरापराध, नशे की प्रवृति आदि में वृद्धि हो रही है।

सवाल यह है कि इन सामाजिक समस्याओं का कारण क्या है? इन समस्याओं का कारण भौतिक नही हो सकते हैं क्योंकि भौतिक विज्ञान के विकास ने शारीरिक सुख सुविधा के सामग्री प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक सुलभ एवं उपलब्ध कराया है। अतः इसका कारण मानसिक एवं आंतरिक ही हो सकता है। इन सामाजिक समस्याओं का मूल कारण भोगवादी प्रवृत्ति है। अगर उसको आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया जाय तो इन सामाजिक समस्याओं से बचा जा सकता है। इसी संदर्भ में आइंस्टीन कहते हैं कि "विज्ञान प्लूटोनियम के स्वभाव को बदलने में सक्षम हो सकता परन्तु यह मानव हृदय की दुष्प्रवृत्तियों को नहीं बदल सकता।" मानव को मानवता के आधारभूत मूल्यों यथा सत्यनिष्ठा, परोपकार, निस्वार्थता, सहिष्णुता, नैतिकता, बन्धुत्व, एकत्व आदि से युक्त होना चाहिये तथा इन्हीं के अनुरूप ही अपना कर्तव्य कर्म करना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गांधी आधुनिक भारत के दो आधारभूत मानवतावादी विचारक एवं चिन्तक हैं। इनका मानवतावाद भौतिक सीमा से सीमित न होकर सार्वभौमिक है। दोनों ही आधुनिक युग के समस्याओं और उसके समाधान के प्रति आजीवन प्रयासरत रहे हैं। इनके मानवतावाद का उद्देश्य परम एकत्व एवं भेदभाव रहित समाज की स्थापना करना है।

आजादी के 77 वर्ष होने वाले हैं लेकिन हम अब भी मानवतावादी समाज की स्थापना नहीं कर पाए हैं जिसकी कल्पना स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी ने की थी।

मानवतावादी समाज की स्थापना हेतु नीतियों एवं शैक्षिक व्यवस्थाओं में मानवतावादी मूल्यों का समावेश करना होगा। स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावाद का उद्देश्य समाज को जगाना और आधुनिक युग की सुविधाओं का समुचित उपयोग कर वर्तमान काल की चुनौतियों का सामना करने में सक्षम कर वास्तविक मानवतावादी समाज की स्थापना करना है। स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावाद में –

शिक्षाः शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना। समन्वयात्मक एवं सृजनात्मक दृष्टिकोण विकसित करना। मानव मानव में एकत्व प्रेम का ज्ञान होना आदि।

स्त्री शिक्षा : स्त्रियों को ऐसी शिक्षा एवं अवसर दी जानी चाहिए जिससे वे स्वतंत्रता एवं समानता पूर्वक अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके और अपना कर्तव्य का निर्वाहन कर सकें। इनकी मानवतावाद में स्त्री के सशक्तीकरण में विशेष महत्व दिया गया है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार "स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत के कल्याण की कोई संभावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना संभव नहीं।"

मानव सेवा : दरिद्र नारायण अर्थात गरीब से गरीब व्यक्ति में वहीं ईश्वर पूर्णता से विद्यमान है। इसे ही

गांधी हरिजन कहते है जो पिछड़े–गरीब हैं वे भी भगवान के रूप है। जो वर्तमान की जातिवाद, भेदभाव आदि समस्याओं को कम करने में सहायक है।

निष्काम कर्म : स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी निष्काम भावना से कर्म करने पर जोर देते है। साध्य के अपेक्षा साधन को महत्व प्रदान करते है। अच्छे साधन से ही अच्छे साध्य की उत्पत्ति हो सकती है। जो वर्तमान की सामयिक समस्याओं जैसे भ्रष्ट्राचार, हिंसा, घृणा आदि दुष्प्रवृत्तियों के निरोध में सहायक है। अतः स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावाद का वर्तमान परिस्थित में अत्यधिक आवश्यकता है। जिससे कि वैश्विक शान्ति, सहिष्णुता, विश्वबंधुत्व आदि की समाज में स्थापना की जा सके। समष्टि के सुखः में ही व्यष्टि की सुखः निहित है। मानवतावाद का यह स्वरूप सार्वभौमिक और सभी के उदय (सर्वोदय) की बात करता है। यह व्यवहारिक एवं प्रायोगिक सिद्ध है। अतः समस्त मानवतावाद का मूल मंत्र है नाहं नाहं, त्वमसि त्वमसि अर्थात मैं नही, मैं नहीं – तू ही, तू ही।

स्वामी विवेकानन्द एंव महात्मा गांधी के मानवतावाद की प्रासंगिकता :

स्वामी विवेकानंद एवं गांधी के मानवतावादी दर्शन का उद्देश्य धर्म को व्यवहार में लाना और व्यवहार को धर्म में स्थापित करना। इनके मानवतावादी के केन्द्र में सम्पूर्ण मानव जाति है। आज समाज छुआछूत, भेदभाव, लैंगिक असमानता, धर्म परिवर्तन आदि सामाजिक समस्याओं से ग्रसित है।

अतः इन सामाजिक समस्याओं का समाधान स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावादी दर्शन में निहित है। यह सभी संक्रीण व हिंसक दबावों से तथा सभी प्रकार के राजनैतिक, धार्मिक व जातीय उन्मादो, द्वेषों से रहित है। मानव में अंतर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति ही सच्चा धर्म है।

* स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावाद का मुख्य उद्देश्य मानव के भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों को उन्नत करना है।
* इसका ध्येय सार्वभौमिक रूप से सभी का उदय (सर्वोदय) है।
* इनके मानवतावादी दर्शन के माध्यम से सामाजिक, आर्थिक विषमताओं एवं असमानताओं से मुक्त पाया जा सकता है।
* स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी का मानवतावादी दर्शन व्यावहारिकता पर आधारित है।
* इनके मानवतावाद के माध्यम से विश्व में शांति, सहानभूति, सहिष्णुता, सद्भाव की स्थापना की जा सकती है।
* इनके मानवतावाद में निचले से निचले पैदान के व्यक्ति को पूर्ण विकास के समान अवसर है। दरिद्र नारायण अर्थात गरीब से गरीब भी भगवान का ही रूप है। यही इनके दर्शन का उद्देश्य विषय है। अतः स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी का मानवतावादी दर्शन वर्तमान की आवश्यकता है।

ज्ञान में योगदान :

स्वामी विवेकानन्द एंव महात्मा गांधी के मानवतावाद का अध्ययन लोगों में समन्वयवादी एवं सृजनात्मक दृष्टिकोण के निर्माण में मदद कर सकता है। यह शोधकार्य सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यवहारिक अधिक है। मानवतावाद का सामयिक वास्तविकता के आधार पर अवलोकन करना तथा उसकी आवश्यकता और प्रासंगिकता सिद्ध करना। स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के समन्वित दृष्टिकोण से मानवतावाद की अध्ययन के लिए जिज्ञासू मन को पोषित कर सकता है।

निहितार्थ :

स्वामी विवेकानंद एवं महात्मा गांधी के मानवतावादी आधारभूत मूल्यों यथा विश्व बंधुत्व, एकत्व, सहिष्णुता, उदारता, लैंगिक समानता, निस्वार्थता आदि के आधार पर नीति नियोजन एवं क्रियान्वयन किया जाता है, तो जिस सपनों के भारत की कल्पना स्वामी विवेकानंद और महात्मा गांधी करते है, उसे साकार किया जा सकता है। जिसमें–

- शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का सर्वांगीण विकास करना है।
- स्त्रियों को ऐसी शिक्षा और अवसर दिया जाए ताकि वे अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।
- सभी को आत्मोन्नति के समान अवसर मिले।
- निष्काम भावना से मानव सेवा करना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म होना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गांधी दोनो दार्शनिकों का दार्शनिक आधार वेदांत दर्शन है। स्वामी विवेकानन्द एवं महात्मा गांधी के दर्शन का केन्द्रिय बिन्दु मानवता है। जिसके अनुसार प्रत्येक मानव में ब्रह्म की क्षमता निहित है। मानव–मानव के बीच में जाति –जन्म, गरीब–अमीर, क्षेत्र, भाषा आदि के आधार पर भेद करना अज्ञानता है। इनके मानवतावाद के आधार आध्यात्मिक एवं धार्मिक है।

'मानव की महानता मानव होने में नही, बल्कि दयालु होने में है।' महात्मा गांधी

अतः मानवतावादी मूल्यों यथा सत्यनिष्ठा, सहानुभूति, समानभूति, परोपकार, निष्काम भाव, कर्तव्यनिष्ठ आदि के आधार पर आर्थिक, सामाजिक,राजनैतिक एवं शैक्षिक नीतिया बनाई जाती है तो एक स्वस्थ समाज की स्थापना की जा सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची : (Bibliography)

1 Ranganathananda, Swami, 2018. Swani Vivekanand: His Humanism. Kolkata: Advaita Asham

2 Chakrabarti, Mohit. 1992. Gandhian Humanism, New Delhi: Concept Publishing Company.

3 विवेकानंद, स्वामी 1990, कर्मयोग, नागपुरः रामकृष्ण मठ

4 विवेकानंद, स्वामी, 1954, भारतीय नारी, नागपुरः रामकृष्ण आश्रम

5 विवेकानंद, स्वामी, 1956, शिक्षा नागपुरः रामकृष्ण आश्रम

6 विवेकानंद, स्वामी, 1953, जाति संस्कृति और समाजवाद, नागपुरः रामकृष्ण आश्रम

7 विवेकानंद, स्वामी, 2007, कर्म और उसका रहस्य, नागपुरः रामकृष्ण मठ

8 Mehta, Usha. 2000. Mahatma Gandhi and Humanism, Mumbai: Bhartiya Vidy Bhavan.

9 Chakrabarti, Mohit, 2012..Swami Vivekanand, Vibrant Humanist, New Delhi: Kanishka Publishers.

10 विवेकानंद, स्वामी, 1965, धर्म तत्व, नागपुरः रामकृष्ण मठ

11 विवेकानंद, स्वामी, 1947, हिन्दू धर्म, नागपुरः रामकृष्ण मठ

12 विवेकानंद, स्वामी, 1967, सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार, नागपुरः रामकृष्ण मठ

13 रंगनाथानन्द, स्वामी, 1986, स्वामी विवेकानंद का मानवतावाद, कोलकाताः अद्वैत आश्रम

14 विवेकानंद, स्वामी, 1948, मेरा जीवन तथा ध्येय, नागपुरः रामकृष्ण मठ

15 गांधी महात्मा, 1963, ग्राम स्वराज, अहमदाबादः नवजीवन प्रकाशन मंदिर

16 गांधी महात्मा, 2019 सर्वोदय, नई दिल्लीः सस्ता साहित्य मण्डल

17 गांधी महात्मा 2020, सत्य के साथ मेरी प्रयोग, नई दिल्लीः प्रकाश बुक्स, इण्डिया प्रा. लि.

18 विवेकानंद स्वामी, 1948, धर्म रहस्य, नागपुरः रामकृष्ण मठ

19 धर्माधिकारी दादा, 1957, सर्वोदय दर्शन, काशीः अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन

20 Gandhi Mahatama, 1909 Hind Swaraj, Ahmadabad: Navjivan Publishing House

21 Fowler, Jeaneane D. 1999 Humanism: beliefs and practices. Sussex Academic Press.

******

भारतीय संस्कृति का दार्शनिक आधार

डॉ. सूर्य प्रकाश द्विवेदी
दर्शन विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

संस्कृति किसी समाज की दीर्घकाल तक अपनाई गई पद्धतियों का परिणाम है। मानव समाज की सभी उपलब्धियाँ उसकी संस्कृति से प्रेरित रही है। संस्कृति की सहायता से ही मानव समाज ने निरन्तर प्रगति की है और विकास के अनेक सोपानों को प्राप्त किया है। भाषा व प्रतिकों के माध्यम को विचारों का सम्प्रेषण तथा ज्ञान – विज्ञान का विकास एवं अपने चिन्तन के परिणामों को भावी पीढ़ी को हस्तांतरित कर सका है। संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा में सम उपसर्गपूर्वक कृ धातु में क्तिन् प्रत्यय के योग से संस्कृति शब्द व्युत्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है परिस्कृत अथवा संस्कारित क्रियाकलाप। वस्तुतः संस्कृति मानवीय उदात्त मूल्यों, सामाजिक आदर्शों और प्रतिकों का अभिव्यक्तिकरण है जो विचारों के सतत् रूप में प्रवाहमान है। संस्कृति शब्द का मूल संस्कार में नीहित है। मानव जीवन में संस्कार प्रभावक तत्व है। महर्षि जैमिनि ने संस्कार को व्याख्यायित करते हुए कहा है कि– "संस्कारो नाम स भवति यस्मिन जाते पदार्थों भवति योग्यः कस्यचिदर्थः"[1] इसी प्रकार तन्त्रवार्तिक में भी संस्कार को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि – योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्काराः इत्युच्यतें।[2] इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि मानव जीवन को समाज एवं अध्यात्म के योग्य बनाने को हि संस्कार कहते है। संस्कृति और संस्कार को एक मानते हुए पंडित दीनदयाल उपाध्याय लिखते है कि संस्कार अच्छे भी है और बुरे भी। हमारे कर्म का जो परिणाम होता है उसे ही संस्कार कहते है तथा दूसरे के कार्यों का भी जो कुछ भी परिणाम हमारे मन में उत्पन्न होता है उसे भी संस्कार कहते हैं। मनुष्य अच्छे एवं बुरे दोनो प्रकार के कर्म करता है। व्यक्ति के इनमें से बुरे कर्मों के परिणाम को पूर्णतः अलग करने के पश्चात जो कुछ अच्छा बचा रहता है वह शील कहलाता है इन शील युक्त संस्कारों का परिणाम ही संस्कृति कहलाता है।[3]

प्रत्येक राष्ट्र की संस्कृति विशिष्ट भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही अस्तित्व में आयी है तथा उसमें नीहित सांस्कृतिक आदर्श एवं जीवनमूल्य उसकी आवश्यकता और प्राथमिकता होते है। तथा–देश–काल–परिस्थिति सापेक्ष प्राथमिकताएँ बदलने पर ही उनके जीवन मूल्यों में भी परिवर्तन आता है। भारतीय संस्कृति भी इसका अपवाद नही है। भारत एक विशाल देश है। इसका भौगोलिक परिवेश वैविध्यपूर्ण है। इस वैविध्यपूर्ण भौगोलिक परिवेश में वैविध्य–पूर्ण जीवन–पद्धतियाँ भी दृष्टिगोचर होती है। नस्लीय, जातीय, भाषायी एवं धार्मिक विविधताएं अन्य महत्वपूर्ण तथ्य है। उपरोक्त विशिष्ट परिवेश में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा से प्रभावित संस्कृति का आविर्भाव हुआ। वास्तव मे भारतीय संस्कृति अपनी सहिष्णुता के लिए आख्यात रही है। इसमें परस्पर विरोधी तत्वों, सिद्धान्तों और वृत्तियों को समेट कर एक सूत्र में गूंथने का प्रयास दिखाई देता है। विपरित विश्वासों, रीति रिवाजों, साधनाओं, उपासना – पद्धतियों एवं सामाजिक प्रबन्धनो को इसमें स्थान प्राप्त है। उल्लेखनीय है कि भारत एक भौगोलिक क्षेत्र ही नही है। बल्कि यह विभिन्न सोच, विचारधाराओं और संस्कृतियों का मिलन है। विभिन्न संस्कृतियों, धर्मों विश्वासों, भाषाओं, और नस्लीय या जातियों ने इसे खास बनाया है। सहिष्णुता हमें ताकत देती है। हम किसी से सहमत हो या असहमत, भारतीय संस्कृति के बहुलवादी स्वरूप को नकार नहीं सकते। असहिष्णुता समाज में बिखराव, टकराव, भय एवं अविश्वास को बढ़ाती है और समाज की प्रगति में बाधक बनती है। भारत की आत्मा बहुलवाद और सहिष्णुता में बसती है।

दर्शन और संस्कृति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी समाज की सांस्कृतिक उपलब्धियों के अन्तर्गत दर्शनशास्त्र की गणना होती है। दार्शनिक चिन्तन ही किसी संस्कृति में स्थापित जीवन–मूल्यों एवं आदर्शों को तार्किक और बौद्धिक आधार पर प्रतिष्ठित करता है। वह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि दार्शनिक चिन्तन

देश–काल–परिस्थिति सापेक्ष होता है। संस्कृति और सांस्कृतिक आदर्शों के विषय में भी यह उतना ही सत्य है। किसी समाज की संस्कृति में विकसित आदर्श एवं जीवन–मूल्य उसका दिशा–निदेशक होता है। भारत के वैविध्य पूर्ण भौगोलिक परिवेश के अन्तर्गत एक विविधतामूलक समाज अस्तित्व मे आया जिसमे अनेक प्रकार के जीवन–मूल्य विकसित हुए, जिनमे मुख्य है–अनेकता में एकता, आध्यात्मिक प्रवृत्ति, कर्मवाद और पुर्नजन्म में विश्वास एवं संयमित जीवन–यापन का सन्देश आदि। इन जीवन मूल्यों ने जहाँ एक ओर विविधता–मूलक भारतीय को एकता के सूत्र में आबद्ध किया। वही दूसरी ओर एक ऐसा जीवन दर्शन लाया जिससे जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है, तो मुक्ति भी है, कामना है तो साधना भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है और भौतिकता है तो आध्यात्मिकता भी है। इन सांस्कृतिक जीवन–मूल्यों ने भारतीय संस्कृति में स्थायित्व पैदा किया। स्पष्ट है कि किसी समाज के सांस्कृतिक मूल्य उसकी विरासत होते हैं। इन सांस्कृतिक मूल्यों से निदेशित होकर वह समाज निरन्तर समृद्ध होता है। भारतीय विचारक महान दूर–द्रष्टा रहे है। उनके लिए दार्शनिक चिन्तन मात्र बुद्वि विलास या बाल की खाल निकालना नही रहा है। उनके बौद्धिक चिन्तन का लक्ष्य जीवन की समस्याओं का समाधान करना एवं एक अच्छे जीवन की रूपरेखा तय करना रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने ने मानव जीवन का साध्य भी सुनिश्चित किया और उसकी प्राप्ति की कार्य–योजना और क्रिया विधि भी निर्धारित किया। भारतीय समाज में जीवन–मूल्य में अध्यात्मवाद को प्रतिष्ठा मिली। किन्तु इसमें भौतिकवादी जीवन–मूल्यों का निषेध नहीं है। इसमें न तो कोरे अध्यात्मवाद को मान्यता दी गयी और न कोरे भौतिकवाद को। इसमें भौतिकवाद को स्वीकार करते हुए भी आध्यात्मिकता की ओर उन्मुखता दिखाई देती है। इस स्थिति की व्याख्या हम यह कहते हुए कर सकते है कि भारतीय संस्कृति की प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। इसी के आलोक में भारतीय समाज मे जीवन–शैली अस्तित्व में आयी। जैसे, हम भारतीय समाज मे मान्यता प्राप्त कम से कम तीन जीवन मूल्यों का उल्लेख कर सकते है, जिसमें यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। ये है– पुरुषार्थ, आश्रम व्यवस्था, और संस्कार। इन तीनो जीवन – दृष्टियों का विश्लेषण किया जाय तो इनमें भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर उन्मुखता दिखाई देती है। इस प्रकार आध्यात्मिकता भारतीय जीवन का आधार रहा है। भारतीय समाज के क्रियाकलाप ऐहिक होते हुए भी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित रहे हैं।

भारतीय समाज अनेकता में एकता की अवधारणा पर आधारित है जो भारतीय संस्कृति में प्राथमिक मूल्य बन कर उभरा। भारत में प्राचीन काल में महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, आचार्य शंकर और रामानुजाचार्य से लेकर मध्य युग में कबीर, तुलसी, सूफी सन्तों ने, आधुनिक युग में महात्मा गांधी, विवेकानन्द, श्री अरविन्द, एम. एन. राय तथा स्वतन्त्रता सेनानियों ने समय–समय पर इसी जीवन–पद्धति को मान्यता दिया है। कदाचित् भारतीय संविधान निर्माताओं ने इसी जीवन–मूल्य के आलोक में समान नागरिक संहिता (Uniform civil code) बनाने का प्रस्ताव किया है। भारतीय संविधान के प्रत्येक महत्वपूर्ण अनुच्छेद में उपरोक्त अवधारणा बिम्बित होती है। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज का एक समावेशी चेहरा उभरा जिसके आधारभूत तत्व है– शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व, सहिष्णुता और उदारता का भावा।

विदित हो कि भारत का एक वैविध्यपूर्ण भौगोलिक परिवेश है। परिणामत भारत में एक वैविध्यपूर्ण समाज अस्तित्व में आया। भारत में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों में विविधता दिखाई देती है। भिन्नरुचिर्हि लोकः, भारतीय समाज इस जीवन दर्शन को स्वीकार करता है। भारतीय संस्कृति निरन्तर प्रवहमान जीवन दर्शन है इसलिए इसे सनातन संस्कृति के रूप में पहचाना जाता है। भारत में आर्यों के आगमन के साथ आर्येतर जातियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी। यह संस्कृति प्रारम्भ हो ही सामाजिक और समन्वयशील रही है और इसका क्रमशः विकास हुआ है। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात करने की अद्भुत योग्यता रही है। इसी प्रवृत्ति ने भारतीय संस्कृति को जीवन्त एवं गतिशील बनाए रखा। इसने सातत्य को बनाए रखते हुए भी परिवर्तन को अंगीकार किया यद्यपि सातत्य एवं परिवर्तन परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ है। इसी प्रवृत्ति ने भारतीय संस्कृति में उत्तरजीविता पैदा किया। अपनी सर्वसमावेशी

प्रकृति के कारण इसने बाह्य प्रभावों के प्रासांगिक तत्वों को भी स्वीकार करने में संकोच नहीं किया। इतिहास गवाह है, कि भारत अति प्राचीन काल से एक सास्कृतिक इकाई अवश्य रहा है, यद्यपि यह एक राजनीतिक इकाई कभी–कभी रहा है। भारत में भौगोलिक, धार्मिक, भाषायी, नस्लीय जातीय विविधता अवश्य है, इसके बावजूद इस विविधता की पृष्ठभूमि में सांस्तिक एकता है। प्राचीन काल में यातायात एवं दूरसंचार की असुविधा के बावजूद भारतीय मनीषियों के विचारों ने विविधता मे नीहित एकता को सुदृढ़ किया है। आस्तिक और नास्तिक दोनों वर्गों के विचारको ने इस एकता को मूर्त रूप देने का प्रयास किया है।

भारतीय संस्कृति अनुशासित जीवन दर्शन को स्वीकार करती है। इसमें कर्मवाद एवं आत्मसंयम का मूलमन्त्र स्वीकार करके जीवन में संपन पर बल दिया। इसने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य बुद्धि एवं वासनाओं का पुतला है। जीवन की सार्थकता वासनात्मक जीवन जीने या वासनाओं की आत्यन्तिक तृप्ति में नहीं है, बल्कि बुद्धि के नियन्त्रण में वासनाओं की तृप्ति या विवेकपूर्ण जीवन जीने में है। भारतीय मनीषियों ने कर्मवाद और आत्मसंयम पर बल देकर व्यक्ति में संयमी जीवन जीने की, सम्मार्ग पर चलने की अपेक्षा किया। उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति ऐहिक जगत को एकमात्र वास्तविकता नहीं मानती है यह ऐहिक जगत के अतिक्रमण (परे) पर बल देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में इसने संयमी जीवन के आधार पर जगत के अतिक्रमण और आत्म स्वरूप के वास्तविक ज्ञान पर बल दिया।

इन आदर्श एवं जीवन–मूल्यों ने भारतीय संस्ति में स्थायित्व पैदा किया। भारतीय संस्कृति की धारा अक्षुण्य है और यह मानव सभ्यता के उषः काल से ही देश – काल–परिस्थिति– आवश्यकता के अनुरूप नवीन तत्वों को समेटते हुए निर्बाध रूप से आगे बढ़ रही है। उल्लेखनीय है कि विश्व की अनेक परवर्ती संस्कृतियां (असीरियन, सुमेरियन, बेबीलोनियन, रोमन आदि) आज इतिहास की वस्तु, और अतीत की कथामात्र होकर रह गयी है। किन्तु, अनेक विपरित झंझावातो, विदेशी आक्रमणों– प्रत्याक्रमणों के बावजूद यादि भारतीय संस्कृति में स्थायित्व है तो इसका कारण उपरोक्त जीवन मूल्यों की स्वीकृति ही है।

सन्दर्भ :–

1. जैमिनि, पूर्वमीमांसा सूत्र 3/1/3
2. पी. बी. कामे, हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र, भाग– 2 पृष्ठ 190 3)
3. शिवशंकर त्रिपाठी, राष्ट्र चिन्तन रू सांस्तिक इतिहास दृष्टि, पृष्ठ 6–7

******

भारतीय संस्कृति तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

डॉ.आशुतोष कुमार सिंह
गेस्ट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग
शास.टी.आर.एस.कॉलेज
रीवा, म.प्र.

वैदिक संस्कृति और सभ्यता ही भारतीय आचार–विचार का मूल स्रोत है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भारतीय विचार–धारा और विचारों के अनुरूप आचरण दोनों ही सन्निविष्ट है। भारतीय विचारों में पंचभूतों से निष्पन्न शरीर के अन्तर्गत एक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। यह आत्मा, जो अजर–अमर है, जब एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को ग्रहण करती है तो इसे ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं। जिस प्रकार भोजन वस्त्रादि द्वारा शरीर के प्रति हमारे अनेक कर्तव्य हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। आत्मा के प्रति कर्त्तव्यों को भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान है। उन आचरणों को, जिनसे आत्मा उन्नत हो, धर्म कहा गया है। धर्म का अर्थ है जो उन्नति की ओर ले जाय और इस उन्नति से आशय आत्मा की उन्नति से है। धर्म से अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है और उसी से अन्ततोगत्वा मोक्ष भी प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति मूलतः अध्यात्म प्रवण है। इसमें अनियन्त्रित तथा उच्छृंखल रूप से अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग को विघातक माना गया है किन्तु धर्म को लक्ष्य में रखकर अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के भी साधन माने गये हैं। वैदिक ऋषियों ने ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वों को हृदयंगम किया और प्रकृति के विधात को लक्ष्य में रखकर तदनुरूप ही प्रकृति के नियमों के आधार पर समाज व्यवस्था और धर्म व्यवस्था का सामंजस्य रखा। वैदिक संस्कृति और धर्म का किसी अन्य संस्कृति अथवा धर्म से कोई विरोध नहींय वरन् उसमें विश्वकल्याण की भावना ही समाहित है।

संस्कृति है क्या? शब्दकोश उलटने पर इसकी अनेक परिभाषाएं मिलती हैं, एक बड़े लेखक का कहना है की "संसार भर में जो भी सर्वोत्तम बातें जानी या कही गयी हैं उनसे अपने आपको परिचित कराना संस्कृति है"। एक दूसरी परिभाषा में कहा गया है कि "संस्कृति शारीरिक या मानसिक शक्तियों का प्रशिक्षण, सुदृढ़ीकरण या विकास या उससे उत्पन्न अवस्था है"। यह मन, आचार अथवा रुचियों की परिष्कृति या शुद्धि है। यह सभ्यता का भीतर से प्रकाशित हो उठना है। संस्कृति शब्द का प्रयोग आजकल जिस अर्थ में होने लगा है इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध न होने के कारण कुछ समालोचक यह भी कल्पना करने लगते हैं कि भारत में संस्कृति नाम की कोई बात पहले न थी। आजकल संस्कृति शब्द अंग्रेजी के कल्चर शब्द के लिए प्रयुक्त होता है। यह बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है। संस्कृति और संस्कार एक ही हैं। संस्कार शब्द का उपयोग अवश्य हुआ है परन्तु वह भी एक सीमित अर्थ में। संस्कार के सम्बन्ध में पृथक् प्रकरण में निरूपण होगा। यहाँ संस्कृति शब्द पर विचार उपस्थित है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों को सम्मिलित कर लेने पर संस्कृति शब्द अपने व्यापक रूप को द्योतित करने में समर्थ होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए आचार और विचार शब्द प्रयुक्त हुए है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भारतीय विचारधारा और विचारों के अनुरूप आचरण करना दोनों ही समाहित है। वास्तव में भारतीय संस्कृति का मूलभूत स्वरूप अध्यात्म प्रवणता है। भारतीय विचारों में पंचभूतों से निष्पन्न शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा की सत्ता मानी गयी है। यह आत्मा अजर–अमर है। शरीर बदलता रहता है परन्तु आत्मा सदा एकरूप रहता है। वही मुख्य पदार्थ है। वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है। आत्मा के प्रकरण में इसका निरूपण द्रष्टव्य है। आत्मा के एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर का ग्रहण करना ही 'पुनर्जन्म' का सिद्धांत है। इस दृष्टि से इस पुनर्जन्मवाद को भारतीय संस्कृति की एक विशेषता मानने पर वेदों को प्रमाण रूप में न मानने वाले बौद्ध, जैन आदि जो भारतीय है वे भी

इस संस्कृति के उपासक है। ये सब सम्प्रदाय पुनर्जन्म मानते हैं। इस प्रकार जहाँ तक आध्यात्मिक विचार का सम्बन्ध है इन सबमें ऐक्य है।

हम अगर भारतीय संदर्भ में संस्कृति की बात करेंगे तो देखेंगे कि भारत एक विविध संस्कृति वाला देश है और यह बात यहाँ के लोगों, व्यवहार, संस्कार और मौसम में भी प्रमुखता से दिखाई देती है। हिमालय की अनश्वर बर्फ से लेकर दक्षिण के दूर दराज में खेतों तक, पश्चिम के रेगिस्तान से पूर्व के नम डेल्टा तक, सूखी गर्मी से लेकर पहाड़ियों की तराई के मध्य पठार की ठंडक तक, भारतीय जीवनशैलियाँ इसके भूगोल की भव्यता स्पष्ट रूप से दर्शाती हैं। एक भारतीय के परिधान, योजना और आदतें इसके उद्भव के स्थान के अनुसार अलग–अलग होते हैं।

भारतीय संस्कृति अपनी विशाल भौगोलिक स्थिति के समान अलग–अलग है। यहाँ के लोग अलग–अलग भाषाएँ बोलते हैं, अलग–अलग तरह के कपड़े पहनते हैं, भिन्न–भिन्न धर्मों का पालन करते हैं, अलग–अलग भोजन करते हैं किंतु उनका स्वभाव एक जैसा होता है। चाहे कोई खुशी का अवसर हो या कोई दुख का क्षण, लोग पूरे दिल से इसमें भाग लेते हैं, एक साथ खुशी या दर्द का अनुभव करते हैं। एक त्यौहार या एक आयोजन किसी घर या परिवार के लिये सिमित नहीं है। इसी प्रकार अनेक समारोहों,शुभ अवसरों तथा दुःख में भी हम सभी एक साथ शामिल होते हैं।

संस्कृति के शब्दिक अर्थ की बात की जाए तो संस्ति किसी भी देश, जाति और समुदाय की आत्मा होती है। संस्कृति से ही देश, जाति या समुदाय के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने आदर्शों, जीवन मूल्यों आदि का निर्धारण करता है। अतः संस्कृति का साधारण अर्थ होता है– संस्कार, सुधार, परिवार, शुद्धि, सजावट आदि। वर्तमान समय में सभ्यता और संस्कृति को एक–दूसरे का पयार्य माना जाने लगा है लेकिन वास्तव में संस्कृति और सभ्यता अलग–अलग होती है। सभ्यता में मनुष्य के राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, प्रौद्योगिकीय व दृश्य कला रूपों का प्रदर्शन होता है जो जीवन को सुखमय बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जबकि संस्कृति में कला, विज्ञान, संगीत, नृत्य और मानव जीवन की उच्चतम उपलब्धियाँ सम्मिलित है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। यह माना जाता है कि भारतीय संस्कृति यूनान, रोम, मिस्र, सुमेर और चीन की संस्कृतियों के समान ही प्राचीन है। भारत विश्व की सबसे पुरानी सभ्यताओं में से एक है जिसमें बहुरंगी विविधता और समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। इसके साथ ही यह अपने–आप को बदलते समय के अनुसार ढालती भी आई है। भारतीय संस्कृति में प्राचीन गौरवशाली मान्यताओं एवं परंपराओं के साथ ही नवीनता का समावेश भी दिखाई देता है। यह विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं का महासंगम है, जिसमें सनातन संस्कृति से लेकर आदिवासी, तिब्बत, मंगोल, द्रविड़, हड़प्पाई और यूरोपीय धाराएँ समाहित हैं। ये धाराएँ भारतीय संस्कृति को इंद्रधनुषीय संस्कृति या गंगा–जमुनी तहजीब में परिवर्तित करती है।

अगर भारतीय संस्कृति के समन्वित रूप पर विचार करें तो इसमें विभिन्न विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। भारतीय संस्कृति में अध्यात्म एवं भौतिकता' में समन्वय नजर आता है। भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल में मनुष्य के चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं चार आश्रमों– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास का उल्लेख है, जो आध्यात्मिकता एवं भौतिक पक्ष में समन्वय लाने का प्रयास है। उल्लेखनीय है कि भारतीय संस्कृति ने अनेक जातियों के श्रेष्ठ विचारों को अपने में समेट लिया है। भारतीय संस्कृति में यहाँ के मूल निवासियों के समन्वय की प्रक्रिया के साथ ही बाहर से आने वाले शक, हूण, यूनानी एवं कुषाण भी यहाँ की संस्कृति में घुल–मिल गए हैं। अरबों, तुर्कों और मुगलों के माध्यम से यहाँ इस्लामी संस्कृति का आगमन हुआ। इसके बावजूद भारतीय संस्कृति ने अपना पृथक अस्तित्व बनाए रखा और नवागत संस्कृतियों की अच्छी बातों को उदारतापूर्वक ग्रहण किया। आज हम भाषा, खानपान, पहनावे, कला, संगीत आदि हर तरह से गंगा–जमुनी तहजीब या यूँ कहें कि वैश्विक संस्कृति के नमूने हैं। इस बिंदु पर विचार करना जरूरी है कि हड़प्पाकालीन सभ्यता की परम्पराएँ

एवं प्रथाएँ आज भी भारतीय संस्कृति में देखने को मिल जाती है, यथा–मातृदेवी की उपासना, पशुपतिनाथ की उपासना, योग–आसन की परंपरा इत्यादि। इसके अलावा भारतीय संस्कृति में 'प्रकृति मानव सहसंबंध' पर बल दिया गया है। हमारी संस्कृति मानव, प्रकृति और पर्यावरण के अटूट एवं साहचर्य संबंधों को लेकर चलती है। भारतीय उपनिषदों में 'ईशावास्यइदं सर्वम्' अर्थात् जगत् के कण–कण में ईश्वर की व्याप्तता को स्वीकार किया गया है।

यहाँ के विभिन्न विचारकों एवं महापुरुषों ने भारतीय संस्कृति को समन्वित रूप प्रदान करने वाले विचार प्रस्तुत किये हैं। फिर चाहे बुद्ध, तुलसीदास हो या गांधी जी, इन सभी को भारतीय संस्कृति के नायक के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा ये सभी चरित्र भारतीय संस्कृति को समन्वित स्वरूप देते हैं। भारत की विभिन्न कलाओं, जैसे– मूर्तिकला, नृत्यकला, चित्रकला, लोक संस्कृति इत्यादि में भारतीय संस्कृति के समन्वित स्वरूप को देखा जा सकता है। विभिन्न धर्म, पंथों एवं वर्गों के लोगों का नेतृत्व इन कलाओं में दृष्टिगोचर होता है, जैसे– मध्यकाल में इंडो–इस्लामिक स्थापत्य कला और आधुनिक काल में विक्टोरियन शैली। भारतीय संस्कृति का समन्वित रूप केवल भौगोलिक–राजनीतिक सीमाओं में ही नहीं है बल्कि उसके बाहर भी है। भारत के अंदर बौद्ध, जैन, हिंदू, सिख, मुस्लिम, ईसाई आदि धर्मों के लोग एवं उनके पूज्य–स्थल हैं, जो 'शांतिपूर्ण' सहअस्तित्व को दर्शाते हैं।

विदित हो कि संस्कृति का स्वरूप 'साहित्य' में सबसे अधिक समर्थयपूर्ण तरीके से अभिव्यंजित होता है। संस्कृति साहित्य का प्राण है। साहित्य की विभिन्न विधाओं में संस्कृति के प्रभाव को देखा जा सकता है। यहाँ की संस्कृति के आधारभूत मूल्य दया, करूणा, प्रेम, शांति, सहिष्णुता, लचीलापन, क्षमाशीलता इत्यादि को भारतीय साहित्य में समुचित तरीके से अभिव्यक्ति दी गयी है। भारतीय संस्कृति का यह समन्वित रूप संस्कृत भाषा के माध्यम से रामायण, महाभारत, गीता, कालिदास–भवभूति–भासके काव्यों और नाटकों, के माध्यम से बार–बार व्यक्त हुआ है। तमिल का संगम साहित्य, तेलुगु का अवधान साहित्य, हिंदी का भक्ति साहित्य, मराठी को पोवाड़ा, बंगला का मंगल नीति आदि भारतीय उद्यान के अनमोल फूल हैं। इनकी संयुक्त माला निश्चय ही 'समेकित भारतीय संस्कृति' का प्रतिनिधित्व करती है। तुलसीदास मध्यकाल में भारतीय संस्कृति के समन्वय के सबसे बड़े कवि के रूप में नजर आते हैं।

भारतीयों ने गणित व खगोल विज्ञान पर प्रामाणिक व आधारभूत खोज की। शून्य का आविष्कार, पाई का शुद्धतम मान, सौरमंडल पर सटीक विवरण आदि का आधार भारत में ही तैयार हुआ। तात्कालिक कुछ नकारात्मक घटनाओं व प्रभावों ने जो धुंध हमारी सांस्कृतिक जीवन–शैली पर आरोपित की है, उसे सावधानी पूर्वक हटाना होगा। आज आवश्यकता है कि हम अतीत की सांस्कृतिक धरोहर को सहेजें और सवारें तथा उसकी मजबूत आधारशिला पर खड़े होकर नए मूल्यों व नई संस्कृति को निर्मित एवं विकसित करें। और इसके लिए हमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की जरूरत होगी इसीलिए भारत के अनेक महान विभूतियों ने अपनी भारतीय संस्कृति के पोषण तथा संरक्षण के लिए राष्ट्रवाद से भी ऊपर उठकर 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' पर बल दिया। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद प्रभु श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन में विद्यमान हैं, सही अर्थों में श्रीरामचन्द्र ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के संस्थापक हैं। इसीलिए वे राष्ट्रपुरुष है। वास्तव में भारत में राष्ट्रवाद राजनीतिक या भौतिकवादी न होकर सांस्कृतिक है, शक्ति तथा पौरुष के बिना मनुष्य किसी भी कार्य को निष्पादित नहीं कर सकता, इसी पौरुष और शक्ति के बल पर प्रभु श्रीराम विजित होते हैं और पुरुषोत्तम कहलाते हैं।

संदर्भ

1. ठाकुर पंडित आदावत, वेदों में भारतीय संस्कृति, हिंदी समिति सूचना विकास उ. प्र. लखनऊ
2. दिनकर रामधारी सिंह, संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज
3. वर्मा, सुरेन्द्र, भारतीय कला एवं संस्कृति के प्रतीक, मध्य प्रदेश ग्रन्थ अकादमी ,भोपाल
4. नंदकुमार जे., बदलते दौर में हिन्दुत्त्व, इंडस स्कोल्स भाषा, नई दिल्ली

भारतीय दर्शन में धर्म एवं नैतिकता की अवधारणा

डॉ वर्षा चौरसिया
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन म.प्र.

धर्म शब्द की उत्पत्ति धृ नामक धातु से हुई है जिसका अर्थ धारण करना है। धर्म एक ऐसा तत्व है जो हमें कर्तव्य का बोध कराता है धर्म हमारा नियंत्रक है अतः उसे यम की संज्ञा दी गई है हमारे भारतीय ग्रंथों में धर्म द्वारा बैल का और पृथ्वी द्वारा गाय का रूप धारण करने की कथा आती है जिसका प्रतीक का अर्थ है सतयुग में बैल 4 चरणों से चलता है द्वापर में 3 से त्रेता में 2 से एवं कलयुग में सिर्फ एक पैर से वर्तमान में धर्म एक चरण से विद्यमान है धर्म में काल का प्रभाव भी गतिमान है जो सनातन काल से चला आ रहा है अतः धर्म को सनातन कहा गया है धर्म शब्द का प्रयोग कर्तव्य गुण नियम न्याय शील कर्म आदि कई अर्थों में होता आया है वैदिक साहित्य में उसका अर्थ धारण करना सहायता करना या पोषण करना होता है उपनिषदो मे इसका प्रयोग वित्त कर्मों के पालन के अर्थ में हुआ है। महाभारत में कहा गया है ध्रियते लोक अनेन इति धर्म अर्थात जो संसार को धारण करता है जो संपूर्ण समाज को एक बनाए रखता है। महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है यतो अभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि सधर्म अर्थात धर्म वह है जो मनुष्य का चारों ओर से कल्याण करें। धर्म एक प्रकार का ज्ञान है जिसमें निरपेक्ष विज्ञान अथवा सीमित या असीमित की परमार्थिक एकता का पूर्ण बोध होता है धर्म वह सर्वव्यापी अभिव्यक्ति है जो अलौकिक आदर्श पूर्ण विषय के प्रति आस्था पर आधारित होती है और जिसके प्रति आत्मा बंधन तथा वचनबद्धता उपासना यस समाधि के द्वारा अभिव्यक्त दृढ़ किया जाता है।

धर्म की कुछ मूलभूत विशेषता जिसके अंतर्गत पहली है धर्म मानव की विशिष्ट मनोदशा अभिव्यक्ति है जो उसके समूचे जीवन को प्रभावित करती है दूसरी यह अभिवृत्ति किसी अतींद्रिय अलौकिक एवं आध्यात्मिक सत्ता की ओर उन्मुख होती है ना की किसी साधारण या अलौकिक विषय के प्रति आकर्षित होती है तीसरी धर्म का आधा रास्ता है ना कि तर्क धर्म को मानने वाले अलौकिक के आध्यात्मिक सत्ता के अस्तित्व में आस्था रखता है चौथी धर्म का आचरण करने वाला धार्मिक कार्यों की पूर्ति पूजा अर्चना के माध्यम से करता है जिसे धार्मिक भाषा में कर्मकांड कहा जाता है जिसे पवित्र कार्य माना जाता है पांचवी धर्म के तीन महत्वपूर्ण पक्षों का भी उल्लेख किया जा सकता है जैसे एक ज्ञानात्मक या सैद्धांतिक दो संवेगात्मक तीन व्यवहारिक धर्म आदि शक्ति के संबंध में आध्यात्मिक अनुसंधान है धर्म से अर्थ के नियम जो समाज के विभिन्न अंगों को मिलाकर रख सके या जो समाज की रक्षा कर सकें प्राचीन भारतीय धर्मों में धर्म का अर्थ धर्म सिद्धांत मात्र नहीं था धर्म में मनुष्य के संपूर्ण जीवन के सभी क्रियाकलाप सम्मिलित है इसका अर्थ वह जीवन पद्धति थी जिसमें भक्ति के रूप में तथा समाज के सदस्य के रूप मे प्रत्येक मनुष्य की गतिविधियां नियंत्रित होती थी भारतीय धर्म ग्रंथों में समाज को गतिशील बनाने वाली संस्थाओं का विवेचन मिलता है वर्ण तथा आश्रम व्यवस्थाएं भारतीय सामाजिक ढांचे का आधार स्तंभ थी चारों पुरुषार्थ होने मनुष्यों में प्रवृत्ति और निवृत्ति की संतुलन बनाए रखा संस्कारों ने उसे जीवन लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायता की रामायण में चरित्र ही धर्म माना है इसी का उदाहरण राम जी चरित्रवान एवं धर्म के साकार रूप हैं चरित्र की उन्नति मन के संयम इंद्रियों पर नियंत्रण और कर्तव्य पालन से प्राप्त की जा सकती है दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना लोक जीवन की मर्यादा की रक्षा करना समाज की व्यवस्था बनाए रखने में योगदान करना ही धर्म है इस धर्म बंधन में बंधा मनुष्य स्वार्थ से पर मार्च को श्रेष्ठ समझकर लोकमंगल की साधना में लगा रहता है

धर्म शब्द हमारी संस्कृति में मुख्य तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है प्रथम सामान्य मानव धर्म जिसकी अभिव्यक्ति नैतिकता और सदाचार के रूप में की जाती है द्वितीय सांप्रदायिक धर्म जिस का संचालन किसी धर्म प्रवर्तक द्वारा चलाए गए धर्म अथवा संप्रदाय के नियमों और धर्म ग्रंथों के अनुसार होता है तृतीय लोक धर्म जिसके अंतर्गत व्रत उत्सव देवी देवता की पूजा पशु पक्षी वृक्ष नदी पर्वत वृत्त तीर्थ रितु उत्सव रीति रिवाज आदि से संबंधित नृत्य आते हैं धर्म के सभी रूप मनुष्य की श्रद्धा मई चेतना की देन है श्रद्धा और विश्वास के बिना धर्म की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती मनुष्य के चार पुरुषार्थ में धर्म का स्थान मोक्ष के समान ही महत्वपूर्ण है मोक्ष तो जीवन का अंतिम परम फल है तथा धर्म उसका प्रथम साधन है समस्त सृष्टि धर्म पर ही आधारित है यहां धर्म का अर्थ स्वाभाविक नियम से है मानव समाज अथवा लोक को धारण करने वाले जो तत्व या नियम है वही मानव धर्म है इस प्रकार समाज बनता है तथ्य व्यक्ति और समाज के बीच संबंध सुधर होता है धर्म का यह स्वरूप ही मानव धर्म है जिसे सामान्य धर्म कहा जा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति नैतिक मूल्य अथवा सदाचार संबंधी नियमों के रूप में होता है।

भगवत गीता भी मनुष्य के नैतिक विकास पर बल देती है इसके अनुसार मनुष्य को निष्काम कर्म करना चाहिए इसके लिए श्रद्धा और बुद्धि दोनों आवश्यक है बुद्धि इसलिए कि कर्म की कुशलता से किया जा सके और श्रद्धा इसलिए कि मनुष्य पूरी लगन और फुर्ती से कार्य कर सकें गीता मनुष्य के नैतिक विकास पर बल देती है मनुष्य के नैतिक विकास से ही समाज की उन्नति संभव है नैतिक मूल्यों के आधार के बिना शब्द समाज एवं सामाजिक जीवन संभव नहीं है।

महाभारत के सभा पर्व में एक प्रसंग आता है कि जब भगवान श्री कृष्ण ने दुर्योधन को समझाते हैं कि तुम युद्ध की स्थिति मत पैदा करो ऐसा करना अधर्म है इस पर दुर्योधन ने कहा कि हे .ष्ण मुझे धर्म अधर्म पर उपदेश मत दीजिए मैं जानता हू कि धर्म क्या है परंतु उसमें मेरा मन नही लगता और मैं यह भी जानता हू क्या धर्म क्या है परंतु उससे मे पृथक नहीं हो पा रहा हूं मेरे अंदर एक देवता बैठा जैसा जैसे वह आदेश करता वैसे वैसे मैं आचरण करता हूं यहां देवता का तात्पर्य विवेक से है यही अविवेक अनुचित को उचित शुभ अशुभ और कर्मियों को कर्तव्य के रूप में प्रस्तुत करता है एक और दुर्योधन को प्रेरित करने वाला उसका अविवेकी मामा शकुनि जो उसे केवल स्वार्थ जनित कार्य करने के लिए प्रेरित करता है दूसरी ओर कुरुक्षेत्र का युद्ध आरंभ करने से पूर्व विवेकी युधिष्ठिर भगवान श्री कृष्ण के पास जाते हैं और उनसे आग्रह करते है कि आप मुझे बताएं कि मैं अधर्म के पथ पर तो नहीं हूं यदि मैं अधर्म के पद पर हूं तो मैं अभी भी वापस चला जाऊंगा और युद्ध नहीं करूंगा इस पर श्री कृष्ण ने कहा कि हे युधिष्ठिर धर्म क्या है और धर्म क्या है इसका निर्धारण तो अब यह युद्ध ही करेगा जो युद्ध में विजई होगा वह धर्म पद पर माना जाएगा अध्यात्म आंतरिक शुद्धि करके व्यक्ति के अंदर विवेक जागृत करता है जिसके आधार पर वह उचित अनुचित शुभ अशुभ कर्तव्य कर्तव्य का निर्धारण करने में सक्षम हो पाता है विवेक ही हमारे अंदर प्रेम करुणा सहानुभूति सही सुनता सत्य निष्ठा कर्तव्यनिष्ठा का भाव विकसित करके उसके अनुरूप आचरण करने की प्रेरणा प्रदान करता है आज भौतिक विकास के साथ–साथ आध्यात्मिक विकास पर भी बल दिया जाए जिससे संपूर्ण मानवता को मूल्य संकट से दुबारा जा सके।

भारतीय परंपरा में धर्म को अत्यंत ही व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है यह केवल उपासना पूजा पद्धति तथा ऐश्वर्या अलौकिक सत्ता से संबंधित विश्वास मात्र नहीं है अपितु जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप को धर्म में कहा गया है दूसरे शब्दों में कहा जाए जन्म से मृत्यु तक मनुष्य जो कुछ भी करता है वह सब कुछ धर्म का ही अभिन्न अंग माना गया है परंतु जीवन के प्रत्येक क्रिया कलाप धर्म में होते हुए भी उसे संयम के द्वारा नियंत्रित करने की बात कही गभारतीय परंपरा मे सामान्यतः धर्म एवं नैतिकता को एक ही सिक्के के दो पक्ष मान मानते हुए दोनों को अविभाज्य माना गया है इसके अनुसार जो व्यक्ति धार्मिक होता है उसका नैतिकआचरण भी उतना ही शुद्ध एवं उत्कृष्ट होता है तथा जिसका नैतिक आचरण जितना अधिक उत्कृष्ट होगा उसकी आध्यात्मिक स्थिति उतनी ही ऊंची मानी जाएगी क्योंकि हमारा आचरण ही आध्यात्मिक की कसौटी है हम चाहे जितना भी

तप कर ले समाधि लगा ले सिद्धियां क्यों ना अर्जित कर लेंगे जी हमारा आचरण अशिष्ट और अमर्यादित है तो वह आध्यात्म से कोसों दूर है। भारतीय परंपरा में धर्म को किसी अलौकिक सत्ता से संबंधित न करके उसे मूलतः व्यक्ति के आचरण से संबंधित किया गया। वहीं कुछ विचारको ने नैतिकता और धर्म के अंतर को इस प्रकार बताया है कि नैतिकता केवल शिवम से संबंधित होती है जबकि धर्म सत्य शिव सुंदर इन तीनों से संबंधित है नैतिकता अनंत की ओर अभिमुख है जबकि धर्म अनंत से अभिमुख है। नैतिकता अनंत के चौखट तक तो पहुंचा देती है पर अनंत का ज्ञान कराने में वह असमर्थ अनंत का ज्ञान तो केवल धर्म ही करा सकता है नैतिकता साधन है इसकी तुलना में धर्म साध्य है नैतिक आचरण अपने आप में साध्य नही हो सकता है वह सा किसी शब्द की प्राप्ति का साधन हो सकता है धर्म ही वह लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति के लिए नैतिकता अग्रसर होती है यदि सदाचरण के बाद भी नि श्रेयस की प्राप्ति ना हो सके तो व्यक्ति नैतिक आचरण करें ही क्यों। भारतीय धर्म के स्वरूप एवं नैतिकता का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए पहले भी कहा जा चुका है कि सामान्य धर्म ही मानव धर्म है उसकी अभिव्यक्ति ही नैतिकता एवं सदाचार के रूप में होती है भारतीय मनीषियों ने भी सामान्य धर्म को ही वास्तविक धर्म माना है भारत में सामान्य धर्म को ही वास्तविक धर्म माना है। सामान्य धर्म के तत्व अथवा नैतिक मूल्य ही धर्म के मूल तत्व हैं जो सभी संप्रदायों में माननीय होते हैं किंतु किसी सभी संप्रदाय के लोग उनकी ओर ध्यान नही देते हैं नहीं व्यावहारिक जीवन में उनके अनुसार आचरण करते हैं।

वर्तमान परिवेश में हमारा शिक्षा जगत विभिन्न प्रकार के मूल्यों संकटों से घिरा है जहां हमारे सामाजिक धार्मिक व नैतिक मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं हमें अपने जीवन मूल्यों का आधार शाश्वत तत्वों में खोजना चाहिए इस शासक तत्व को हम धर्म में ही पा सकते है क्योंकि हिंदू धर्म प्राणी मात्र में ब्रह्म का निवास मानता है भारतीय दर्शन में वर्णित धर्म नैतिकता का वर्तमान समय में ज्ञान तथा उसके उपयोग का आवश्यक हो गया है इसके लिए हमें अपने परिवार में इसे आवश्यक रूप से भावी पीढ़ी को अवगत कराना चाहिए ताकि वे अपनी संस्कृति धार्मिक एवं नैतिक विरासत को समझ तथा सह सके और अपने जीवन को उन्नत विकास दे सके।

संदर्भ ग्रन्थ

1. धर्म दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन डॉ शिवभानु सिंह
2. सामान्य धर्म दर्शन याकूब मसीह
3. प्राचीन भारत का सामजिक एवं आर्थिक इतिहास
4. धर्म दर्शन ऋषिकान्त पाण्डेय

******

भारतीय दर्शन में रोग योग एवं विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ

डॉ. एच.एन. सिंह
एम.बी.बी.एस., डी.जी.ओ.
स्त्री रोग विशेषज्ञ
पूर्व सी.एम.एच.ओ.
रीवा (म.प्र.)

।। ओम श्रीः श्रीः गुरुः शरणम् ।।

श्री गुरु पद नख मणिगन ज्योति। सुमिरत दिव्य हृदय हिय होती।।

गुरु पद रज मृदु मजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष विभंजन।।

हम निरोगी इसलिए होना चाहते है क्योंकि निरोगी शरीर में ही आनन्द प्राप्त होता है। हमारा सारा प्रयास ही मात्र आनन्द प्राप्ति के लिए है। निरोगी शरीर वह है, जिसमें रोग नहीं है, जो स्वस्थ है वह निरोगी है, जो स्वस्थ नहीं है, वह रोगी है।

स्वास्थ्य क्या है ?

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने परिभाषित किया है कि शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक रूप से प्रसन्न व कुशल होने की स्थिति स्वास्थ्य है। यह सिर्फ बिमारी या बुढ़ापा की दुर्बलता से छुटकारा नहीं है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का समुचित तरीका भारतीय चिकित्सा पद्धति, प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में सविस्तार से वर्णित है।

'स्व' में स्थिति रहना ही स्वास्थ्य है। अतः शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक क्षेत्र में 'स्व' में स्थिति रहें तो स्वस्थ रह सकते हैं। शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक बीमारी ये तीनों एक–दूसरे से स्वतंत्र नहीं हैं। एक–दूसरे पर पूर्णतः आश्रित हैं।

(अ) शारीरिक बीमारी (व्याधि)–

1. अगर हम किसी जीव के विकास पर (जड़ से चेतन की तरफ) ध्यान दें तो जीव का विकास समुद्र से एक कोशिकीय प्राणी से शुरू होकर सबसे विकसित मनुष्य का शरीर बनता है।

2. दूसरी तरफ यह चेतन का विलास मात्र है, वही सब करके देख रहा है। शरीर की रचना एक–एक कोश से मिलकर होती है। ऊतक–ऊतक तंत्र से अंग एवं अंत में सब मिलाकर शरीर बन जाता है। इसी के द्वारा पूरे शरीर में चयापचय होता रहता है। यह शरीर जटिल संतुलन से संतुलित रहता है। इसी कारण से जब असंतुलित होता है तब उसके कार्य एवं रचना में परिवर्तन शुरू हो जाता है। इस प्रकार पूरे शरीर की क्रियाओं में विक्षेप उत्पन्न होकर बीमारी के रूप में दिखती हैं। उदाहरण–जिस प्रकार बालीबॉल के मैदान में बँधे जाल में उँगली डाल कर खींच दें तो उस खाने में अधिक विक्षेप होता है किन्तु थोड़ा–थोड़ा विक्षेप हर खाने में हो जाता है। मात्रा कम ज्यादा हो सकती है।

आयुर्वेद में इसको त्रिदोष कहते हैं एवं इसे ही बीमारी की जड़ मानते हैं।

यह असंतुलन क्यों होता है?

जब शरीर, मन एवं समाज 'स्व' में स्थित नहीं रहता तो अस्वस्थ हो जाता है। शरीर के प्रत्येक कोश को हवा, पानी एवं भोजन (खाद्य पदार्थ) संतुलित रूप से मिलना तय होता है, अगर इनकी पूर्ति सामान्य रूप से नहीं हो रही है तो असंतुलन होना अवश्यंभावी है। जब ये तीनों पर्याप्त एवं शुद्ध रूप से प्राप्त नहीं होते हैं तो रचना के साथ–साथ कार्य भी प्रभावित होता है। फलस्वरूप बीमारी हो जाती है। इसके अलावा वातावरण का परिवर्तन भी प्रभाव डालता है। कोशिकायें हमेशा बनती एवं नष्ट होती रहती हैं। बचपन काल में बनना तेज एवं नष्ट होना धीमा रहता है, जावानी में संतुलन एवं बुढ़ापे में उलट दशा हो जाती है। अगर सभी आवश्यक पदार्थ प्राप्त होता रहे तो इन कोशाओं की उम्र बढ़ जाती है एवं प्राणी की उम्र बढ़ती है, एवं गुणवत्तापूर्ण जीवन के साथ 100 वर्ष या अधिक का जीवन मिल सकता है।

(ब) मानसिक बीमारी (आधि)–

मोह (अज्ञान) ही सभी बीमारियों का मूल जड़ है। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर, एवं अहंकार इत्यादि ही इसके कारण हैं।

मनुष्य मननशील जानवर है–जब मनन करना छोड़ देता है तो सिर्फ जानवर बचता है, तथा ऐसा ही व्यवहार करता है जैसे जानवर करते है एवं स्वरूपच्युत हो जाता है।

मन एवं इन्द्रिय जब बुद्धि के बस में नहीं होते हैं तभी मानसिक बीमारी शुरू होती है, ये जिस क्रम से शरीर में आते हैं, उल्टे क्रम से निकलते हैं।

(स) सामाजिक बीमारी –

जैसे हमारा शरीर होता है उसी प्रकार का समाज भी होता है। समाज, व्यक्ति, परिवार, गॉव एव क्षेत्र से राष्ट्र एवं विश्व बनता है। मानव शरीर समाजवाद (प्रजातंत्र) का सबसे उत्तम उदाहरण है, इससे सामाजिक व्यवस्था सीखी जा सकती है। समाज का कोई तबका अगर बीमार हुआ तो सामाजिक बीमारी हो गई। समाज मे मौजूद तबकों के बीच जितनी अधिक असमानता (गहरी खाई) होगी, समाज उतना अधिक बीमार होगा।

रामराज्य के पहले यह खाई बहुत गहरी थी, जिसको दूर करने के लिए परमपिता परमात्मा को श्री रामजी के रुप में आना पड़ा। निषाद् एवं गुरु वशिष्ठ के बीच की खाई जो चित्रकूट मे जा करके खत्म हो गई थी तथा यहीं से रामराज्य की स्थापना का कार्य शुरु हो गया था।

चिकित्सा पद्धतियाँ–

विश्व में कई प्रकार की चिकित्सा पद्धति मौजूद है, और सबकी सब अपनी उत्कृष्टता का दावा भी करती हैं। होमोपैथी, आयुर्वेद, यूनानी, एलोपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा, देशी चिकित्सा वगैरह। उपलब्ध सुविधा एवं संसाधन समझ के कारण बहुत सी अन्य पद्धतियाँ भी मौजूद हैं।

चिकित्सा में रोग की पहचान, गंभीरता, कारण के हिसाब से निवारण करना होता है। शरीर की कार्य विधियों का नियंत्रण अंतःस्रावी ग्रंथियों से होता है, जिसमें सबसे प्रभावी कारटेक्स की बाहरी पर्त से होती है एवं इन सबका नियंत्रण मन एवं श्वसन से जुड़ा हुआ है। जब मन में तनाव व व्यग्रता होती है तब अपनी श्वसन गति बढ़ जाती है तो इसका उल्टा भी सत्य है। श्वास गति कम करके मन को शान्त किया जा सकता है। यही प्राणायाम् का सिद्धान्त है।

योग का महत्व–

अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) पर हमारे यहाँ सबसे अधिक जोर दिया गया है। यम, नियम, आसन से शरीर मन एवं समाज की आधार, भूमिका तैयार होती है। प्राणायाम् मध्य में है, इसके द्वारा शरीर, मन एवं समाज पुष्ट होता हैं। जो आगे बढ़ करके समाधि (आनन्द) प्राप्ति का सफर पूरा कर सकते हैं। सिर्फ प्राणायाम् ही योग नही है, इसके द्वारा शरीर, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि में संतुलन बनता है फलस्वरूप निरोगिता की तरफ झुकाव शुरू होता है। 'प्रेमानन्द ही सबसे परम एवं चरम लक्ष्य माना जा सकता है और यही है भी।" जो असह्य वेदना है उपचार द्वारा कम करते हुए कारण का निवरण कर शरीर को आराम देते हुए रोग ठीक कर सकते हैं।

व्यक्ति स्वच्छता, रहन–सहन, खान–पान, आचार–विचार एवं अन्य कुछ उपायों के द्वारा रोग में कमी एवं समाप्ति की जा सकती है। सभी पद्धतियों के जानकार–विशेषज्ञ मौजूद है, जिनके अधिक से अधिक लाभ लिया जा सकता है। आयुर्वेद में बात–पित्त, कफ के संतुलन से बीमारी नहीं होती है, आदमी स्वस्थ रहता है। अतः इनका लाभ लिया जा सकता है। बहुत से रस–रसायन एवं औषधियाँ उपलब्ध रहती हैं। खान–पान, आहार–विहार, निन्द्रा एवं मानसिक शक्ति भी मदद करती हैं।

एलोपैथी में बीमारी के कारण, बचाव निवारण करते हैं एवं तरह–तरह के इलाज हैं, आवश्यकता पड़ने पर शल्य क्रिया की जाती है।

होमोपैथी एवं यूनानी में भी कई तरह के इलाज करते हैं।

स्फोटवाद का विवेचन

डॉ० रेनू चौधरी
सहायक आचार्य
दर्शनशास्त्र विभाग
सी०एम०पी०डिग्री कालेज
प्रयागराज

प्राचीन भारतीय आचार्यो द्वारा अर्थविज्ञान के सन्दर्भ मे जिन अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तो का विश्लेषण किया गया है उसमें इस स्फोटवाद का विशेष स्थान है। जिसके अन्तर्गत वैयाकरणों ने भाषातत्व पर बाहय और आन्तरिक दोनों ही दृष्टिकोणों से विचार किया हैं जिसके अन्तर्गत शब्द और अर्थ का क्या स्वरूप है, उनमें क्या परस्पर संबध है, अर्थ का विकास कैसे होता है, अर्थ में नित्यता है या अनित्यता, आदि विषयों पर वैयाकरणों ने स्फोटवाद मे विचार किया है कि सार्थकता वर्ण में है या पद मे है या वाक्य में। यह सब स्फोटवाद का विषय है। स्फोटवाद में शब्द और अर्थ दोनों के तात्विक प्रश्नों पर विचार किया जाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम खण्ड में स्फोट और ध्वनि दोनों पर विचार किया है और यह कहा कि शब्द और अर्थ एक ही तत्व है। अर्थ शब्द का ही विवर्त है। प्रस्तुत शोध पत्र मे भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत स्फोटवाद के विचार को केंन्द्र में रखकर विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक पद्धति को प्रस्तुत किया गया है।

कूट चिन्ह– स्फोट, ध्वनि, परा, पश्यन्ति मध्यमा, और वैखरी।

स्फोट शब्द 'स्फूठ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है फूट पडना, निकल पडना अर्थात् जिससें अर्थ फूटता है, निकल पडता है। स्फोट एक अर्थवाचक शब्द को कहते है। स्फोट का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है कि "जो वर्णों से अभिव्यंग्य होकर अर्थ प्रतीति का जनक होता है वह स्फोट कहलाता है।"[1] इस प्रकार शब्द के अवयवभूत वर्ण स्फोट शब्द को अभिव्यक्त करते है और उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वाक्यार्थ बोध के लिए वाक्य स्फोट माना गया है। स्फोट का विश्लेषण प्राय सभी वैयाकरणाचार्यों ने किया है किन्तु सबके मत में एकरूपता नहीं है।[2] स्फोट के निम्नलिखित भेद बतायें गये है– स्फोट ध्वनि के रूप में, स्फोट शब्द के रूप में, स्फोट नित्य शब्द के रूप में, स्फोट जाति के रूप में, स्फोट वाक् के रूप में तथा स्फोट शब्दब्रहम के रूप में।

ये भेद एक दूसरे से बिल्कुल विभक्त नहीं, केवल विकासकम की दृष्टि से इस रूप में इसका वर्णन किया गया है। इनमें से स्फोट के ध्वनि स्वरूप का वर्णन महाभाश्य मे है। पंतजलि ने स्फोट और ध्वनि में केवल यह भेद दिखलाया है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है जबकि बृद्धि या विस्तार ध्वनि में होता रहता है।[3] पंतजलि के अनुसार स्फोट शब्द है और ध्वनि उसका गुण। शब्द मे स्फोट और ध्वानि दोनों रहते है।[4] भृर्तहरि ने शब्द में रहने वाले दोनों तत्वों की व्याख्या पंतजलि के अनुसार की है। अर्थात् उनके अनुसार उपादान शब्द में दो तत्व रहते है एक को शब्द का निर्मित्त कारण माना गया है और दूसरे का अर्थ मे प्रयोग किया जाता है।[5] इस प्रकार ध्वनि और स्फोट का व्यंग्य व्यंजक संबध है। ध्वनि स्फोट का व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य है। श्रोता जब सुनता है तो पहले ध्वनि को सुनता है अर्थात् श्रवणेन्द्रिय द्वारा ध्वनि का ग्रहण करता है ध्वनि ही कानों से सुनी जाती है स्फोट नही, स्फोट का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है। यह स्फोट नित्य तथा परमानन्द स्वरूप ब्रहमतत्व का पर्याय है।[6] अतः अर्थज्ञान के लिए दोंनों की आवश्यकता है।

भृर्तहरि के अनुसार वाक्यशक्ति के चार स्तरों पर होते है– परा, पश्यन्ति मध्यमा, और वैखरी। इन चारों में 'परा' नाम की वाक् को आत्मस्वरूप घोषित किया है। यह परा वाक् रूप स्फोट अत्यन्त सुक्ष्म रूप होने के कारण सर्वजन संवेद्य नहीं है। योगी लोग ही निर्विकल्प समाधि की अवस्था मे इसका साक्षात्कार कर पाते है।

पश्यन्ति का भी साधारण मनुष्य को प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता। भूर्तहरि के अनुसार पश्यन्ति पक्ष बुद्धि में स्थित शब्द की वह स्थिति है, जिसमें शब्द अखण्ड रूप में मन या बुद्धि में स्थित रहता है। यही शुद्ध चेतना है, जिसका ब्रहम से तादात्म्य है। भर्तृहरि इसी को शब्दब्रहम या निरपेक्ष शब्दतत्व कहते हैं। मध्यमा अवस्था को वाणी प्राप्त होती है। तब शब्द और अर्थ का तादात्म्य रहने पर भी वक्ता को उनका पृथक रूप से बोध होने लगता है।लेकिन दूसरों के सुनने योग्य न होने के कारण वह सूक्ष्म ही कही गयी है। भर्तृहरि ने इसे 'अन्तः सन्निवेशिनी' कहा है। वाणी या शब्द की उपयुर्क्त सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतर और सूक्ष्म– ये तीन अवस्थाएं प्रणव रूप है। इसके बाद चौथी वैखरी वर्ण या वाणी ही वक्ता के मुख से उच्चारित होकर श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बनती है। वैखरी शब्द का निर्वचन शरीर शब्द से किया जाता है। जिसके अनेक तरह के अर्थ किये गये है। यह वह स्तर है जिसका बोलने वाले और सुनने वाले द्वारा उपयोग किया जाता है। वह भिन्न ध्वनियों में बोला जाता है। पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी एक शब्द के तीन स्तर है जो चेतना, बुद्धि एवं प्राण इन्द्रियों से क्रमबद्ध रूप से संबधित है। पश्यन्ति सभी विभेदीकरण एवं कंम रहित है। यह अवर्णीय, अविभाज्य, एवं अविनाशी है। इस स्तर पर शब्द एवं उसके अर्थ में भेद नहीं है। मध्यमा शब्द का वह स्तर है, जहां पर शब्द और उसके अर्थ में भेद होते हुए भी वे एक है। यह शब्द का मानसिक स्तर है। इस स्तर पर शब्द एवं उसके अर्थ में कारण कार्य भेद है। इसी को भूर्तहरि स्फोट कहते है।

भूर्तहरि दो प्रकार के शब्द मानते है– क्षणिक एवं शाश्वत्। शाश्वत् शब्द स्फोट हैं, ध्वनि क्षणिक शब्द है। शाश्वत शब्द सामान्य है, क्षणिक शब्द विशेष है। क्षणिक शब्द अथवा ध्वनियां शाश्वत शब्द के विवर्त है, किन्तु शब्द और अर्थ एक ही वस्तु के दो पक्ष है।' अर्थ का धारण स्फोट है जिसके दो पक्ष होते है। एक पक्ष वह है जो अभिव्यक्त होता है और ध्वनियों द्वारा जाना जाता है। दूसरा पक्ष अर्थ का धारक है, इसे प्रकाशक कहते हैं। स्फोट एक और अविभाज्य है, इसकी वर्णों, शब्दों और वाक्यों में अभिव्यक्तियां असत् है, अतः स्फोट सत् है और इसकी विशेष अभिव्यक्तियां असत् है, किन्तु ये विशेष अभिव्यक्तियां ही स्फोट को समझने का साधन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. स्फोटवाद पृ०6
2. दृष्टव्य संस्कृत व्याकरण दर्शन, रामसुरेश त्रिपाठी पृ० 461
3. महाभाष्य 1/1/70
4. महाभाष्य 1/1/70
5. वाक्यपदीयम् भूर्तहरि 1/44
6. वाक्यपदीयम् भूर्तहरि पृष्ठ 1

*****

योग के विभिन्न आयाम : एक अनुशीलन

डॉ0 प्रमोद कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शन विभाग,
जे0 एन0 कॉलेज, धुर्वा, राँची

योग शब्द को भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की बहुमूल्य संपत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। यह एक ऐसी विद्या है जिसे सभी दर्शनों में सहजता से स्वीकार किया गया है। वैदिक तथा अवैदिक वाङ्मय में इसका आध्यात्मिक वर्णन बहुलता से पाया जाता है। इसका अन्तिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक साधन है। योग एक ऐसी साधना है, जिसे कोई भी व्यक्ति बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म–विशेष की अपेक्षा के अपना सकता है। योग साधना एक विशिष्ट क्रिया है जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के आचार, ध्यान तथा तप का समावेश होता है परन्तु इस सबका लक्ष्य केवल आत्मा का विकास ही है। सनातन मानव का सनातन ज्ञान योग ही वेद है। योग साधना एक अत्यन्त ही प्राचीन साधना है। इसकी उत्पत्ति कब हुई इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, योग शब्द का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद से मिलता है। योग के प्रथम आचार्य हिरण्यगर्भ को माना गया है। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'अथ योगअनेश्झासनम्' (योग सूत्र 1/1) में लिखा है कि "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन" अर्थात् योग के प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ ही है।

अपितु वर्तमान समय में योग साधना पतंजलि योग के नाम से जानी जाती है और इनको ही योग साधना का जनक माना जाता है परन्तु यह सत्य नहीं है। योग के प्रथम वक्ता हिरण्यगर्भ थे, इन्होंने ही सर्वप्रथम योग की चर्चा की थी। पतंजलि ने केवल इनके वाक्यों तथा उपदेशों को सूत्र रूप में ढालकर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है। योग का इतिहास आज से लगभग 5000 साल पुराना है। भारत में इसकी शुरूआत का श्रेय महर्षि पतंजलि को दिया जाता है। भारतीय ऋषियों ने आज से लगभग 5000 साल पहले ही इसे मनुष्य के शारिरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक बताया था। उनके अनुसार ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए योग एक प्रमुख साधन है। यह शब्द प्रक्रिया और धारणा बौद्धधर्म, जैनधर्म और हिन्दूधर्म में ध्यान प्रक्रिया से सम्बन्धित है।

योग मुख्यतः संस्कृत का शब्द है, इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से हुई है। ऋग्वेद में योग की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है–कि वह शक्ति जिससे हम अपने मन, मस्तिष्क और शरीर को एक सूत्र में पिरो सकते हैं, वह योग है। योग शब्द 'युज्' धातु से बना है, जिसके कई अर्थ स्वीकार किये गए है जैसे–कहीं पर इसका अर्थ–जोड़ना, मिलाना, मेल आदि है तो कहीं समाधि। इसी आधार पर जीवात्मा और परमात्मा का मिलन योग कहलाता है और कुछ जगहों पर इसी संयोग की अवस्था को समाधि की संज्ञा दी गयी है जो कि जीवात्मा और परमात्मा समतावस्था से प्राप्त होती है। इस तरह योग सम्बन्ध वाचक है। गीता में यह सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा में, जीव और शिव में सम्बन्ध है। गीता इसे ही मुक्ति लाभ कहती है। महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। जो शरीर, इन्द्रिय और मन के समस्त बंधनों से रहित शुद्ध आत्मा का दर्शन करना चाहते हैं उनके लिए योग एक महान साधन है।

योग का अर्थ है–चित्तवृत्ति का निरोध, चित्तभूमि या मानसिक अवस्था के पाँच रूप है–क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरूद्ध। प्रत्येक अवस्था में कुछ न कुछ मानसिक वृत्तियों का निरोध होता है। क्षिप्त अवस्था में चित्त एक विशय से दूसरे विशय पर दौड़ता रहता है, मूढ़ अवस्था में निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है, विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिए एक विशय पर लगता है परन्तु फिर अन्य विशय की ओर चला जाता है, एकाग्र चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण की अवस्था है यह योग की पहली सीढ़ी है और निरूद्ध अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और चित्त

अपनी स्वाभाविक स्थिति से शान्त अवस्था में आ जाता है। पतंजलि सूत्र चार पादो में विभक्त है–प्रथम पाद 'समाधि–पाद' कहलाता है। इसमें योग, स्वरुप, उद्देश्य और लक्षण, चित्तवृत्ति निरोध के उपाय तथा भिन्न भिन्न प्रकार के योगो की चर्चा की गयी है। दूसरा पाद 'साधना–पाद' कहलाता है। इसमें क्रिया–योग, क्लेश, कर्म–फल और उसका दुःखात्मक स्वभाव दुःखादि चतुष्टय का वर्णन है। तीसरा पाद 'विभूति–पाद' कहलाता है। इसमें योग के अन्तरंग अवस्थाओं तथा योगाभ्यास–जात सिद्धियों का वर्णन है। चौथा पाद 'कैवल्य–पाद' है। इसमें मुख्यतः कैवल्य या मुक्ति के स्वरुप की विवेचना की गयी है। चिकित्साशास्त्र के समान ही योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चार बातें स्वीकार करता है–आध्यात्मिक दुःख, अज्ञान, अज्ञान को दूर करने के लिए–सम्यक् ज्ञान एवं आध्यात्मिक बंधन से मुक्ति अथवा पूर्णता की सिद्धि।

इस प्रकार सभी आध्यात्मिक साधनाएँ इन चारो सिद्धान्तों को स्वीकार करती है भले ही विभिन्न परम्पराओं में ये विभिन्न नामो से जानी जाती हो। योगमार्ग का निर्देश ब्रह्मोपलब्धि के लिए भी दिया गया है जिसमें योग का अर्थ जीव और ब्रह्म का संयोग करते हुए कहा गया है कि जीव और ब्रह्म में अभेद का ज्ञान प्राप्त करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस दुःखदायी नश्वर संसार में निश्चय ही कुछ चीजे शाश्वत और शान्तिदायक भी है जो देश एवं काल की सीमाओं को पार कर हमेशा अपना महत्व बनाए रखती है। अनेक विदेशियों एवं हिन्दुएत्तर विद्वानों ने इसकी मुक्तकंठ से प्रसंशा की है। उदाहरण–

विलियम वॉन हम्बोल्ट : "गीता सबसे सुन्दर और यथार्थ अर्थों में सम्भवतः एक मात्र दार्शनिक गीत है जो किसी ज्ञात भाशा में लिखा गया है।"

ऐल्डुअस हक्सले : "गीता शाश्वत दर्शन के कभी भी रचे गये सबसे स्पष्ट एवं सर्वांगपूर्ण सारांशो में से एक है, इसलिए न केवल भारतीयों के लिए बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति के लिए इसका इतना स्थायी मूल्य है।"

श्रीकृष्ण प्रेम पूर्व नाम रोनाल्ड निक्सन : जिस किसी के पास भी आँख हो, उनके लिए गीता सत्य की प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित एक ग्रन्थ है और उस मार्ग के बारे में है जिसको सत्य तक पहुँचाया जा सकता है।

गीता हिन्दू या अन्य किसी धर्म की विशेष सम्पत्ति नहीं है। प्रत्येक धर्म में कही ज्यादा तो कही कम गहराई में छिपा हुआ यह पाया ही जाता है और किसी भी धर्म के आलम्बन के बिना भी यह कायम रह सकता है। इसीलिए गीता एक हिन्दू ग्रंथ एवं हिन्दू शिक्षा की चूड़ामणि होते हुए भी पृथ्वी भर के जिज्ञासुओ के मार्गदर्शकों की क्षमता रखती है। उपरोक्त कथनो से स्पष्ट है कि गीता विश्व के किसी भी धर्मावलम्बी को प्रेरणा देने वाली है, हिन्दू धर्म के लिए इसका विशेष महत्व तो है ही। आधुनिक युग में भी अनेक विद्वानों ने इस प्रकार भाष्य लिखे है जिनमें सर्वश्री लोकमान्य तिलक, राजगोपालचारी, महात्मा गाँधी, श्री अरविंद एवं राधाकृष्णन के भाष्य प्रसिद्ध है। श्रीमगवद्गीता विश्वसाहित्य की आकाशगंगा का एक अत्यंत उज्ज्वल, मधुर एवं आकर्षक प्रकाश–पुंज है, जिसकी स्निग्ध चन्द्रिका से हताश एवं निराश मानवता को अनिर्वचनीय शान्ति एवं शक्ति मिलती है। भगवद्गीता भारतीय मनीष का सर्वाधिक मधुर एवं मूल्यवान रत्न है। प्रस्थानत्रयी का स्मृतिप्रस्थान भगवद्गीता है। यह सर्वशास्त्रमयी' स्वीकर की गयी है।

भगवद्गीता को ईश्वर–संगीत भी कहा गया है इसे ईश्वर संगीत इसलिए कहा गया है क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं इसका निर्देश दिया है। यह हिन्दुओं का लोकप्रिय ग्रंथ है। गीता हमें आध्यात्मिक ज्ञान से निपुण बना देती है। महामना मालवीय जी के अनुसार गीता में ज्ञान, भक्ति आर कर्म का विचित्र समन्वय है। गीता तत्त्व चिन्तन, धर्म एवं नीतिशास्त्र की व्याख्या करती है। इसे मानवता का सुसमाचार (Gospel of Humanity) भी कहा गया है।

गीता वास्तव में सम्पूर्ण योग ग्रंथ है गीता में योग–विचार को बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। योग की महत्ता के कारण ही गीता 'योगशास्त्र' कहलाती है। गीता में योग शब्द का व्यवहार आत्मा का परमात्मा से मिलन के अर्थ में किया गया है। योग का व्यवहार गीता में विस्तृत अर्थों में किया गया है। गीता वह विद्या है जो आत्मा को ईश्वर से मिलाने के लिए अनुशासन तथा भिन्न–भिन्न मार्गों का उल्लेख करती है। गीता का

मुख्य उपदेश योग है। जिस प्रकार मन के तीन अंग है–ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। इसलिए इन तीनों अंगो के अनुरुप गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग एवं कर्मयोग का समन्वय हुआ है। योग की व्यवस्थित भूमिका प्रस्तुत करने में श्रीमद्भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। गीता में विभिन्न योग पद्धतियों का समन्वय दिखाई देता है। जिनका उद्देश्य एक ही है। इसमें कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग समत्वयोग तथा ध्यानयोग आदि का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार गीता ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का समन्वय होने के कारण योग की त्रिवेणी कही जाती है। गीता में सबसे अधिक प्रधानता निष्काम कर्मयोग को दिया गया है। मोक्ष प्राप्ति हेतु गीता का सुप्रसिद्ध मार्ग निष्काम कर्मयोग ही है। वहाँ योग की श्रेष्ठ व्याख्या योगः 'कर्मसु कौशलम्' बताई गई है। अर्थात् कर्मों में कुशलता ही योग है। अतः श्रीमद्भगवद्गीता में योग की व्यवस्थित एवं सांगोपांग भूमिका प्रस्तुत की गई है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेशु कदाचन" अर्थात् तेरा केवल कर्म में अधिकार है फल में नहीं, इस प्रसिद्ध अर्द्ध श्लोक में निश्चय ही गीता की शिक्षा का सार है। गीता का यह निष्काम कर्मयोग क्या है यह जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना जरूरी है कि योग क्या है वही इसका अर्थ भी स्पष्ट कर दिया गया है। गीता में योग शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दूसरे अध्याय में आया है। योग शब्द युज् धातु से बना है। जिसका अर्थ है मिलना अथवा संयोग होना। इस तरह योग सम्बन्ध वाचक है। गीता में यह सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा में जीव और शिव में है। गीता इसे ही मुक्ति लाभ कहती है। इस तरह योग मुक्ति का साधन है। योग के प्रकार भगवद्गीता के अन्तर्गत योग के मुख्यतः तीन प्रकार बताये गये हैं जो निम्नवत् है–1. कर्मयोग 2. भक्तियोग 3. ज्ञानयोग।

कर्मयोग : कर्मयोग शब्द का अर्थ है नित्य–नैमित्तिक कर्मों से सम्बन्ध स्थापित करना है। इच्छा त्याग के द्वारा जिस लक्ष्य प्राप्ति का पथ–प्रशस्त किया जाता है उसकी नींव नित्य नैमित्तिक कर्मों के सम्यक सम्पादन द्वारा दृढ़ की जाती है। नित्य–नैमित्तिक कर्मों के सम्पादन से जीव में आत्म–संयम अथवा नियम बद्धता आ जाती है जो मानसिक एकाग्रता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। नित्य नैमित्तिक कर्मों का अभ्यास करता हुआ साधक धीरे–धीरे स्वाभाविक रूप से ही भोग, आनन्द तथा स्वार्थ के उद्देश्य से अलग में होने सफल हो जाता है इस स्थिति को प्राप्त करने वाला योगी ही योगारूढ़ कहलाता है।

तिलक के अनुसार गीता कर्मयोग प्रधान ग्रन्थ है कर्ममार्ग बड़ा कठिन है। गहना कर्मणो गतिः। गीता के अनुसार कर्मों से सन्यास लेने अथवा उनका परित्याग कर देने की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है। केवल कर्मों के परित्याग मात्र करने से मनुष्य सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। बिना कर्म किए मनुष्य नहीं रह सकता। सभी अज्ञानी जीव प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से नियंत्रित होकर, कर्मों में प्रवृत्ति हो जाते है। मनुष्य यदि बाह्य दृष्टि से कर्म नहीं करता और विषयों में लिप्त न हो तो भी वह मन से उनका चिन्तन करता है। इस प्रकार का मानव मूढ़ और मिथ्या आचरण करने वाला कहा गया है कर्म करना मनुष्य के लिए अनिवार्य है। उसके बिना शरीर का निर्वाह भी सम्भव नहीं है। गीता की रचना निष्क्रिय और किंकर्त्तव्य विमुढ़ अर्जुन को कर्म के विषय में मोहित कराने के उद्देश्य से की गई है। यही कारण है कि गीता में श्रीकृष्ण निरन्तर कर्म करने का आदेश देते है।

भक्तियोग : भक्तियोग का तात्पर्य ईश्वर में अनन्य श्रद्धा और विश्वास है। इसमें साधक अपने ईष्ट के प्रति पूर्णतया समर्पित होता है। ब्रह्मसूत्रभाष्य के अनुसार– महत् बुद्धि भक्ति है जो स्नेह से परिपुरित होती है, यह जीव को सुख देने वाली है। यह योग भावना प्रधान और प्रेमी प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए उपयोगी है। वह ईश्वर से प्रेम करना चाहता है और सभी प्रकार के क्रिया– अनुष्ठान, पुष्प, गन्ध–द्रव्य, सुन्दर मन्दिर और मूर्ति आदि का आश्रय लेता और उपयोग करता है। प्रेम एक आधारभूत एवं सार्वभौम संवेग है। यदि कोई व्यक्ति मृत्यु से डरता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे अपने जीवन से प्रेम है। किसी व्यक्ति को अपनी पत्नी या पुत्र आदि से विशेष प्रेम हो सकता है। इस प्रकार के प्रेम से भय, घृणा अथवा शोक उत्पन्न होता है। भक्तियोग शिक्षा देता है कि ईश्वर से प्रेम इसलिए करना चाहिए क्योंकि ऐसा करना अच्छी बात है, न कि स्वर्ग प्राप्ति के लिए अथवा सन्तति, सम्पत्ति या और किसी इच्छा कामना की पूर्ति के लिए। विष्णु–पुराण में भक्तियोग की सर्वोत्तम परिभाषा दी गयी है।

या प्रीतिरविवेकानां विशयेश्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा में हृदयान्मापसमर्पतु।।

अर्थात्–हे ईश्वर अज्ञानी जनों की जैसी गाढी प्रीति इन्द्रियों के भोग के नाशवान् पदार्थों पर रहती है उसी प्रकार की प्रीति मेरी तुझमें हो और तेरा स्मरण करते हुए मेरे हृदय से वह कभी दुर न होवें। भक्तियोग सभी प्रकार के सम्बोधनों द्वारा ईश्वर को अपने हृदय का भक्ति अर्ध्य प्रदान करना सिखाता है– जैसे– सृष्टिकर्ता, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान इत्यादि। सबसे बढ़कर कल्पना जिसे मनुष्य का मन ईश्वर के प्रति ग्रहण कर सकता है वह यह है कि ईश्वर प्रेम स्वरूप है। जहाँ कहीं प्रेम है, वह परमेश्वर ही है।

ज्ञानयोग : स्वंज्ञान अर्थात् स्वयं का ज्ञान प्राप्त करने को कहते है। ज्ञान के माध्यम से ईश्वरीय स्वरूप का ज्ञान, वास्तविक सत्य का ज्ञान ही ज्ञानयोग का लक्ष्य है समस्त ज्ञेय तत्व का ज्ञान इस योग में अति उत्तमा के साथ कराया जाता है। भौतिक पदार्थों का परिज्ञान अर्थात् सांसारिक ज्ञान–विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है, अपितु तीनों गुणों सत्व, रजस् और तमस् और उनसे बने हुए समस्त पदार्थों से परे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा स्थूल सूक्ष्म और कारण जगत् अथवा, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश से परे गुणातीत, शुद्ध परमात्म तत्त्व को, जिसके द्वारा इन सब में ज्ञान, नियम और व्यवस्थापुर्वक क्रिया हो रही है, संशय, विपर्यय रहित पूर्ण रूप से जान लेना ज्ञानयोग है। संक्षेप में योग एक ऐसी साधना है, जिसके विभिन्न आयाम है अतः इसे सभी ने स्वीकार भी किया है। और इन तीनों के योग के अन्तर्गत सभी योग आ जाते हैं।

संदर्भ

1. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन–डॉ0 अर्हत् दास बन्डोबा दिगे–सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समीति–1981
2. भारतीय दर्शन–वाचस्पति गैरोला–लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद–1962
3. पातंजलयोग दर्शन–एक अध्ययन–रघुवीर वेदालंकार–ईस्टर्न बुक लिंकर्स–2003
4. समग्रयोग–प्रो0 रेवतीरमण पाण्डेय– कला प्रकाशन–2005
5. भारतीय दर्शन–श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त– पुस्तक भण्डार पब्लिशिंग हाउस, पटना–2009
6. श्रीमद्भगवद्गीता (मूलकथा)–डा0 राहुल स्टैंडर्ड पब्लिशर्स नई दिल्ली 2005
7. भारतीय दर्शन–डॉ0 शोभा निगम, मोतीलाल बनारसी दास–1988
8. गीतारहस्य भाग 1 कर्मयोगशास्त्र–लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक–अर्चना पब्लिकेशन दिल्ली–2006
9. ऋग्वेदकालीन समाज और संस्कृति–विजय शंकर शुक्ल, शारदा पब्लिशिंग हाऊस–2001

******

अद्वैत वेदान्त की सर्वजनीन प्रयोजनीयता

डॉ. जयंत उपाध्याय
एसोशिएट प्रोफेसर
दर्शन एवं संस्कृति विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा

जीवन के चिरन्तन एवं शाश्वत मूल्यों को आत्मसात करने की जिज्ञासा मानवीय सृष्टि के ऊषाकाल से ही सुप्तासुप्त रूप में मानवीय चेतना के साथ निमग्न रही है। जब भी चेतना का सूरज भौतिक मिथ्यात्व के पर्जन्य को पारगमित करने में सक्षम हो सका है, चिन्तन की अभिनव, किन्तु शाश्वत विधा का दिव्यालोक जीवन के नभोमंडल को उद्भासित करता रहा है। इसी दिव्यालोक में सहस्त्राब्दियों पूर्व भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से अनेकता में एकता के दर्शन कर लिये थे। सृष्टि के वैविध्य के मूल में एकत्व का महासागर है, जिससे ही वैविध्य की धारा उद्भूत होती है और उसी में समाहित हो जाती है। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते......यह तथ्य उन युगद्रष्टा मनीषियों द्वारा साक्षात्कृत था। इस तथ्य की कि एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति–की भी अपरोक्षानुभूति ने एकत्व में नानात्व के प्रतीति की जो आधारशिला सृजित की उसी पर स्वलंकृत चिन्तन विधा के चरम विकास के रूप में प्रत्युपस्थापित प्रासाद आचार्य शंकर के अद्वैतवाद की यशोमयी संज्ञा से अभिहित होता हुआ चिरकाल से ही वैविध्य विषयक जिज्ञासा का समाधान करता है।

वर्तमान में विश्व आर्थिक, राजनैतिक, पर्यावरणीय, सामाजिक इत्यादि अनेक समस्याओं से जूझ रहा है। आज विश्व को ऐसे मूल्यों की आवश्यकता है जिसके आधार पर इन समस्याओं को अवसान किया जा सके। मूल्य ऐसा मापदंड होता है जिसके आलंबन से हम अपने नैतिक आदर्शों को प्राप्त करते हैं। मूल्य कभी मापदंड के रूप के या कभी स्वयं आदर्श के रूप में रहते है जिन्हें हम क्रमशः साधन मूल्य या साध्य मूल्य कहते हैं। अद्वैत वेदान्त इन समस्याओं को किन मूल्यों की दृष्टि से देखता है तथा किस प्रकार इन मूल्यों के माध्यम से उनके समाधान के बारे में सोच सकता है। विश्व में व्याप्त समस्याओं के मूल में मनुष्य का व्यक्तिगत अहं उत्तरदायी है। व्यक्तिगत अहं का तात्पर्य प्रत्येक मनुष्य का अपना निजी स्वार्थ है जो उसे अन्यों के अधिकारों का हनन करने के लिए बाध्य करता है। मनुष्य में ये निजी स्वार्थ और ये सर्वश्रेष्ठता का अज्ञान कैसे आ जाता है? अद्वैत वेदान्त इस विषय पर समुचित प्रकाश डालता है। इस समस्या को समझने से पहले हमें अद्वैत वेदान्त के सत्ता के कोटियों को समझना पड़ेगा। अद्वैत सत्ता को पारमार्थिक, व्यवहारिक और प्रातिभासिक तीन कोटियों में देखता है। उपर्युक्त व्यक्तिगत अर्थात् का सम्बन्ध अपर ब्रह्म से होता है। मानवीय बुद्धि की समझ अपर ब्रह्म तक ही होती है। अपर ब्रह्म, देश, काल, कारणता इत्यादि कोटियों से सम्बन्धित होता है। मूल्यों और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध इस अपर ब्रह्म के क्षेत्र से ही होता है। अपर ब्रह्म को हम सच्चिदानंद स्वरूप और पर ब्रह्म को नेति–नेति के द्वारा जानते हैं। सच्चिदानंद स्वरूप को हम एक विशेष अर्थ में पर ब्रह्म पर भी लागू कर सकते हैं। अद्वैत वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक रूप से केवल ब्रह्म की सत्ता है। माया जो ब्रह्म की शक्ति है, ब्रह्म को आवरण और विशेष शक्ति के द्वारा अपर ब्रह्म और अर्थात् के रूप में आभासित करती है। अपर ब्रह्म अपनी माया शक्ति के द्वारा अर्थात् का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्यवहारिक अर्थात् की सीमा अपर ब्रह्म तक ही है। मानवीय बुद्धि की सीमा भी अपर ब्रह्म तक ही सीमित होती है। अब हम देखेंगे कि मानवीय बुद्धि का सच्चिदानंद स्वरूप अपर ब्रह्म से कैसा सम्बन्ध है? अद्वैत वेदान्त के अनुसार हर व्यक्ति के अंहकार रूपी ज्ञानमीमांसीय आभास का कारण मायाजन्य अविद्या है। अपर ब्रह्म मनुष्य के अद्वैत आत्मा जो ब्रह्म स्वरूप है, उसे ढँक कर द्वैत रूपी अहं को जन्म देती है। व्यक्ति का यह अहं या अज्ञान सच्चिदानंद के अखण्डित स्वरूप को खण्डित कर अपने दृष्टि से अर्थात् को देखने लगती है। यही दृष्टि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करती

है जिससे समस्याओं का जन्म होता है। इस प्रकार इस संसार का जो अनारोपित स्वरूप है वह तो एकात्म ही है और वह भी छिप सा रहा है। वह 'सत्य', ज्ञान और 'परमानन्द' स्वरूप है, परन्तु इस तत्त्व के ऊपर जो अनेक प्रकार के अध्यास हैं, उनके कारण जो अनेक कल्पित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा अन्य भूत भौतिक पदार्थ प्रतीत होने लगते हैं। उन्होंने हमारा सारा ध्यान अपनी ओर खींच लिया है और अब हमें सर्वत्र 'असत्य' 'अज्ञान' और दुःखों के स्वरूप ही दिखाई पड़ रहे हैं। जैसे रस्सी का साँप सारा ध्यान अपनी ओर खींचकर रस्सी को प्रतीत होने ही नहीं देता है, उसी प्रकार इन कल्पित पदार्थों ने तत्त्व की प्रतीति को बाधित कर दिया है और स्वयं हमारे सामने आकर खड़े हो गये है। पर ब्रह्म को मानवीय बुद्धि जान नहीं सकती इसलिए उसे नेति–नेति कह कर सम्बोधित किया जाता है। अपर ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द स्वरूप है। अपर ब्रह्म में सच्चिदानन्द अपने अखंडित स्वरूप में रहता है। मानवीय बुद्धि जब उसे अविद्या के कारण खण्डित करके देखती है तब व्यक्तिगत अर्थात् का निर्माण होता है। वास्तव में सच्चिदानन्द सदैव शुद्ध सत् ही होता है। प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, शुद्ध सत् पर ही आश्रित होता है। व्याप्त चेतना का कारण शुद्ध चित् होता है। मानवीय बुद्धि में व्याप्त चेतना या अन्य जीवों में व्याप्त चेतना का कारण शुद्ध चित् होता है। जो सुख, हर्ष, उल्लास आदि अनुभूत किये जाते हैं उनका कारण शुद्ध आनंद होता है। ये शुद्ध सत् शुद्ध चित् और शुद्ध आनंद ब्रह्म में ऐक्य भाव से रहते हैं। मानवीय अहं इसे खंडित करती है। जिस मनुष्य में अहं जितना ज्यादा होगा उसमें द्वैत का भाव उतना ही ज्यादा होगा। इस प्रकार व्यक्तिगत सारी समस्याओं के जड़ में द्वैत भावाश्रित अहं होता है। इस द्वैत को समझकर उससे मुक्ति पाना ही अद्वैत वेदान्त का लक्ष्य है। अब प्रश्न है कि मानवीय बुद्धि जो अहं में फँसी रहती है, उसे इस अहं के अविद्यात्मक रूप की पहचान कैसे होगी? जो बुद्धि माया के प्रभाव के कारण अविद्या से ग्रसित है और द्वैत ही द्वैत देखती है, उसे अद्वैत का ज्ञान कैसे हो? यहाँ पर सत् चित् और आनंद का महत्त्व परिलक्षित होता है। सच्चिदानंद, जो इस अहंकार के मूल में है। वहीं पुनः इस अज्ञान को समाप्त करने में सहायक भी होते है। सच्चिदानंद जो ब्रह्म स्वरूप में सर्वव्यापी भी है, व्यक्ति को अन्तःप्रेरणा भी देते हैं। विद्यारण्य स्वामी पंचदशी में कहते है कि 'जैसे ये अन्न, प्राण, मन, बुद्धि और आनंद नाम के कोश, आत्मतत्त्व को ढँके बैठे हैं, प्रकट नहीं होने दे रहे हैं, ठीक उसी तरह से उसका दर्शन कराने में साधन भी तो हैं। ये बन्धन भी हैं और मोक्ष भी दिलाते है। नारियल का छिलका जैसे नारियल को ढ़के रहता है, इसी प्रकार नारियल की प्राप्ति का स्थान भी तो वहीं है। जिन पंचकोशों में आत्मतत्त्व पर पर्दा डाला है, उस तत्त्व के दर्शन भी तो उन्हीं के अन्दर होते हैं। यदि ये पंचकोश न हो तो कितनों को तो आत्मतत्त्व का ध्यान भी नहीं आ सकता।' जब प्रलय हो जाता है, जब अद्वैत ज्ञान कराने वाले गुरु या शास्त्र नहीं रह जाते और जब अद्वैत ज्ञान का विरोध करने वाला द्वैत नहीं रहता हैं तब तो अद्वैत समझ में ही नहीं आ सकता। अद्वैत तत्त्व तो तभी समझ में आता है जब इसका विरोधी द्वैत जो खंडित सच्चिदानंद स्वरूप है, सामने दिखाई देता हो। यदि द्वैत दिखाई न देता हो तो अद्वैत जैसे गहन तत्त्व को जानने का कोई साधन ही हमारे पास नहीं रह जाता। ईश्वर का निर्मित द्वैत–अद्वैत ज्ञान का बाधक ही नहीं प्रत्युत साधक भी है। द्वैत और अद्वैत की धारणा परस्पर आश्रित है।

अद्वैती दर्शन द्वैतविरोधी वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन या दिग्दर्शन कराता है और आचार्य शंकर इसी अद्वैती दर्शन के संस्कारक मनीषी हैं। आत्मैक्य विज्ञान शांकर दर्शन की मूल प्रतिष्ठा है और वह आधरित है उपनिषदों के गम्भीर प्रज्ञानों पर 'ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व विज्ञानम् (आत्मा की एकता का ज्ञान ज्ञान की पराकाष्ठा है। यह एक शांकर वाक्य उनके समग्र दर्शन की व्याख्या कर देता है) आचार्य शंकर ने अपने मूलदर्शन (अद्वैत) को में प्रस्तुत करते हुए तीन घोषणाएं की थी उनमें से पहली–ब्रह्म सत्यम्, दूसरी–जगत मिथ्या, तीसरी–जीवो ब्रह्मैव नापरः अर्थात् केवल ब्रह्म ही परमसत्य है विविधता और बहुलता से भरा यह जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के दर्शन का प्रारम्भ बिन्दु ब्रह्म है और पर्यवसान बिन्दु भी ब्रह्म ही है किन्तु इन बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा कुटिल हो गयी है और इस कुटिलता का कारण है–माया। तत्त्व आत्मा या ब्रह्म है जो ज्ञानस्वरूप निर्गुण, निर्विषेष, निर्विकल्प निरूपाधिक एवं

पर है। अपनी माया या मूलाविद्या शक्ति से समन्वित होकर यही निर्गुण निर्विशेष तत्त्व सगुण एवं सविशेष बन जाता है और यही सगुणतत्त्व ईश्वर की संज्ञा से अभिहित होता है। समस्त जागतिक प्रपन्चों, उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण यही ईश्वर है। माया इसकी शक्ति है तथा आवरण–विक्षेप शक्ति समन्विता माया ब्रह्म के एकत्व पर आवरण डालकर नानात्व का आरोपण करती है। जीव एवं जगत् का वैविध्य इसी आरोपण का प्रतिफल है। सत्य वस्तुतः ब्रह्म है जो एक अद्वितीय अनादि अनन्त है और यह नानात्व रज्जु में कल्पित सर्प की तरह तत्त्व का आभास या विवर्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर के दर्शन में यथार्थ एवं प्रतीति का द्वैत स्पष्ट है फिर भी शंकर अद्वैती हैं। उत्तर की गवेषणा में हमें शंकर के सत्ता विषयक मत को देखना होगा। शंकर ने तीन प्रकार की सत्ताओं को स्वीकार किया है। वे हैं पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक। परमार्थतः एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है अन्य वस्तुएं व्यवहार एवं प्रतिभास के धरातल पर ही सत्य हैं। ईश्वर जीव जगत् की सत्ता व्यावहारिक है। स्वप्न तथा भ्रम की सत्यता प्रातिभासिक है। प्रातिभासिक पदार्थों की सत्यता बहुत कम समय तक रहती है जबकि व्यावहारिक जीवन के पदार्थ अनेकों जन्मों तक भी जब तक ब्रह्म ज्ञान का उदय नहीं हो जाता सत्य बने रहते हैं।

ब्रह्मज्ञान होने पर जीव अनुभव करता है कि जगत् स्वप्नवत हो गया है और वह स्वयं ब्रह्म से भिन्न नहीं है। व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक दोनों सत्तायें अपने–अपने स्तर पर असत् नहीं सिद्ध की जा सकती। स्वप्नदृष्ट पदार्थ स्वप्नदृष्टा के लिये सत्य है और उनकी असत्यता जाग्रत अवस्था में ही प्रतीत होती है। इसी प्रकार जब तक हम व्यावहारिक जगत् से ऊपर नहीं उठ जाते विद्या द्वारा अविद्या नष्ट नहीं होतीय यह जगत् एवं प्रपन्च सत्य हैं। ब्रह्मज्ञान के पूर्व समस्त लौकिक व्यवहार सत्य है।[1] मनुष्य की समस्त कठिनाइयों का मूल अज्ञान मान लिया। अज्ञान निवृत्ति हेतु साधक को साधनचतुष्टय और षट्सम्पत्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन का मार्ग प्रशस्त होता है। शंकराचार्य का कथन है कि आत्मज्ञान हमें स्वतः ही अनायास प्राप्त नहीं हो जाता।[2] इसकी सिद्धि के लिये महान यत्न की अपेक्षा है।[3] शंकर के साध्य मोक्ष तक पहुँचने का साधन ही व्यावहारिक आचारमार्ग हैं जिनके द्वारा निश्चय ही ज्ञान प्राप्त होता है।[4] मनुष्य जब आत्मसाक्षात्कार से युक्त होता है तो वह मोक्ष प्राप्त मनुष्य जीवन्मुक्त की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष काम, क्रोध, मोह, अहंकार आदि विकारों से मुक्त होता है।[5] वह शरीर में रहता हुआ ब्रह्म भावरूप मोक्ष को प्राप्त हो जाता है।[6] वह सुख–दुःख लाभ–हानि से प्रभावित नहीं होता। गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ हो जाता है। आचार्य शंकर के शब्दों में ऐसे लोग जिनकी कामनायें शान्त हो गयी हैं तथा जो स्वयं संसार समुद्र को तैरकर पार चुके हैं वे बिना किसी कारण के लोकव्यवहार में लगे रहते हैं।[7] उनके कर्मों में जीवन में एक ऐसी दिव्यता आती है जो अहैतुकी करुणा, लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत रहती है। लोककल्याण ज्ञानी का स्वभाव हो जाता है।

जिसप्रकार तर्कशास्त्र के नियम हैं, भौतिकशास्त्र के नियम हैं, मनोविज्ञान के नियम हैं, उसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र के भी नियम हैं, जो निरन्तर हमारे जीवन में अपना काम करते रहते हैं, चाहे हम उनसे भिज्ञ हों या अनभिज्ञ। दार्शनिकों का एक प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे उच्चतर अध्यात्म जीवन के इन नियमों को वैज्ञानिक ढंग से जीवनरूपी प्रयोगशाला में परख कर लोगों के सामने रखें जिससे आध्यात्मिक विकास का सुलभ माध्यम सभी को प्राप्त हो सके, जिससे वे अपने जीवन का उत्कर्ष कर सकें। जीवन दर्शन उस मानवीय दृष्टि का नाम है, जो मानव के लौकिक एवं अलौकिक आनन्द का मार्ग प्रशस्त करती है तथा उसे आदर्श जीवनयापन की प्रक्रिया का बोध कराती है। जहाँ तक वेदांत दर्शन का सम्बन्ध है, इस दर्शन में जीवन के सम्बन्ध में एक ऐसी समन्वित दृष्टि मिलती है, जो ऐहिक एवं पारलौकिक सुख के निमित्त व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि को प्रस्तुत करती है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि वेदांत का जीवन–दर्शन आदर्शपरक है और व्यवहार से दूर। लेकिन शंकराचार्य अपने गीताभाष्य में लौकिक अभ्युदय को मानव का प्राप्तव्य बतलाया है।[8] शंकराचार्य ने स्पष्ट रूप से 'भोगापवर्गौ पुरुषार्थौ'[9] कहकर भोग एवं मोक्ष दोनों को ही जीवन का प्राप्तव्य बतलाया है। स्वामी रामतीर्थ, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, विनोबा भावे, श्रीअरविन्द वेदान्तिक जीवन दर्शन के साक्षात् प्रतिमान कहे

जा सकते हैं। विनोबा भावे ने अपने निबन्ध–'हमारा मिशन कुल दुनिया को अद्वैत बनाना है' के अन्तर्गत यह सिद्ध कर दिया है कि इस जीवन में सर्वोदय की संभावना अद्वैतिक जीवन दर्शन से ही हो सकती है।[9] राधाकृष्णन का मानना है कि–'उपनिषदों ने महान् विचारकों को पूर्ण सन्तोष प्रदान किया है।' इसी प्रकार जर्मन दार्शनिक शोपनहर ने औपनिषदिक् दर्शन से प्रभावित होकर ही यह कहा था कि उपनिषदों ने मुझे इस जीवन में सान्त्वना प्रदान की है तथा मृत्यु के समय में भी यही सान्त्वना प्रदान करेंगे। अतः यह कहना कि वेदान्त दर्शन में व्यावहारिकता ध्यथार्थता का अतिक्रमण हुआ है नितान्त ही अनुचित है। किसी भी जीवन–दर्शन के मूल में कुछ मानव मूल्य एवं आस्थाएँ निहित रहती हैं। महान् वैज्ञानिक सी.वी. रमन ने इन मूल्यों की खोज को जीवन का मूल आधार माना है। अद्वैतवेदान्त में वे मूल्य हैं–आत्मसाक्षात्कार। यह आत्मसाक्षात्मकार जीवन का चरम लक्ष्य है एवं संसार उसकी प्राप्ति के लिए की जाने वाली जीवन–यात्रा है। अतः वेदान्तिक जीवन दर्शन का मूल कर्म–सिद्धान्त है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार कर्म का फल भोगना अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में वेदान्त का यह मानना है कि, तत्त्वज्ञान होने पर जीवन के संचित एवं संचीयमान कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रारब्ध कर्म का नाश नहीं होता। अगर इस सिद्धान्त को मनुष्य अपने जीवन में उतार ले तो उसका ह्रदय बिल्कुल स्वच्छ हो जायेगा। कहने का अर्थ यह है कि वेदांत जहाँ मानव को एक ओर कर्म के सम्बन्ध में न्यायपूर्ण दृष्टि का बोध कराता है, वहीं दूसरी ओर उसे कर्मजन्य दुःख भोग के सम्बन्ध में सान्त्वना देते हुए पुनः सुख की कामना से सत् कर्मों के प्रति भी प्रेरित करता है। कदाचित् स्वामी विवेकानन्द ने गत् कर्मों को कारण एवं वर्तमान कर्मों को कार्य का रूप प्रदान किया था। वेदान्तिक जीवन दर्शन की वैज्ञानिक प्रक्रिया का स्वरूप संस्कारवाद के अन्तर्गत देखने को मिलता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जिन कर्मों का सम्पादन करता है, उनका प्रभाव उसके मानस पटल पर अवश्य पड़ता है। इसी को वेदांत परिभाषा में वृत्ति नाम दिया गया है। वृत्ति को परिभाषित करते हुये वेदान्तपरिभाषा में बतलाया गया है–'अनतःकरणस्य परिणामविशेषो वृत्तिः'[11] सिगमंड फ्रायड (प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक) ने भी चेतन एवं अवचेतन मन के रूप में संस्कारवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

वेदांतिक जीवन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व अहिंसा है, क्योंकि वेदान्तानुसार एक ही आत्मा सभी में व्याप्त है। अगर हम किसी से हिंसा करेंगे ता मूलतः अपने साथ ही हिंसा करेंगे। वेदान्तसार के टीकाकार रामतीर्थ ने विद्वन्मनोरंजनी के अन्तर्गत अहिंसा की परिभाषा करते हुए कहा है कि–'मन, वचन एवं काया से, दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना ही अहिंसा है।' अहिंसा प्रभृति सिद्धान्त, वेदान्त के एकात्मवाद की ही प्रकारान्तर से की गई व्याख्याएँ हैं। वस्तुतः वेदान्त का एकात्मवाद ही भारतीय जीवन–दर्शन की आधारशिला एवं वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का मूल मंत्र है। अतः वेदान्त दर्शन में कहीं भी जगत् की उपेक्षा न करके सदैव उसके महत्त्व को रेखांकित किया गया है जैसा कि माध्वाचार्य व सर्वज्ञात्ममुनि का मानना है। माध्वाचार्य ने शंकरदिग्विजय में कहा है कि–'जीवन के सभी फल गृहस्थरूपी वृक्ष पर आश्रित हैं।' इसी सम्बन्ध में संक्षेप–शारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का यह कथन उल्लेखनीय है–'इसी जन्म में मनुष्य अहंब्रह्मास्मि जैसे महावाक्यों द्वारा वर्णित ब्रह्मानुभव को प्राप्त कर सकता है।'

सामान्य तौर पर वेदान्त के महावाक्यों को लेकर यह प्रश्न किया जाता है कि जहाँ एक ओर 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' की बात किया जाता है, वहीं दूसरी ओर 'अहं ब्रह्मास्मि' की बात किया जाता है। कहने का तात्पर्य है कि जहाँ वेदान्त एक ओर यह स्वीकार करता है कि सम्पूर्ण मानवता में एकत्व विद्यमान है, अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीयता की बात करता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रीयता की बात करता है। इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच विरोधाभास नहीं देखते थे। उनका मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय भावों का विकास सुदृढ़ राष्ट्रीय गौरव के धरातल पर ही हो सकता है। वेदान्त जीवन दर्शन में मनुष्य इसी जीवन में व्यवहार एवं परमार्थ दोनों की उपलब्धि करने में समर्थ है। जहाँ तक पारमार्थिक आदर्श की उपलब्धि का प्रश्न है, इस विषय में वेदान्त 'मौन' की बात करता है। मौन के द्वारा साधक जीवनमुक्ति की परम अभिलषित कोटि को प्राप्त होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् इस सम्बन्ध में यह उद्घोषणा करता है कि–'जो आत्मा भूख, प्यास, शोक, मोह, जन्म एवं

मृत्यु को लाँघ जाता है, उस आत्मा को जानकर ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा को त्याग देते हैं। इस प्रकार एषणात्याग कर ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त कर एवं सरलता से बालवत् जीवनयापन की इच्छा करें। इस प्रकार सरलतास्वरूप बाल्यभाव एवं पाण्डित्य को प्राप्त कर मुनि अर्थात् मौनावलम्बी बनना चाहिए।' पुनः आगे कहा गया है–'मौन एवं अमौन दोनों को निःशेष भाव से जानकर ही साधक ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।' मौन उस आध्यात्मिक शक्ति के सत्य का नाम है, जिसमें समस्त वासनायें शान्त हो जाती है। गीता में मनःप्रसाद, सौम्यत्व, मौन, आत्मसंयम तथा भावशुद्धि को मानस तप के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचर्य को मौनस्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि उपासक ब्रह्मचर्य से आत्मा को जानकर परमेश्वर के स्वरूप का मनन करता है। इस प्रकार मौन जीवन की उत्कृष्ट शक्ति है। अतः वेदान्त में ब्रह्मबोध के स्वरूपानुभव के अन्तर्गत मौन जीवनमुक्ति की व्यवहारदशा है तथा लौकिक व्यवहार की दृष्टि से सुख–शांतिमय जीवन का सरल सोपान है।

वेदान्तिक जीवन दर्शन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व चरित्र निर्माण है। वेदांत दुर्बलता को हेय समझता है, चाहे वह दुर्बलता कोई भी हो। वेदान्त का सिद्धान्त है कि जब तक मनुष्य में आध्यात्मिकता का प्रवेश नही होगा तब तक उसका चारित्रिक एवं नैतिक विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति जीवन का उद्देश्य तथा उसके मूल्यों का दृष्टिकोण उसका चरित्र है। चरित्र में किसी विशिष्ट जीवन उद्देश्य तथा मूल्यों के अन्तर्गत व्यक्ति के मनोभावों और प्रकृतियों का संगठन है। इससे व्यक्ति के भावों और आवेगों में नियंत्रण आ जाता है। उसके विचारों और व्यवहार में समता आ जाती है। चरित्र पर परिवेश और शिक्षा–दीक्षा का प्रभाव पड़ता है। इसी चरित्र के निर्माण से उसमें आत्मविश्वास का विकास होता है, जो अपने आत्मस्वरूप के ज्ञान का प्रारम्भिक सोपान है। जिस व्यक्ति का चरित्र व आत्मविश्वास दृढ़ है उसकी यह जिम्मेदारी बनती है कि जो हमारे शास्त्र ग्रन्थों में आध्यात्मिक रत्न विद्यमान हैं और साथ ही साथ जो मठों और अरण्यों में कुछ ही मनुष्यों तक सीमित है, उन्हें बाहर निकालें और उसकी पहुँच सभी लोगों तक सुनिश्चित करें। अर्थात् उसको सार्वजनिक सम्पत्ति बना दें। ऐसा इसलिये करें, क्योंकि वेदान्त का यह मूल सिद्धान्त है कि निकृष्टतम प्राणियों से लेकर मनुष्य तक में एक ही 'आत्मा' का विस्तार है। वेदान्त ही यह बताता है कि व्यक्त जीवन के निकृष्टतम रूप में भी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति अन्तर्भूत है और विकास कही जाने वाली प्रक्रिया के माध्यम से वह बाहर प्रकट होने का उद्योग कर रही है।

अद्वैत वेदान्त का एक प्रमुख तत्त्व शांति है जो वेदांत के प्रतिपाद्य विषय से प्रतिध्वनित होता है। विचार करने से यह विदित होता है कि युद्ध की अवधारणा साम्राज्यवादी है और साम्राज्यवाद का आरम्भिक बिन्दु, श्रेष्ठता का सिद्धान्त है, जबकि वेदान्त का उद्घोग है–'एकोऽहम् बहुस्याम् प्रजायेय', 'सर्वखल्विदं ब्रह्म' अर्थात् सर्वत्र एक ही की सत्ता है, तो इस सिद्धान्त के आधार पर साम्राज्यवाद की नीति को सही नहीं ठहराया जा सकता। अतः युद्ध की नीति भी वेदान्त के अनुसार सही नहीं है। इस सन्दर्भ में महाभारतकार का यह कथन उल्लेखनीय हो जाता है कि–'जो तुम्हारे लिये प्रतिकूल हो वह दूसरों के साथ मत करो, यही धर्म है।' मन्त्र दृष्टा महर्षियों ने व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि से मानव जाति को समानता के आधार पर विश्वरूप में जुड़े रहने की जो सद्भावना व्यक्त की है, उसका विकसित रूप विश्व–परिवार में अभीष्ट है। इसके लिये अथर्ववेद के सौमनस्य प्रकरण में कहा गया है कि– 'सामाजिक भावना की अभिवृद्धि का कारक सौहार्द बना रहे, इस निमित्त पारिवारिक जनों को प्रेम–पूर्वक एकी.त होकर एक–दूसरे को सहयोग करने की शिक्षा वेद प्रदान करता है।' ऋग्वेद में कहा गया है कि–'हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेदभाव रहित परस्पर मिलने की भावना भी समान हो, विचार प्रदान का स्थान एक ही हो, अपना मन (मनन् करने का साधन) और चित्त (विचार) एकरूप हो। मैं तुम्हें एक ही उ.ष्ट रहस्यपूर्ण वचन कहता हूँ और तुम्हें एक समान हवि प्रदान करके सु–संस्कृत करता हूँ।' एक अन्यत्र जगह पर कहा गया है–'तुम्हारा जल पीने का स्थान सबके लिये समान हो, अन्न का भोग भी सबके लिए एक हो, समान कार्य की एक धुरी के नीचे रहकर कार्य करने वाले तुम हो, उपासना भी सब मिलकर एक स्थान में ही करो, जैसे चक्र के आरे नाभि में जुड़े होते हैं, वैसे ही तुम अपने समाज में एक–दूसरे के साथ मिलकर रहो।

इस प्रकार हम पाते हैं कि वेदांत का जीवन–दर्शन धर्मनिरपेक्ष भाव साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर सहयोग और सह–अस्तित्त्व के आधार पर एक–दूसरे के हितार्थ कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है, इस तरह के वेदान्तिक सिद्धान्तों में विश्वास रखने एवं तदनुकूल आचरण करने से शांति की स्थापना होती है तथा मानव के वैयक्तिक कल्याण के साथ–साथ लोकहित भी संरक्षित रहता है।

वस्तुतः शंकरकृत भाष्यों या स्वतन्त्र रचनाओं को देखने पर यह कहीं से नहीं लगता है कि ये समस्त नानात्वयुक्त प्रपंच रूप व्यवहार सर्वदा के लिये नष्ट होगा और एकमात्र अद्वितीय प्रज्ञानस्वरूप चैतन्यमात्र रहेगा। दूसरे शब्दों में–'समस्त प्राणियों की संसार जाल से मुक्ति होगी और जड़ात्मिका जगत् के स्थान पर चैतन्य मात्र भासमान होगा।' अतः अद्वैत वेदान्त में मानवीय जीवन का अपना एक दर्शन है, इसे एक नितान्त सफल जीवन–दर्शन का आदर्श माना जा सकता है। जीवन–दर्शन के पक्ष की सबलता इस दर्शन में यूं देखी जा सकती है कि अद्वैतवेदान्त इस सिद्धान्त को स्थापित करता है कि जीव इस लोक में रहते हुए भी दिव्य एवं अतिशय आनन्दानुभूति को प्राप्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति का निर्देश और जीवनमुक्त का स्वच्छन्द विचरण अद्वैतवेदान्त की जीवन में गहन अनुस्यूति एवं अनुप्रविष्टि का द्योतक है।

अद्वैत वेदान्त पूर्णतः अध्यात्मिक दर्शन हैय इसमें आध्यात्मिक मूल्यों की चरमावस्था समाहित है। अद्वैत वेदान्त व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिकता की पूर्णता का प्रेरक दर्शन है। वेदान्त, जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को अत्यधिक महत्त्व देता है तथा समस्त मूल्यों के आध्यात्मिकीकरण में जीवन के समस्त अनर्थों की चिकित्सा पाता है। अधिकांशतः लोगों की यह धारणा है कि वेदान्त केवल केवल विद्वानों के मनन की ही वस्तु है, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार यह समाज के विद्वानों की आकांक्षाओं की पूर्ति करता है, उसी प्रकार साधारण लोगों की माँग को भी पूर्ण करने में सर्वथा समर्थ है। अद्वैत वेदान्त व्यावहारिक धर्म है। समस्त मानवता उसे अपनाकर सुखी हो सकती है। अद्वैत–वेदान्त के सर्वात्मभाव के आदर्श में व्यक्तित्व का विनाश नहीं होता प्रत्युत पृथकत्व और अहंकार का भाव दूर हो जाता है। एक विश्वात्मा के रूप में हमारे व्यक्तित्व के विकास में हमारे जीवन का विकास होता है। स्वार्थों के संघर्ष का मूल, व्यक्तित्व की एकरूपता में नहीं बल्कि व्यक्तियों की पृथक् भावना में हैं। जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता, वह इसके (सर्वात्म्यदर्शन के) कारण ही किसी से घृणा नहीं करता[12] कारण स्पष्ट है–सभी प्रकार की घृणा अपने से भिन्न किसी दूषित पदार्थ को देखने वाले पुरुष को ही होती है। जो निरन्तर अपने अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप को ही देखने वाला है, उसकी दृष्टि में घृणा का निमित्त–भूत कोई 'अन्य' पदार्थ है ही नहीं, यह बात स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसीलिए वह किसी से घृणा नहीं करता।[13]

इस प्रकार हमारी सत्ता का एक अमित व्यक्तित्व में विकास होने में इस संघर्ष का मूलोच्छेदन हो जाता है एवं अभेददर्शी के अन्तर्मन मे सार्वभौमिक प्रेम प्रवाहित होने लगता है। जब हम अपने आत्मस्वरूप का दर्शन कर लेते हैं तथा समस्त प्राणियों के साथ सार्वत्मभाव का अनुभव कर लेते हैं तो स्वार्थों के साम्य के द्वारा तद्गत संघर्ष दूर हो जाता है एवं स्वार्थ–साम्य की गति साध्यैकत्व की ओर होती है। इस आध्यात्मिक एकत्व की भावना और साध्येकत्व से पूर्ण समन्वय और अनन्त सार्वभौमिक प्रेम का जो भाव उदय होता है, इस जगत् को आनन्द और शान्ति का दिव्यलोक बना देने में समर्थ है। वेदान्त के इस आदर्श में ही मानवता की समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति हो सकती है। सार्वभौमिक प्रेम के आध्यात्मिक एकत्व–भाव में पृथकत्व और अहंकार का अन्त हो जाता है। इसी सार्वभौमिक प्रेम के आधार पर ही संसार में स्थायी शान्ति की स्थापना की जा सकती है।

शंकराचार्य द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से निर्दिष्ट सद्गुणों में समदर्शिता एवं सहयोग भी जो कि उनके दर्शन के व्यावहारिक पक्ष की भित्ति का निरूपण किया है। अद्वैतानुसार सृष्टि–प्रक्रिया का आधार एक ही है–वह है 'पंचीकरण'। अतः इस भौतिक शरीर के निर्माणक तत्त्व समान ही हैं और आन्तरिक अभिन्नता तो अद्वैत का आधार है। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य दोनों ही रूपों से मनुष्यों में समानता है, फिर उनमें भेद की भावना रह ही नहीं जाती। बाह्य रूप से जो आंगिक संरचना की भिन्नता दिखाई देती भी है, वह स्पष्टतया वातावरण

है। इस तरह अद्वैत वेदान्ती को सर्वत्र एकत्व ही दृष्टिगत होता है। अस्तु अद्वैत वेदान्ती समदर्शी होता है। व्यावहारिक स्तर पर पूजा तो सभी को प्रिय होती है, परन्तु दूसरों से ताड़नादि तिरस्कार सबको प्रिय नहीं होते, किन्तु इस अद्वैत वेदान्त के समदर्शिता के गुण में निरादर भी अमृत के तुल्य ही भासता है। शंकराचार्य ने विवेक–चूणमणि में कहा है–जीवन–मुक्त पुरुष के लिए साधु–सत्कार व दुष्ट–प्रताड़ना में समभाव ही रहता है।[14] गीता–भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं–महात्मा मान अपमान, मित्र–शत्रु में समभाव रखता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में दोनों पक्ष ही असत् हैं उसका अधिष्ठान एकत्व ब्रह्म ही सत्य है।[15] इस प्रकार समदर्शिता अद्वैत वेदान्त का एक प्रमुख सद्‌गुण है। समदर्शिता का गुण ही सहयोग की भावना उत्पन्न करता है। समदर्शी के लिए परत्व तो कुछ है ही नहीं जब वह दुसरों को दुःखमय या कष्टमय पाता है तो वह अनुभव करता है कि वह दुःख या कष्ट स्वयं उसी को प्राप्त है। अतः वह परदुःखनिवारण जाग्रत नहीं की जाती वरन् उसमें स्वतः ही जाग्रत हो जाती है। स्पष्ट है कि समदर्शिता व सहयोग विश्व–बन्धुत्व की भावना के ही द्योतक हैं। आज कोई भी व्यक्ति, समुदाय व राज्य केवल अपने स्तर पर ही सर्वतोमुखी विकास नहीं कर सकता। व्यक्ति अकेला ही जीवन–यापन के सम्पूर्ण साधनों को नहीं जुटा सकता, इसके लिए उसे पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होगी ही। निष्पक्ष रूप से वास्तविक स्थायी सहयोग समदर्शिता के गुणभाव में असम्भव है। स्वार्थपूर्ण सहयोग अस्थायी होता है। जब तक समष्टिगत अहं के आधार पर समदर्शिता को संजोए हुए सहयोग प्रवृत्ति जाग्रत नहीं होती, तब तक विश्वशान्ति भी सम्भव नहीं है। अस्तु शांकरवेदान्त उद्‌भूत समदर्शिता व सहयोग विश्वबंधुत्व की भावना के विकास के मूलाधार हैं।

अद्वैत वेदान्त में शंकराचार्य ने ऐसे अनेक सद्‌गुण समाहित किए हैं, जिनके आधार पर लोगों में मानवता का बीज बोकर विश्वबन्धुत्व रूपी महान् वृक्ष खड़ा किया जा सकता है। अतः मनुष्य को आत्म–शक्ति अर्जित करना नितान्त आवश्यक है। यही जीवन का परम पुरुषार्थ और चरम लक्ष्य है। वर्तमान में मानव इतना माध्यान्ध या अज्ञानान्ध हो गया है कि वह उचित–अनुचित आदि का निर्णय ही नहीं कर पाता और अपनी स्वार्थलिप्सा के कारण कुछ भी करने को तत्पर हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि उसे अपनी पूर्णता का मान नहीं है, उसमें वे सद्‌गुण नहीं है जो उसे पूर्णता की कोटि तक पहुँचा सके। वे सभी सद्‌गुण जो कि शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट हैं, नर–पशु को मानवता की कोटि में लाकर खड़ा कर सकते हैं। आत्म–विजय, साहस, निर्भयता, प्रेम, सोहार्द, त्याग और एकत्वादि गुणों से ही पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। ये सभी सद्‌गुण मानव की आत्मशक्ति में पूर्ण रूप में ही निहित रहते हैं। वही आत्मशक्ति मनुष्य के लोभ, स्वार्थ, घृणा, द्वेष आदि दुर्गुणों पर समुचित शासन कर सकती है और उसका परिणाम यह होगा कि प्रत्येक मानव में बन्धुत्व की भावना जाग्रत हो जायेगी एवं यह जगत् दिव्य लोग में परिणित हो जायेगा।

आचार्य शंकर जीवोब्रह्मैव नापरः की सिद्धि द्वारा लोककल्याण की दिशा में अग्रसर होने का संदेश देते हैं। जब हम सबमें अपने को तथा अपने में सबको देखते हैं तो दूसरे का दुःख अपना समझते हैं। दूसरे का बिगड़े तो मेरा क्या? ऐसी भावना अद्वैत वेदान्त की शिक्षा नहीं है। यदि हम लोगों को यह बता सकें कि आत्मा ही ईश्वर है और वही ब्रह्म है तथा वही कण–कण में अंतर्यामी है तो निश्चय ही यह विचारणा रंगभेद ऊँच–नीच और अस्पृश्यता के कुचक्र में उलझे विश्व को समानता, सामंजस्य, सहकारिता एवं सद्व्यवहार की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दे सकता है। प्राणीमात्र के तात्त्विक ऐक्य की उपस्थापना दूसरों के प्रति सम्मानपूर्ण एवं आत्मिक सम्बन्धों की नींव प्रस्तुत करती है जिस पर एक आदर्श एवं मर्यादित समाज की संरचना संभव है। इसके साथ ही इसी विचारधारा से धार्मिक साम्प्रदायिकता की भयप्रद ज्वाला को भी उपशमित किया जा सकता है। धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विभेद विभिन्न सिद्धान्तों की बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। इन भेदों को हठपूर्वक समाप्त करने पर परस्पर हिंसा एवं द्वेष की वृद्धि होती है। इन भेदों को तभी स्वीकार किया जा सकता है। जब हम स्वीकार करें कि ये सब एक ही तत्त्व के आभास हैं और आभासों में भेद या अन्तर अवश्य रहते हैं। इस प्रकार की अन्तर्समझ ही हमें निर्भय जीवन दे सकती है। हम अपने जीवन में यदि इसे व्यापक रूप में ग्रहण कर सकें

और सबमें एक ही चैतन्य है ऐसी अवधारणा को आत्मसात कर सकें तो समस्त भेद, द्वेष, हिंसा, घृणा सदृश समस्त दुर्भावनायें समाप्त हो जायेंगी तथा वसुधैव कुटुम्बकम् व सर्वे भवन्तु सुखिनः की चिरकालीन मनीषियों की जिज्ञासा मूर्तरूप प्राप्त कर सकेगी जो निश्चित रूप से एक महान साध्य है और मानवता का सर्वोत्तम लक्ष्य है।

अद्वैत वेदान्त मे ज्ञान के साधन के रूप मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन जैसे मार्गों को अपनाने की बात कही गयी है। वर्तमान के भागदौड़ की जिन्दगी में मानव इनके तरफ दृष्टिपात कैसे करेगा? उसे अद्वैत मार्ग अपनाने कि प्रेरणा कैसे मिलेगी? बगैर कर्मफल के नष्ट हुए तो श्रवण, मनन और निदिध्यासन की ओर सोचा भी नही जा सकता, फिर मनुष्य का अज्ञान समाप्त कैसे हो? इन सब प्रश्नों का उत्तर अपर ब्रह्म का सच्चिदानंद स्वरूप ही है जो अर्थात् का नियन्त्रक, पालनकर्ता तथा संहारक होने के साथ–साथ दयालु और अन्तर्यामी भी है। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगता है। ये कर्मफल उसके ज्ञान में बाधक होते हैं। अद्वैत वेदान्त में कर्मफलदाता के रूप मे अपर ब्रह्म को जाना जाता है। मनुष्य भक्ति का प्रयोग कर अपने को उस अपर ब्रह्म को समर्पित कर दे तो उसे भक्ति का फल मिलता है। आत्मा के आनंद स्वरूप के आधार पर भी अहंवादी बुद्धि को ज्ञान पथ पर चलने की प्रेरणा मिलती है। अद्वैत वेदान्त का यह मानना है कि अहंवादी चाहे जिस प्रवृति मार्ग में लगे है उनके लिए वही ठीक है। प्रवृत्ति मार्ग की दुःख परम्परा से ही तो आत्मा जिज्ञासा जागा करती है। प्रवृति से जिज्ञासा होती है और निवृत्ति से ज्ञान तथा इच्छा उत्पन्न होती है और इस जिज्ञासा का कारण भी स्वयं में निहित आनंद ही होता है। श्रुति कहती है–बुद्धि रूप गुहा में छिपा हुआ यह आनन्द न होता तो लोक में कौन अपान–क्रिया और प्राणन कर सकता। भौतिक आनंद का कारण तो अपर ब्रह्म का शुद्ध आनंद ही है। अहंवादी व्यक्ति चाहे कितना ही निकृष्ट सुख क्यों न भोगे उस निकृष्ट सुख का अंतिम कारण तो वह शुद्ध आनंद ही है। जब लौकिक सुखों का कारण शुद्ध आनंद है तो व्यक्ति को निकृष्ट सुख से भी शुद्ध आनंद की झलक तो मिलेगी ही।

सच्चिदानंद की प्रेरणा से व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन रूपी साधनों का मार्ग अपनाता है। श्रवण में साधक गुरु के द्वारा वेद और उपनिषद् में वर्णित सर्वोच्च सत्ता के स्वरूप को बारे में शिक्षा लेता है। श्रवण के बाद साधक मनन करता है। मनन की प्रक्रिया में साधक तर्कबुद्धि के स्तर पर गुरु द्वारा प्राप्त वेद तथा उपनिषद् के ज्ञान पर विचार करता है। मनन के द्वारा साधक महावाक्यों के सही अर्थों का तर्कबुद्धि के स्तर पर समझता है जिससे उसमें महावाक्यों के प्रति श्रद्धा और अटूट विश्वास उत्पन्न होता है। मनन के पश्चात् साधक निदिध्यासन की पद्धति अपनाता है। निदिध्यासन के द्वारा साधक को परमतत्त्व, जो उसका आत्म स्वरूप भी है, का ज्ञान होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति के पूर्ण अहं (सच्चिदानंद स्वरूप) का ज्ञान होता है। साधना प्रक्रिया अपनाकर व्यक्ति अपने अहं को समाप्त करता है और जीवनमुक्त बनता है। जीवनमुक्त व्यक्ति को अपने अखण्ड सच्चिदानंद स्वरूप का ज्ञान रहता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मसाक्षात्कार करते ही व्यक्ति के संचित और संचीयमान कर्म समाप्त हो जाते हैं और वह अपने प्रारब्ध कर्मफल के कारण जीवनमुक्त बना रहता है। प्रारब्ध कर्मफल के समाप्त होने के पश्चात ही उसे विदेह मुक्ति मिलती है। जीवनमुक्त व्यक्ति की चेतना सार्वभौमिक होती है अर्थात् उसके कर्म स्वार्थ से प्रेरित नहीं रहते और वह अर्थात् के अन्य प्राणियों के लिए आदर्श होता है। उसके कार्य विश्व में शांति और सदाचार को बढ़ावा देने वाले होते हैं। अद्वैत वेदान्त दो प्रकार से सृष्टि मानता है। एक ईश्वर द्वारा रचित और दूसरा व्यक्ति के अहं रूपी प्रक्रिया के द्वारा रचित। जीवनमुक्त को अहं रूपी सृष्टि का आभास नहीं रहता। अब उसका व्यवहार इस ईश्वरीय सृष्टि के लिए होता हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुद्ध आत्मा माया के प्रभाव में आके जीवात्मा बनती है और वही अज्ञानता उसके अहं का कारण भी होती है। व्यक्ति जितना ज्यादा अविद्या के प्रभाव में होता है उतना ही ज्यादा अहंकारी होता है। यह अविद्याग्रस्त दृष्टि उसमें नाना प्रकार के बुराइयों को उत्पन्न करती है। ईश्वर के अखंडित स्वरूप को भी खण्डित करता है। कालान्तर में सत् चित् और आनंद रूपी यह खण्डित स्वरूप फिर उसके अहंकार को समाप्त करने मे सहायक भी होती है। इस प्रकार अवभासिक सच्चिदानंद जीवात्मा के ज्ञान में सहायक भी होता

है। व्यवहारिक सच्चिदानंद साधन मूल्य और साध्य मूल्य के रूप में कार्य करता है। व्यवहारिक व्यक्ति को सच्चिदानंद दिव्यता की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करता है। इस आशा और प्रेरणा के फलस्वरूप मानवीय बुद्धि तर्कबुद्धि स्तरीय इस व्यवहारिक जीवन का सही उपयोग करता है। अद्वैत के अनुसार व्यवहार रहित परमार्थ, द्वैत के रहित अद्वैत का ज्ञान संभव नहीं है। इसप्रकार जीवात्मा का परमार्थिक स्वरूप तर्कबुद्धि रूपी व्यवहार के साधन मार्ग से गुजरता है जिससे सच्चिदानंद रूपी अपर ब्रह्म की मूल्यों के रूप में महत्ता स्वी.त है। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष के आदर्श का सृजन कर शंकर ने मनुष्य को पूर्णता की ओर ले जाने का सबल प्रयास किया है। यदि हम वेदान्त को समझें और जीवन्मुक्ति की राह में कुछ कदम भी बढ़ सकें तो जीवन व समाज की दिशा ही अलग होगी। वस्तुतः यदि गहराई से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि वर्तमान परिवेश में अद्वैती चिन्तन की उपादेयता अत्याधिक बढ़ गयी है। आज के परिवेश में जबकि वैज्ञानिक अभ्युदय ने हमें विनाश के कगार पर खड़ा कर दिया है। भौतिकता के तेज झंझावातों ने मानव जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों को समूल धराशायी कर दिया है। मानवता खोखली होती जा रही है। विश्वबन्धुत्व की चिरन्तन भावना ओझल होती जा रही है। एक अज्ञात भय तथा संत्रास ने मानव को आवृत्त कर रखा है। ऐसे समय में अद्वैती विचारधारा का अपना आकर्षण एवं महत्त्व कुछ और ही अधिक बढ़ गया है।

संदर्भ ग्रन्थः

1. प्राग्ब्रह्मात्मा प्रतिघात् उपपन्न सर्वो लौकिको वैदिक च व्यवहार, शारीरक भाष्य
2. तैत्तिरीय भाष्य 1.1.1.
3. शारीरक भाष्य, 1.4.8.
4. शारीरक भाष्य, 4.38.
5. रत्नप्रभा 1.1.4.
6. वृ. उप., 4.4.7.
7. विवेकचूड़ामणि, 39.
8. शांकरभाष्य, गीता–10–13
9. शांकरभाष्य, ब्र.सू.–1–3–3
10. विनोबा, भूदान यज्ञ (साप्ताहिक), मार्च 1995
11. वेदांत परिभाषा, परिच्छेद, 1
12. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपष्यति। सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। ईशावास्योपनिषद्, 6.
13. सर्वाहि धृणात्मनोऽन्यदुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमैवात्यन्तविषुद्ध निरन्तरं पश्यतो न धृणा निमित्त्म अर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेंव। ततो न विजुगुप्सत इति। तदैव–शांकरभाष्य
14. लधुभि पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते। विवेकचूणामणि श्लोक 44.
15. मानापमानयोस्तुल्यः तुल्योमित्रारिपक्षयोः।। श्रीमद्भगवद्गीता 14–15.

*****

मनीषा पंचकम् का दार्शनिक विमर्श

डॉ. जाहिरा खातून
अध्येता
नेहरु स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय
नई दिल्ली

मनीषा पंचकम् एक संवाद है, यह संवाद आचार्य शंकर एवं एक शूद्र व्यक्ति के मध्य का है। इस सन्दर्भ में शंकराचार्य ने यह सन्देश दिया है कि सम्पूर्ण सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है एवं मनुष्य का उद्देश्य है कि वो सामाजिक विभेदों से ऊपर उठते हुए अपने मूल स्वरुप का साक्षात्कार करे।

श्रेणीबद्ध सामाजिक संरचना, जो जाति पर आधारित होती है वह विभेदीकरण का प्रमुख कारण होती है। अद्वैत वेदांत विभेदीकरण का विरोधी दर्शन है। सामाजिक विभेदीकरण असमानता एवं शोषण को उत्पन्न करता है एवं आचार्य शंकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त चेतन तत्त्व के आधार पर अद्वैत की स्थापना करते हैं।

मनीषा पंचकम् के प्रत्येक श्लोक पर दार्शनिक विमर्श करना स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक क्रिया होगी क्योंकि आचार्य शंकर ने पाँच श्लोकों में सम्पूर्ण अद्वैत दर्शन के सार को समाहित किया है।

वादे–वादे जयते तत्त्वबोधः....

भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के विकास में संवाद का विशेष योगदान रहा है। संवाद दार्शनिक क्रिया की एक विधि है जिसके माध्यम से दार्शनिक अवधारणाओं का स्पष्टीकरण होता है। यहाँ गार्गी एवं ऋषि याज्ञवल्क्य के मध्य हुए संवाद की चर्चा करना आवश्यक है जिसका उल्लेख ब्रह्दारान्यक उपनिषद में मिलता है। यह सम्वाद केवल तत्त्व ज्ञान कि दृष्टि से ही विशेष नहीं है अपितु यह तत्कालीन समाज में स्त्रियों की स्थिति को भी दर्शाता है। भगवद गीता एक महत्त्वपूर्ण संवाद है जो श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के मध्य रणभूमि में हुआ था। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जो साधारण मनुष्य के जीवन के द्वंद का समाधान प्रस्तुत करता हैद्य गीता का सन्देश सभी देश, काल एवं परिस्थिति में अनुकरणीय है।

मंडन मिश्र एवं आचार्य शंकर का संवाद भी उल्लेखनीय है। यमराज एवं नचिकेता संवाद, ऋषि याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी संवाद, लक्ष्मण एवं रावण संवाद, यक्ष एवं युधिष्ठिर संवाद आदि ऐसे बहुत सारे संवाद हैं जो भारतीय दर्शन को समृद्ध करते हैं। भारतीय दर्शन आत्मबोध एवं संवाद के माध्यम से अग्रसित होती रही अतः यह सनातन है। मनीषा पंचकम् की चर्चा से पहले आचार्य शंकर के दृष्टिकोण को जानना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी दर्शन को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उस दर्शन के प्रतिपादक की पृष्ठभूमि को जाना जाए। आचार्य शंकर से हम सभी परिचित हैं। उन्होंने न केवल जीव को ब्रह्म घोषित किया अपितु सृष्टि को ब्रह्म का अंश कहा। आचार्य शंकर अध्यात्मिक गुरु एवं प्रखर चिन्तक थे। वे एक दूरदर्शी ऋषि थे जिन्होंने सनातन धर्म को पुनर्स्थापित किया।

इस परिचय के अतिरिक्त मैं शंकर का परिचय एक संवाद के द्वारा देना चाहूंगी। यह गुरु और एक भावी शिष्य का संवाद है। आठ वर्ष की आयु में, आदि शंकराचार्य ने अपना गृह त्याग किया और गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चल पड़े। जब वे ओंकारेश्वर पहुंचे तब आचार्य गोविंदपाद जी नर्मदा नदी के तट पर एक गुफा के भीतर ध्यानमग्न थे। गुफा में अपने गुरु की उपस्थिति का आभास होने पर शंकराचार्य वहां पहुंचे, आचार्य गोविंदपाद जब आए और उन्होंने एक छोटे से बालक को गुफा के द्वार पर देखा तब उन्होंने शंकराचार्य से पूछा कि आप कौन हैं?

शंकराचार्य ने दस श्लोकों में उत्तर दिया जो दस श्लोकी के रूप में प्रसिद्ध हैं। आचार्य शंकर के उत्तर को मैं संक्षेप में कहना चाहूंगी– उन्होंने कहा दृमैं भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, इन्द्रिय अथवा इस सभी का संघात भी नहीं हूँ, क्योंकि ये नश्वर हैं। 'शिवः केवलो अहं मैं तो केवल शिव स्वरुप शुद्ध चेतन तत्त्व हूँ।

जब अविद्या के कारण उत्पन्न अहंकार नष्ट हो गया तब मुझे ज्ञात हुआ कि कोई वर्ण अथवा वर्णाश्रम के आचार–व्यवहार मेरे धर्म नहीं हैं। धारणा, ध्यान, योग एवं श्रवण–मनन का भी मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं है। 'मैं और मेरा' के अभ्यास से मुक्त, मैं शुद्ध चेतना हूँ। तात्विक दृष्टि से गुरु–शिष्य, शास्त्र–शिक्षा , श्रोता–वक्ता आदि कोई भेद नहीं हैद्य आत्मबोध के पश्चात् सभी भेद समाप्त हो जाते हैं। केवल शुद्ध चेतना का अस्तित्त्व रह जाता है। 'शिवः केवलो अहं मैं वही शिव स्वरुप शुद्ध चेतन तत्त्व हूँ।

प्रत्येक श्लोक में शंकर जगत की विविधताओं को नकारते हैं और प्रत्येक श्लोक का अंत इस दृढ़ निश्चय के साथ करते हैं कि 'शिवः केवलो अहं। आचार्य शंकर के उत्तर से आचार्यगोविंदपाद जी प्रभावित हुए और उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया। यह घटना काशी की है। आचार्य शंकर अपने शिष्यों के साथ गंगा नदी के तट से स्नान के पश्चात् लौट रहे थे। उन्होंने एक व्यक्ति को देखा, जो उनकी ओर आ रहा था। क्योंकि वह व्यक्ति बहिष्कृत समुदाय से था, अतः उस व्यक्ति को आचार्य शंकर के मार्ग पर आते हुए देख कर किसी ने उसे उस मार्ग से दूर हटने के लिए कहा। वह व्यक्ति इस तिरस्कार से खिन्न हो गए और उन्होंने दो प्रश्नों के माध्यम से अपनी प्रतिक्रिया दिया। उन्होंने शंकराचार्य से पूछा–

अन्नामयादन्मयम अथवा चौतन्यमेव चौतन्यात ।

आप भौतिक शरीर को दूर करना चाहते हैं अथवा चेतना को पृथक करना चाहते हैं?

द्विज्वर दुरिकर्तुम वान्छसि किम ब्रूहि गच्छ गच्छेति ।।1

हे द्विज, कृपया मुझे बताएं 'दूर हट जाओ' कहकर आप किसे दूर करना चाहते हैं? क्या आप इस भौतिक शरीर का उल्लेख कर रहे हैं जो अन्न द्वारा निर्मित है, अथवा उस चेतन तत्व को दूर करना चाहते हैं जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है।

उस व्यक्ति ने अपनी जिज्ञासा जारी रखा और कहा–

किं गंगाम्बुनि बिम्बितेऽम्बरमणौ चाण्डालवीथीपयः–
पूरे वान्तरमस्ति काञ्चनघटी मृत्कुम्भयोर्वाम्बरे।
प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरङगसहजानन्दावबोधाम्बुधी
विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयम् विभेदभ्रमः।2

सूर्य का प्रकाश, गंगा नदी तथा बहिष्कृत समुदाय के तालाब को समान रूप से प्रकाशित करता है। सर्वव्यापी आकाश घड़े के भीतर अथवा बाहर, समान रूप से व्याप्त होता है। आकाश, सोने के घड़े एवं मिट्टी के घड़े में भेद नहीं करता है, वह समान रूप से विस्तृत होता है।

क्या प्राणिमात्र में उपस्थित चेतन तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि के अस्तित्त्व का आधार नहीं है? वह व्यक्ति, जो अपने मूल स्वरुप से परिचित है, जो आनंद की शाश्वत चेतना का सागर है एवं जिसके विचार स्थिर हैं। ऐसे महान योगी के लिए क्या उचित है कि वह ऐसा भ्रामक भेद करे कि यह एक ब्राह्मण है और यह एक बहिष्कृत?

उस व्यक्ति का प्रश्न था 'को अयम् विभेद भ्रमः?' एक महान योगी के मन में भेद का भाव क्यों आया? उनकी जिज्ञासा थी–

किं गंगाम्बुनि बिम्बितेऽम्बरमणौ चाण्डालवीथीपयः?

इस श्लोक में शंकर ने शुद्ध चेतन तत्व् को, जो सर्वव्यापी एवं शाश्वत है, सूर्य के प्रकाश के द्वारा तथा गंगा नदी को सृष्टिकर्ता के रूप में परिभाषित किया है। जीव की प्रकृति में विचलन होता रहता है, कभी यह सात्विक, कभी राजसिक तथा कभी तामसिक होती है अतः सामान्य जीव को बहिष्कृत समुदाय के तालाब के रूप में परिभाषित किया गया है।

शुद्ध चेतनतत्त्व अथवा सूर्य का प्रकाश समान रूप के प्रतिबिम्बित होता है, वह पवित्र गंगा नदी अथवा तालाब से अप्रभावित रहता है। नदी तथा तालाब की प्रकृति भिन्न है अतः गंगा का जल पवित्र माना गया है एवं तालाब के जल को पवित्र नहीं माना जाता है। इसी प्रकार शुद्ध चेतना सभी जीवों में समान रूप से व्याप्त है

किन्तु प्रत्येक जीव की प्रकृति एवं प्रवृत्ति भिन्न होती है अतः विभिन्न जीवों में चेतना उनकी प्रकृति के अनुरूप प्रतिबिंबित होती है। जिस व्यक्ति को अपने स्वरूप का बोध हो, वह व्यक्तियों के मध्य उसके जन्म अथवा कर्म के आधार पर भेद कैसे कर सकता है? आत्मन, जो ब्रह्मन से अभिन्न है, सभी जीवों में समान रूप से चेतन तत्व के रूप में विद्यमान है।

प्रत्यग्वस्तुनि निस्तरङगसहजानन्दावबोधाम्बुधौ

महासागर सम्पूर्ण सृष्टि अथवा सार्वभौमिक आत्मन का प्रतिनिधित्व करता है। शुद्ध आत्मान शाश्वत, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी है। लहरें, व्यक्ति के विचारों को प्रकट करती हैं। वे सृष्टि में व्याप्त विविधता का प्रतिनिधित्व करते हैं। लहरों का अस्तित्व केवल इसलिए है क्योंकि जल का अस्तित्व है। इसी प्रकार समुद्र भी जल ही है और उसका अस्तित्व भी जल ही है। जल के बिना न तो लहर है और न ही सागर। सर्वोच्च चेतना सृष्टि का आधार है। चेतना के बिना, न तो कोई जीव है और न ही व्यक्ति और न ही ईश्वर, पूरी सृष्टि का निर्माता सर्वोच्च चेतना है।

मनीषा पंचकम मे वर्णित इस संवाद में, वह व्यक्ति जाति के आधार पर सामाजिक भेदभाव से चिंतित थे। पहले दो परिचयात्मक श्लोकों में उन्होंने समाज में व्याप्त भेदभाव के खिलाफ आवाज उठाई और सारगर्भित दार्शनिक प्रश्न पूछे। वे शंकराचार्य से स्पष्टीकरण चाहते थे कि क्या जाति और सामाजिक स्थिति के आधार पर किसी व्यक्ति का न्याय करना तर्कसंगत है?

इस घटना के पश्चात शंकराचार्य ने तीव्र पीड़ा महसूस की और पांच श्लोकों में अपने चिंतन की व्याख्या किया। ये पांच श्लोक सामूहिक रूप से मनीषा पंचकम के रूप में संकलित हैं। श्री शंकराचार्य का उत्तर था–

जाग्रत्स्वप्रसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविद् उज्जृम्भते
या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।
सैवाहं न च दृश्यवस्त्विति दृढप्रज्ञापि यस्यास्ति चेत्
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम[1]

जीव की जाग्रत, स्वप्न एवं सुशुप्ति अवस्थाओं में जो चेतन तत्त्व है, वह सृष्टिकर्ता से लेकर चीटी तक सभी के अस्तित्व का आधार हैद्य यह चेतन तत्त्व जगत के प्रपंचों का भी साक्षी है। मैं वही चेतना हूँ , भौतिक जगत का विषय नहींयजो व्यक्ति इस सत्य से परिचित है तथा जो इस चेतना में दृढ़ता से स्थापित हैद्य ऐसा ज्ञानी चाहे वह द्विज हो अथवा बहिष्कृत, गुरु होने के योग्य है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

सृष्टि, ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, यह जड़ एवं चेतन का योग है। मनीषा पंचकम् का प्रथम श्लोक जड़ एवं चेतन के संबंधों को विश्लेषित करता है और यह निष्कर्ष देता है कि चेतना ही ब्रह्म है। चेतना वेदान्त दर्शन का मुख्य घटक है। यह पारमार्थिक तथा व्यावहारिक जगत का सामान्य तत्व है।

व्यावहारिक जगत में जाग्रत, स्वप्न और सुशुप्ति चेतना की तीन अवस्थाएँ होती हैं। ब्रह्म अथवा शुद्धचेतन तत्त्व जीव की विभिन्न अवस्थाओं का साक्षी होता है।

जाग्रत अवस्था में शरीर, मन और इन्द्रियाँ बाह्य जगत का अनुभव करती हैं। स्वप्न की अवस्था में शरीर और इन्द्रियाँ क्रियाशील नहीं होतींय किन्तु जाग्रत अवस्था में प्राप्त संस्कारों के आधार पर जीव सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता है। सुशुप्ति अवस्था में शरीर, इंद्रियाँ और यहां तक कि मन भी सक्रिय नहीं होता अतः इस अवस्था में बाह्य अथवा आतंरिक किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता है किन्तु जीव का सारभूत चेतन तत्त्व इस अवस्था में भी विद्यमान रहता है। व्यावहारिक जगत में जीव के अस्तित्व का मूल कारण अविद्या है यह जीव की जाग्रत, स्वप्न एवं सुशुप्ति तीनों अवस्थाओं में उपस्थित रहती है, किन्तु चेतना की सर्वोच्च अवस्था अथवा तुरीय अवस्था में अविद्या का आभाव होता है। तुरीय अवस्था सच्चिदानंद स्वरुप होती है। यह सर्वव्यापी, स्वयं प्रकाशमान एवं

अद्वैत सत्य है जो सृष्टि का आधार है।

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्र–विस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम् ।
इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।[4]

मैं ब्रह्म अथवा सर्वोच्च चेतना हूँ और सम्पूर्ण सृष्टि परम चेतना का विस्तार है। जीव के द्वारा बाह्य जगत का अनुभव तथा प्रपंच का कारण माया है। माया त्रिगुणों अर्थात् सत्व, रजस एवं तमस का संघात है। वह व्यक्ति जो इस सत्य से परिचित है तथा जिसकी बुद्धि सर्वोच्च आनंद, शुद्ध, शाश्वत, पारमर्थिक चेतना में दृढ़ता से निहित है। ऐसा व्यक्ति बहिष्कृत हो अथवा द्विज, वास्तव में गुरु होने के योग्य है। यह मेरा दृढ़विश्वास है। इस श्लोक में आचार्य शंकर ने ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का वर्णन करते हुए, ब्रह्म के सच्चिदानंद स्वरुप को परिभाषित किया है। ब्रह्म सत्, चित् एवं आनंद स्वरुप हैं। अपरोक्षानुभूति के द्वारा साधक को यह ज्ञान होता है कि आत्मन एवं ब्रह्मन एक ही तत्त्व के दो पक्ष हैं। 'ब्रह्म एव अहम' पद, साधक की अनुभूति है कि वह स्वयं ब्रह्म है। जब व्यक्ति अध्यात्मिक रूप से उत्कृष्ट होता है तब वह आत्मकेंद्रित नहीं रह जाता है, वह प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशील हो जाता हैद्य आत्मानुभूति केवल अपने स्वरुप की अनुभूति नहीं है यह जीव के मूल स्वरुप का प्रकाशन भी है।

शंकर ने माया को जगत का कारण कहा है। अतः माया की अवधारणा को समझना आवश्यक है। जीवन एवं जगत को भ्रम कहना शंकर के अद्वैत का सार नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि यदि सृष्टि ब्रह्म की अभिव्यक्ति है तो ब्रह्म से उत्पन्न जगत भ्रम कैसे हो सकती है?

शंकर ने जगत को मिथ्या कहा है, असत् नहीं। मिथ्या सत् एवं असत् दोनों से विलक्षण होता है। जगत सत् नहीं है क्योंकि आत्मबोध के पश्चात् जगत प्रपंच नष्ट हो जाता है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि इसका अनुभव होता है। जगत सत् और असत् दोनों भी नहीं है, क्योंकि सत् और असत् प्रकाश एवं अन्धकार के सामान एक साथ नहीं रह सकते हैं। शंकर इस तार्किक विसंगति को माया के द्वारा दूर करते हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार सत्ता के तीन रूप होते हैं– पारमार्थिक सत्ता, व्यावहारिक सत्ता एवं प्रातिभासिक सत्ताद्य पारमार्थिक सत्ता, त्रिकलाबाधित होती है। शंकर केवल ब्रह्म की सत्ता को पारमार्थिक कहते हैं। जिस वस्तु के अस्तित्व का आभास मात्र हो वह वस्तु प्रातिभासिक कहलाती है। स्वप्नावस्था एवं भ्रम की अवस्था के अनुभव प्रातिभासिक सत्ता की श्रेणी में आते हैं। जाग्रत अवस्था के अनुभव एवं सम्पूर्ण सृष्टि व्यावहारिक सत्ता के अंतर्गत आती है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार व्यावहारिक जगत के अनुभव सत् नहीं होते हैं क्योंकि शंकर ने पारमार्थिक सत्ता को सत् की श्रेणी में रखा है और इसका अनुभव अपरोक्षानुभूति के द्वारा होता है। व्यावहारिक जगत के अनुभव असत् भी नहीं होते हैं क्योंकि आत्मबोध से पहले जीव, जगत–प्रपंच का अनुभव करते हैं। अतः जीव के व्यावहारिक जगत का अनुभव सत–असत् निर्वचनीय है, यह मिथ्या है और इसका कारण माया अथवा अविद्या है।

ब्रह्म के शाश्वत सच्चिदानंद के स्वरूप का वर्णन करते हुए शंकर कहते हैं–

शश्यन्नश्वरमेव विश्वमखिलं निश्चित्य वाचा गुरोरू
नित्यं ब्रह्म निरन्तरं विमृशता निर्व्याज– शान्तात्मना ।
भूतं भावि च दुष्कृतं प्रदहता संविन्मये पावके
प्रारब्धाय समर्पितं स्ववपुरित्येषा मनीषा मम।[5]

वह साधक जिसने अपने गुरु के निर्देशानुसार यह अनुभव किया है सम्पूर्ण सृष्टि निरंतर परिवर्तित हो रही है। केवल परमतत्त्व शाश्वत है, जो इस सत्य पर निरंतर ध्यान करता है तथा जिसका चित्त स्थिर हो गया

है, जिसके भूत एवं भविष्य के कर्मफल ज्ञान की अग्नि में जल गए हों तथा जिसने स्वयं को प्रारब्ध का फल भोगने के लिएसमर्पित कर दिया है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

'शश्यन्नश्वरमेव विश्वमखिलं' पद उस साधना की व्याख्या करता है जो शिष्य अपने गुरु के निर्देशन में प्राप्त करता हैद्य ब्रह्माण्ड नश्वर है, 'नित्यं ब्रह्म निरन्तरं' केवल ब्रह्म ही शाश्वत है।

शंकर ज्ञान मार्ग को मोक्ष का साधन स्वीकार करते हैं। बंधन एवं मोक्ष व्यावहारिक जगत में सत्य है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत्य है ये दोनों अवस्थाएँ अविद्याजन्य है। आत्मबोध हो जाने पर संचित कर्मों का नाश हो जाता है एवं संचियमान कर्म बंधनकारी नहीं रह जाते हैं किन्तु प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं। प्रारब्ध कर्मों को भोगने के पश्चात् जीवनमुक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर के अंत के परिणामस्वरूप विदेहमुक्ति की प्राप्ति करता है। वह व्यक्ति जिसकी बुद्धि सर्वोच्च आनंद, शुद्ध, शाश्वत, पारमर्थिक चेतना में दृढ़ता से निहित है। ऐसा व्यक्ति बहिष्कृत हो अथवा द्विज, वास्तव में गुरु होने के योग्य है।

या तिर्यङ्नरदेवताभिरहम् इत्यन्तः स्फुटा गृह्यते
यम्दासा हृदयाक्षदेहविषया भान्ति स्वतोऽचेतनाः ।
तां भास्यैः पिहितार्कमण्डलनिभां स्फूर्तिं सदा भावयन
योगी निर्वृतमानसो हि गुरुरितयेषा मनिषा मम।[6]

शुद्ध चेतना देवताओं, मनुष्यों एवं पशुओं में अहम् भाव के द्वारा अनुभव किया जाता है। इस चेतन तत्त्व के प्रतिबिम्ब से ही मन, इन्द्रियाँ एवं शरीर, जो अचेतन हैं, चैतन्य प्रतीत होते हैंजिस प्रकार सूर्य बादलों से आच्छादित होने के बाद भी सृष्टि को प्रकाशित करता है। जीव को बाह्य जगत का ज्ञान भी इस चेतना के कारण ही होता है। जो योगी संतुलित चित्त से निरंतर इस चेतना अथवा आत्मतत्त्व पर चिंतन करता है, वही मेरा गुरु हैद्य ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

व्यक्ति मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार द्वारा बाह्य जगत में व्यवहार करता है। अंतःकरण की प्रवृत्ति यदि तामसिक अथवा राजसिक होती है तो वह वास्तविक चांडाल हैं, जिन्हें त्याग दिया जाना चाहिए। जब उपाधि सात्विक हो जाती है तो वह आध्यात्मिक प्रगति में सहायक बन जाती है। शुद्ध चेतना मन, इन्द्रियाँ आदि जो कि अचेतन हैं उनकी चैतन्यता का कारण है। यदि शरीर, मन और इन्द्रियाँ, केवल बाह्य विषयों में संलग्न रहती है तब वह अपने मूल स्वरुप से अनभिज्ञ रहती है। व्यक्ति को अपने स्वरुप की अनुभूति तभी हो सकती है जब इन्द्रियों और मन को बाह्य विषयों से हटा लिया जाए। मोक्ष कुछ और नहीं, अपितु नित्यानित्य वस्तु विवेक है। मोक्ष अपने मूल स्वरुप का ज्ञान है, जो अनंत, शाश्वत ब्रह्म के रूप में उसकी वास्तविक प्रकृति की अनुभूति द्वारा प्राप्त होती है। व्यक्ति अज्ञानता के कारण रस्सी को साँप समझ लेता है किन्तु जब प्रकाश होता है तब यह अनुभव होता है कि वहां साँप नहीं था और केवल एक रस्सी ही थी। आदि शंकराचार्य ने अंत में कहा कि–

यत्सौख्याम्बुधिलेशलेशत इमे शक्रादयो निर्वृताः।
यच्चित्ते नितरां प्रशान्तकलने लब्ध्वा मुनिनिर्वृतः।
यस्मिनित्यसुखाम्बुधौ गलित–धी ब्रह्मैव न ब्रह्मवित
यः कश्चित्स सुरेन्द्रवन्दितपदो नूनं मनीषा मम।[7]

परमतत्त्व, शाश्वत आनंद का सागर है, उस आनंद का एक छोटा सा अंश इंद्र एवं अन्य देवताओं को तृप्त करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु ऐसे योगी जिन्होंने आत्मतत्त्व के साथ पूर्ण तादात्मय स्थापित कर लिया है, वह केवल ब्रह्म का ज्ञाता नहीं है स्वयं ब्रह्म है। ऐसे योगी के चरण स्वयं इन्द्र के द्वारा वंदन के योग्य है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

आचार्य शंकर ने जीव के स्वरुप को 'सौख्यं' कहा है अर्थात् शाश्वत आनंद की अवस्थाद्य

'अम्बुधिलेशलेशत' महासागर यदि सृष्टि के समस्त सीमित सुखों का प्रतिनिधित्व करता है, तो इंद्र और अन्य देवताओं द्वारा स्वर्ग में अनुभव किया जाने वाला सुख, शाश्वत आनंद की एक बूँद से भी कम होगा।

'चित्ते नितरां प्रशान्तकलने' वह योगी जिसे आत्मबोध हो तथा जो शाश्वत सत्य पर निरंतर चिंतन करता हो और जिसका चित्त स्थिर हो वह असीमित आनंद का अनुभव करता है।

शंकर ने यहाँ चित्त की अवस्था का महत्त्व बताया है, उन्होंने इंद्र के विचलित मन और योगी के समत्व भाव की तुलना किया है।

'नित्यसुखाम्बुधौ गलित–धी ब्रह्मैव न ब्रह्मवित' योगी जिसका चित्त आनंद के शाश्वत सागर में विलीन हो गया है, वह केवल ब्रह्म का ज्ञाता नहीं है, स्वयं ब्रह्म है।

'यः कश्चित्स सुरेन्द्रवन्दितपदो' ऐसे योगी के चरण इंद्र के द्वारा वन्दनीय हैं,

'नूनं मनीषा मम' यह मेरा दृढ़ विशवास है।

शंकराचार्य ने अद्वैत दर्शन को प्रतिपादित किया, उन्होंने ब्रह्म की एकमात्र सत्ता को सिद्ध किया तथा जीव को पारमार्थिक रूप से ब्रह्म घोषित किया।

मनीषा पंचकम् के श्लोकों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य सामाजिक समरसता का समर्थन करते हैं। उनका दृष्टिकोण समावेशी है।

ज्ञान से एकता उत्पन्न होती है और अज्ञान से विविधता उत्पन्न होती है। अतः इस प्रसंग का सन्देश समकालीन समाज में भी प्रासंगिक है। शंकराचार्य द्वारा दिया गया अद्वैत का संदेश मानव स्वभाव एवं परिस्थितियों को समझने में भी सहायक है। व्यक्ति, यदि अविद्या से मुक्त हो जाता है तथा स्वयं के स्वरूप से परिचित हो जाता है, तब वह दूसरों के साथ भेद–दृष्टि नहीं रख सकता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् मानव निर्मित बाधाएँ नष्ट हो जाती हैं। एकत्व की भावना अद्वैत वेदांत का सार है। जो इस चेतना में दृढ़ता से स्थापित है, वह प्रबुद्ध व्यक्ति है। उसकी सामाजिक स्थिति का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ–

1. शंकराचार्य, मनीषा पंचकम् (मनीषा पंचकम् मधु मंजरी टीका सहितम्, लेखक बाल गोपेन्द्र (पांडुलीपि श्री रघुनाथ मंदिर, एम. एम. एस. पुस्तकालय मेंउपलब्ध है), श्लोक–1
2. वही, श्लोक–2.
3. वही, श्लोक–3,
4. वही, श्लोक–4,
5. वही, श्लोक–5
6. वही, श्लोक – 6
7. वही, श्लोक–7

******

भारतीय संस्कृति : एक शाश्वत प्रक्रिया

कविता कुमारी
शोध छात्रा, दर्शन एवं धर्म विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,

संस्कृति जीवन शैली है। संस्कृति किसी जाति, समुदाय के जीने तथा विचार करने की प्रक्रिया में उस जाति विशेष के आंतरिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार सम् उपसर्ग, धातु तथा क्तिन् प्रत्यय से संस्कृति शब्द निष्पन्न होती है। धातु से तीन शब्द बनते हैं– प्रकृति (मूल स्थिति), संस्कृति (परिष्कृत स्थिति) तथा विकृति (अवनति स्थिति)। स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति, वस्तु, समाज, जाति या समुदाय की यही तीन अवस्थाएं हो सकती हैं। अंग्रेजी में संस्कृति में प्रयुक्त शब्द 'कल्चर' है जो लैटिन के 'कल्ट' या 'कल्टस' से लिया गया है, जिसका अर्थ विकसित करना, जोतना, परिष्कृत करना या पूजा करना है। अब हम समझ सकते हैं कि संस्कृति किसी भी व्यवस्था की सर्वाधिक परिमार्जित व उत्तम अवस्था है। बौद्धिक एवं प्रगतिशील प्राणी होने के नाते मनुष्य अपनी प्राप्त प्राकृतिक परिस्थिति को नित–निरंतर उन्नत करता है, सुधारता है। अपनी जीवन पद्धति, रीति रिवाज, आचार विचार को परिमार्जित करता है। प्रायः संस्कृति के साथ सभ्यता शब्द सुनने को मिलता है। सामान्य अर्थ में हम संस्कृति और सभ्यता को एक ही समझ लेते हैं, परंतु वास्तव में दोनों में मौलिक भेद है। सभ्यता मनुष्य के भौतिक प्रगति का सूचक है तो संस्कृति मनुष्य के मानसिक प्रगति का सूचक। हम सभी जानते हैं कि मानव शरीर, मन तथा आत्मा का संयोग है। सिर्फ शारीरिक एवं भौतिक पूर्णता मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं है। मनुष्य आत्मा की संतुष्टि तथा आनंद की अवस्था तक पहुंचना चाहता है। विकास की यह अवस्था मनुष्य की संस्कृति कहलाती है। इस प्रकार संस्कृति को दो भागों में विभाजित किया गया है– भौतिक संस्कृति तथा आधिभौतिक संस्कृति।

भौतिक संस्कृति वह वस्तु है जिसे सभ्यता के नाम से जानते हैं। सभ्यता मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों की श्रृंखला है। विकास परंपरा में अपने जीवन को सहज, सुगम, भयमुक्त व शक्तिशाली बनाने के तमाम अथक प्रयास का परिणाम है सभ्यता। कुछ हद तक प्राकृतिक शक्तियों को अपने वश में कर लेने की क्षमता है सभ्यता। परंतु इसके दूसरी ओर आधिभौतिक संस्कृति जिसे हम संस्कृति के नाम से जानते है आभ्यांतर प्रवृत्ति है। यह हमारे परंपरागत चिंतन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्था का समावेश है। यह ह्रदय की पवित्रता है। यह कला, विज्ञान, नृत्य, संगीत एवं मानव जीवन की उच्चतर उपलब्धियों का सम्मिश्रण है। मनुष्य सिर्फ कोई बात कहता या कुछ करता नहीं है। उसमें सत्य–शिव–सुंदर के तत्व निहित हैं। अतः स्वभावतः वह चाहता है कि जो कुछ कहा जा रहा है वह सत्य हो, मंगलकारी हो, तथा सुंदर हो। जिस चीज की कृति हो रही है वह सत्य आधारित हो, प्राणी मात्र के कल्याण के लिए हो तथा आवश्यक रूप से सुंदर भी हो। अर्थात् सत्य–शिव–सुन्दर की यह अवधारणा संस्कृति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संस्कृति जीवन शैली का उद्‌गम स्थल है तो सभ्यता जीवन के उपकरण। संस्कृति साध्य है तो सभ्यता साधन।

संस्कृति को थोड़ा और विस्तार में समझने के लिए कुछ मूलभूत विशेषताओं पर ध्यान आकर्षित करते हैं। संस्कृति जीवन की विधि है। हमारा भोजन, हमारी वेशभूषा, हमारी भाषा हमारे रीति रिवाज, हमारी पूजा उपासना पद्धति ये सभी संस्कृति के अंग हैं। संस्कृति मानव जनित पर्यावरण में एक अमूर्त/अनैतिक उत्पाद है जिसे एक पीढ़ी उत्तराधिकारी पीढ़ी को विरासत के रूप में सौंपती है और यह क्रम परंपरागत रूप से चलता है। इस प्रकार संस्कृति जीवन का अमूर्त पक्ष तथा कला, साहित्य, दर्शन, धर्म, वास्तुविज्ञान, नृत्य, संगीत, शिल्पकला इत्यादि इसके मूर्त पक्ष हैं। अब बात करते हैं भारतीय संस्कृति की। भारतीय संस्कृति विश्व की

सर्वाधिक प्राचीन एवं समृद्ध संस्कृति है। इसकी समकालीन अन्य कितनी ही संस्कृतियां काल धारा के साथ बह गईं, नष्ट हो गईं। मेसोपोटामिया के सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन, मिस्र, ईरान, यूनान, रूस जैसी सुदृढ़ संस्कृतियां काल के गाल में समा गईं। परंतु दूसरी ओर भारतीय संस्कृति हजारों वर्षों के इतिहास का साक्षी बने अपनी अजरता–अमरता का परचम लहरा रही है। यहां प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसी कौन सी विशेषता है इस भारतीय संस्कृति की, ऐसा कौन सा अमृत तत्व है इस संस्कृति में जो समय के अनेकानेक क्रूर थपेड़ों के बाद भी इसे अक्षुण्ण बनाए रखा है। हजारों वर्ष पूर्व की सिंधु घाटी सभ्यता तथा हमारी विशाल वैदिक परंपरा इस संस्कृति के धारक तथा वाहक रहे हैं। वेदों, उपनिषदों में व्याप्त मानव कल्याण युक्त जीवन मूल्य संस्कृति के रक्षक है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि हमारे वैदिक ऋषियों में जो मानव कल्याण की भावना थी वही भारतीय संस्कृति का अमृत तत्व है। माण्डूक्योपनिषद्[1] में शिष्य अपने गुरु तथा सहपाठी से प्राणी मात्र का कल्याण चिंतन करते हुए कहते हैं कि– हे देवगण ! हम अपने कानों से शुभ, कल्याणकारी वचन ही सुनें। निंदा, चुगली, गाली या अन्य पाप की बातें हमारे कानों में ना पड़े।

आगे, भारतीय संस्कृति की कुछेक महत्वपूर्ण विशेषताओं की चर्चा करेंगे जो इसे विश्व की अन्य संस्कृतियों से भिन्न तथा शाश्वत बनाए हुए हैं।

निरंतरता– उपनिषदो, वैदिक ऋचाओं के नैतिक उपदेश, गीता का अद्‌भुत उपदेश हजारों वर्षों से हमें अपने कर्तव्य पथ पर अभिसिंचित करते आ रहे हैं। तमाम परिवर्तनों के बावजूद भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्वों, मूल्यों में एक ऐसे निरंतरता है जिससे आज भी करोड़ों भारतीय स्वयं को जुड़ा हुआ महसूस करते हैं तथा इससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

लचीलापन एवं सहिष्णुता– भारतीय संस्ति की सहिष्णु प्रकृति ने उसे दीर्घायु और स्थायित्व प्रदान किया है। भारतीय संस्कृति किसी देवी देवता की आराधना करें या ना करें, पूजा– यज्ञ करें या न करें आदि स्वतंत्रताओं पर धर्म या संस्कृति के नाम पर कभी बंधन नहीं लगाती। इसीलिए प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रतीक, हिंदू धर्म को धर्म न कहकर कुछ मूल्यों पर आधारित एक जीवन पद्धति की संज्ञा दी गई और हिंदू का अभिप्राय किसी धर्म विशेष के अनुयायी से न लगाकर भारतीय से लगाया गया। भारतीय संस्कृति के इस लचीले स्वरूप में जब भी जड़ता की स्थिति निर्मित हुई तब किसी न किसी अवतार या महापुरुष ने इसे गतिशीलता प्रदान कर इसकी सहिष्णुता को एक नई आभा से मंडित किया। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।(4,7)

अर्थात् जब भी धर्म का पतन और अधर्म की प्रधानता होने लगे, तब तब मैं अवतार लेता हूं। यहां धर्म से तात्पर्य मानव कल्याण से युक्त जीवन मूल्यों से है। इस दृष्टि से राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, कबीर, शंकराचार्य, गांधी, विवेकानंद जैसे अनेक महापुरुष समय–समय पर अवतरित होकर इस धरोहर को जड़ होने से बचाए हैं। सहिष्णु होने के कारण भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता प्रवृत्ति को विकसित होने का अवसर मिला। विभिन्न समय में आए शक, यूनानी, कुषाण, तुर्क, मुगल, ब्रिटिश आदि की संस्कृतियों के साथ समन्वय की प्रक्रिया तथा नीर– क्षीर ज्ञान के माध्यम से यहां के जनमानस ने ग्रहण योग्य तत्वों को अपने में शामिल कर उन तत्वों को त्याग दिया जो भारतीय संस्कृति की मौलिकता के लिए हानिकारक थे।

आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय– भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था के साथ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों का विशिष्ट स्थान रहा है। इन पुरुषार्थों ने आध्यात्मिक व भौतिक जीवन का समन्वय किया है। जीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों पहलुओं को धर्म से सम्बद्ध किया गया है। भारतीय संस्कृति में धर्म एवं मोक्ष आध्यात्मिक संदेश तथा अर्थ एवं काम भौतिक अनिवार्यता के लिए अपेक्षित हैं। सुखी एवं संतुष्ट जीवन के लिए भारतीय मनीषियों की ऐसी परिकल्पना विश्व के अन्य किसी संस्कृति में उपलब्ध नहीं है।

नैतिक मूल्यों की व्यापकता– प्राणी मात्र के कल्याण के लिए, जिससे हमारे अंदर समानता तथा विश्व बंधुत्व का भाव जागृत हो सके, ऐसे नैतिक मूल्यों की व्याख्या उपनिषदों में अनेकानेक प्रसंगों में दिखाई पड़ जाते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्[3] में सत्य की महत्ता को दिखाते हुए ऋषि स्तुति करते हैं कि हे अंतर्यामी परमेश्वर मुझे सत्–आचरण एवं सत्य भाषण करने की तथा सत् विद्या को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करें। मुण्डकोपनिषद्[4] में सत्य को परमात्मा प्राप्ति का साधन माना गया है। कठोपनिषद्[5] में यमाचार्य नचिकेता को रूपक अलंकार में आत्मा की स्थिति बताते हुए इंद्रियों के संयम का ज्ञान देते हैं। दान का महत्व बताते हुए तैत्तिरीयोपनिषद्[6] में आचार्य शिष्य को शिक्षा देते हैं– अपनी शक्ति के अनुसार दान करने के लिए तुम्हें सदा उदारता पूर्वक तत्पर रहना चाहिए। जो कुछ भी दिया जाए श्रद्धा पूर्वक तथा अकिंचन भाव से देना चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास भी रामचरितमानस[7] में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–

जो संपति शिव रावनहि दीन्हि दिए दस माथ।
सोई संपदा विभीषनहि सकुची दीन्हि रघुनाथ।।

कर्म सिद्धांत का महत्व– भारतीय संस्कृति में 'अकर्मण्यता' का कोई स्थान नहीं है। यह कर्म प्रधान संस्कृति है। मनुष्य बिना कर्म के नहीं रह सकता। परंतु कर्म के फल में इच्छा को यहां अनावश्यक माना गया है। श्रीकृष्ण निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्त होने का उपदेश करते हैं। ऐसे में मनुष्य को विश्वास न हो तो कृष्ण कहते हैं–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।(18–66)

अर्थात् तुम सभी धर्मों को परित्याग करो, डरो नहीं, मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापों से तुम्हारा उद्धार करुंगा। साथ ही कर्म फल तथा पुनर्जन्म का मिश्रित सिद्धांत हमेशा मनुष्य को सुकर्म के लिए प्रेरित करता है।

इसके अतिरिक्त सनातन संस्कृति के चार मूल सिद्धांत हैं जो विश्व शांति का मार्ग प्रशस्त करने में पूर्ण सक्षम हैं– 1.वसुधैव कुटुंबकम् 2. एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति, 3. सर्वे भवंतुभवन्तु सुखिनः तथा चौथा 4. यत पिंडे तथा ब्रह्मांडे। पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे। ये सिद्धांत किसी भी धर्म, जाति, देश, काल, लिंग से प्रभावित हुए बिना एक स्वर में प्राणी मात्र के कल्याण की कामना करते हैं। वैचारिक वैमनस्यता का यहां कोई स्थान नहीं है। यही सिद्धांत हमें नैतिक मानव बनाते हैं तथा दूसरे मानवों के सम्पर्क में लाते हैं तथा प्रेम, सहिष्णुता एवं शांति का हमें पाठ पढ़ाते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं को समझने के क्रम में हमें इतना तो स्पष्ट हो ही गया है कि हमारे वैदिक वाङ्मय, उपनिषदों, पुराणों इत्यादि का कितना अमूल्य योगदान है। हजारों वर्षों के बाद भी वे आज की आधुनिक जीवन शैली में भी उतने ही प्रासंगिक हैं। एक परिष्कृत तथा आदर्श जीवन पद्धति के लिए मार्ग प्रदर्शित करते हैं। अतः आज हमारी, इस युवा पीढ़ी, इस नई पौध की यह नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि हम इनका अध्ययन करें, नीर– क्षीर ज्ञान का प्रयोग करते हुए संस्कृति में निहित आत्म तत्व को पहचान कर उसे आत्मसात करें जिससे भारतीय संस्कृति की जड़ें और भी विस्तार को प्राप्त करें।

सन्दर्भ

1. माण्डूक्योपनिषद् (शांति पाठ)
2. श्रीमद्भगवद्गीता (4–7)
3. तैत्तिरीयोपनिषद् (1– 12)
4. मुण्डकोपनिषद् (3– 1– 6)
5. कठोपनिषद् (1–3– 3)
6. तैत्तिरीयोपनिषद् (1–11– 3)
7. रामचरितमानस
8. श्रीमद्भगवद्गीता (18– 66)

Lingāyat a native religion

Dr. Nagshetty K Shetkar Ph.D
9-9-94 "Sharan Sangama"
Akkamahadevi Colony, Gandhi Gunj Post,
Bidar 585403. Karnataka, Phone 9341246092

Many great prophets, saints, preceptors and incarnations were born in this world in the past. Their sole aim was the welfare of mankind. But their teachings did not reach the common people. Nor did they enter all the fields of life. Divine fulfillment is possible only through finding solutions to all problems. Basavanna has solved all those problems. Some teachers were concerned with social problems. Yet others were bothered about economic and political problems. But it is Basavanna alone who was concerned with the problems in all the aspects of the life-religious, social, economic and political. He completed all that his predecessors-preceptors, prophets, messengers of God and philosophers-had left undone. Particularly from the Indian point of view, Basavanna's preachings are unique and wholesome. It is time now that we should consider the struggles that he encountered and his findings in several fields of life. It is very necessary to consider his principles, experiments and achievements in the light of his goals.

Basavanna had the experience of life in all its vastness and variety. He went through the mill of life like any other person. But on every occasion and in every context he has shown a new path to mankind. His native approach is free from the inhibitions. Of caste, age, language or sex. His approach is universal. It does not go stale with the efflux of time. His words are true in every age. We, of present generation, need them as much as his own contemporaries. His thoughts like the beacon of light originating from the distant past, illuminating the present and probing into the future. His aim was the good of all mankind. The sources of his thoughts were liberty and equality. He believed that through Dharma alone that all mankind can come together. It was his firm conviction that the function of Dharma was not only spiritual; Dharma according to him must aim at spiritual attainment coupled with world prosperity. He believed that this dual goal was the fundamental right of every man.

a. Founder of *Lingāyat*

By inventing *Iṣṭlinga*, establishing *Anubhava manṭapa*, gathering various *Śaraṇa* company, and letting the companions discover *Aṣṭāvaraṇa, Pancācāra, Ṣaṭsthala, Śunya Siddhānta, Kāyaka, Dāshoha*, by initiating numerous *Śaraṇa's* into *Lingāyat* religion, Guru Basaveshwara is proved to be the founder of *Lingāyat* religion.

Śunya Siddhānta

At the first sight, the word "*Shunya*" seems to have been borrowed from Buddhistic literature which advocates an idea more or less negative or nihilistic nature, often illustrated by the extinction of fire. But in *Lingāyat* literature it has different connotation which differs from the *Dvaita* conception, in which the individual soul though eternal as the universal soul is expected to become perfect as the latter. The *Advaita* conception is rejected as well for the reason that it denies the reality of the individual soul and material world and holds the identity of the individual and the cosmic soul. But in *Śuynya Siddhanta* philosophy of *Lingāyat*ism, it is held that the material world and the individual soul have a reality in God and these could not be distinguished in the *Avyakta* of unmanifested state called *Niskal* in *Lingāyat* literature. This mysterious union is very often illustrated either by the magnet and its power or matter and energy of the sun and its rays. It has all the negative aspects that can be had from the Buddhistic of Vedic conception and the positive aspects that can be found in mysticism. Practically *Śunaya Sampādane* is somewhat akin to St. Paul's interpretation of his spiritual experience which is worded as follows: 'It is no longer I that live, but Christ live thin me" To use here the *Lingāyat* terminology again, it is the transformation of *Angānga* into *Lingānga*, which modern psychology often terms 'Sublimation'.

The *Lingāyat*, as religious beings, starts with *Linga* and end with *Linga* and therefore they are *Lingāyat* s, not merely because they wear *Linga* on their bodies.

Such is exalted and pure idea of *Linga* but also as the ultimate resort of the lives, where they go and become essentially at-one in *Mukti*. To a *Lingāyat, Linga* is the highest reality capable of being realized through devotional worship and meditation. The conception of *Linga*, as the representation of

thought, symbol of the formless or the all-formed Almighty, is lofty and edifying, and there is no trace of either superstition or any impure and dirty idea attached to it.

Lingāyat religion was very shallow and superficial and based their assertion and not on the study of the literature of the religion, but on the prejudice and scandal- mongering hearsay. Otherwise they should never have said so if they had studied, the literature with care so as to have an insight into the principles of the religion. On the contrary, C. P. Brown, who cared to study the religion better and had an insight into its truth and ideals, says, "This symbol (Lingam) is separate from indecency in the Hindu mind as circumcision in the Mohammedan Mind. The Brahmins with their usual love of filth have connected a variety of obscenities with *Linga* worship, but they are wholly unknown to the *Jangamas*, who look upon this idol (a mistaken notion-editor), just as the Catholics do upon a reliquary with deep veneration- "Hanging a golden stamp about their necks. Put on with holy prayers" ….some very obscene stories regarding the origin of the Lingam have been published by various authors. These stories are perhaps Brahminical; they have nothing to do with the *Jangamas*; there here is no mention of the subject in their books; and I have not met with any *Jangama* acquainted with these fables." Such is the emphatic statement of Mr. Brown made with the dispassionate and impartial spirit regarding the misinterpretations of the sublime symbol by European writers. Much harm has, therefore, been done to many of the *Śiva* schools of thought by well-known European writers in whose mind the idea of Lingam, somehow or Other, is so closely associated with the Phulla that they cannot see some hidden trace of "Phallic obscenity".

"Even in the highest philosophical interpretation of Lingam by some of the mastery writers of this (*Lingāyats*) school". This is obviously all due to their superficial study and consequent lack of insight into *śaivism* and *Lingāyatism*. The unreasonable aspersions cast upon the *Linga* and its worship by *Lingāyats* and the exalted philosophical creed of *Lingāyatism*" have proved this digression to be false, and it is justified in the vindication of the truth.

On studying the concept and purpose of intervention GOD the Creator, Organizer and Dissolving force is to enjoy the life in worthy way and meaningful way. There are different faiths regarding GOD. Eminent philosophies argue GOD is Omnipresent, Omnipotent and Omniscient, while some argues silently about GOD, and some deny the existence of GOD. There are various different ways prescribed by the various faiths to achieve liberation or oneness with creator.

Lingāyat religion being monotheistic obeys existence of Omnipresent, Omnipotent and Omniscient and only formless GOD. *Shunya Peethadhisha* (president of *Shunya Peetha)* president of *Anubhava Manṭapa* specify the *Lingāyat* Concept GOD in the following *Vacana.*

bayala murtigoḷisidanobba śaraṇa
ā murtiyalli bhaktisvāyatava māḍidanobba śaraṇa
ā bhaktiyane sujñānamukhava maḍidanobba śaraṇaā
sujñanavanu lingamukhvāgi dharisidnobba śaraṇaā
lingavane sarvāngadalli vedisikonḍanobba śaraṇa
ā sarvāngavane nirvānasamādhiyalli nillisidanobba śaraṇa nānu
nirvānadalli nindu agmyanādenendaḍe bhaktikampitanenisi enna
tannallige barisikonḍanobba śaraṇa
Guhesvarā nimma śaraṇa sAnganabasavannana shripādava kanḍuŚaraṇendu
badukidenu (SVS2/1379)

Translation

A devotee (*Śaraṇa*) has gave frame to the Formless (Bayou)A devotee
(*Śaraṇa*) has imbibed devotion in that
A devotee (*Śaraṇa*) has turned that devotion towards knowledgeA devotee
(*Śaraṇa*) wears the knowledge as *linga*
A devotee (*Śaraṇa*) has extended the *Linga* to all the parts of the body(Sarv*Anga*)
A devotee (*Śaraṇa*) has took *sarvānga* to attain *nirvāṇasamādhi*
A devotee (*Śaraṇa*) has took me unto him as if
He argue he attained *nirvana samādhi* and became *agamya*
O Lord *Guheshwara* I got survived by seen divine feet of *Śharaṇa SAngana Basavaṇṇa* (SVS2/1379)

In this *Vacana* the president of *Anubhava Mantapa* Allama Prabhu is explaining the Concept of GOD of *Lingāyat* religion prescribed by Guru Basaveshwara. He explained the Formless GOD is been defined and symbolized as *Linga*. Then he motivated devotion, knowledge, the *linga* is worn on the body, he extended devotion attribute to whole body, he attained oneness (Nirvana) with God but he did not disclose it as it may not fair. So I bow before the *Sangana Basavanna* for this divine conceptual representation.

In *Lingāyat* religion formless GOD is symbolized. Worship only *Linga* in very scientific way of *Lingānaga* yoga (a new type of YOGA, performed through eyes and *Iṣṭalinga* during the *Lingapuje*) as *Lingāyat* being monotheistic it utterly condemns polytheism.

lingavanariyade enanaridadu phalavilla
lingavanaridabaḷika mattenanaridaḍeyu phalavilla
sarvakāraṇa lingavāgi
lingavne aridaridu lingasAngavane maḍuve
sAngasukhadolu oladuve guhesvara (SVS2/ 1505)

Translation

There is no meaning in knowing anything if didn't known the *Linga*There
is no meaning in knowing anything after knowing *Linga*
Linga is reason for everything
So, I do know *Linga* again and again, be in the company of *Linga* only I enjoy
the bliss of *Śaraṇa* company O Lord *Guheshwara*. (SVS2/ 1505)

Through this above *Vacana* Allamaprabhu specifies the significance of *Linga* and knowledge of *Linga* is been most relevant for GOD. So being the part and parcel of the *Śaraṇa* (devotees) company leads towards the oneness with God.

Plenty of *Vacana* evidence specifying formless GOD concept of *Lingāyat* is there in *Śunya Siddhānta* . It is a very perfect conceptual explanation as well as central devotional theme.

A religion may be defined as a system of belief in the superhuman power, which governs the course of the universe and the human life in it, and it is entitled to some form of worship from the human beings for attaining eternal happiness. The system of belief connotes doctrines concerning the relations of the universe man God. The superhuman Power, and explain how God, as the Almighty Power, creates, sustains, and destroys or reabsorbs the Universe. They also explain and lay down the procedure and methods of worshipping God for the human beings so that they may be free from the trammels of the worldly life and attain eternal happiness by the grace of God. Thus a religion has two parts (1) the philosophy and (2) the practice. The former explains the work of god with the universe and the latter the way of attaining the grace of God for the liberation and final beatitude. The practice of a religion is based on the philosophy of the religion. Such is the idea of religion for all practical purpose, however functionary it may be. The Lingāyat religion has both parts in it distinct to itself and can, therefore, claim to be distinct religion.

Basavanna was not theoretician. He was not lost in endless arguments which lead man nowhere. He was not for flourishing barren scholarship. He freely mingled with people of all sorts. Not for him the barriers of caste or creed, colour or country, language or sex. He devoted his whole life for living among the people as their fellow brethren with the understanding and sympathy for them and he succeeded in this mission.

The world has seen in past a number of philosophers, with their own philosophies and great doctrines. Still, Basavanna was different from them. He was of the earth, but not earthy. In this very framework he showed us a straight and simple path-a path which anybody could follow. There are people who renounced the wealth, the women, name and fame. They believed in standing apart at a distance. Just as an ideal teacher mingles with the children and teaches them, Basavanna was a part of humanity to which he showed the path divine.

He did not keep himself away from woman, wealth or possessions. According to him, God's creation is as welcome as God himself. If God is end-all, the world is the be-all; one is the end, the other the means. Having been born in the world, one should make the world medium through which he should see the Lord of creation. He was a man of the world and yet was beyond it. He was a superman; yet he

was human with all the fellow feeling. He toiled for bringing to everyone the right and privileges of life that he himself possessed.

The thoughts of Basavanna are needed for the welfare of the whole world although he was born in India and spoke in a language not known to the rest of the world. He employed Kannada language as the vehicle for thoughts in an inspiring and effective way. Even a person could not understand Kannada could feel that his thoughts were lofty and effective. Hence, people speaking different languages were attracted by him. The people coming from Kashmir, *Kalinga* and *Sourashtra* became one with Kannadigas. His thoughts and words were like the philosopher's stone. Hence, his words echoed the message of other world teachers. His teachings are as much of others as they are of the Kannadigas.

By following the above all aspects of *Lingāyat* religion is compatible to the contemporary aspects Nature and scope of religions such as: Concept, Significance of and approach to the study of Religion (Historical, Anthropological, Sociological, Philosophical, Phenomenological and etc.), Founder and Profounder of Religion, Major Scripture, Individual and social aspect of Religion, Harmony of religions and interfaith dialogue,Modern Challenges to religion (Materialism, Rationalism, Agnosticism and so on).

Significance of *Lingāyat* Religion with respect to Philosophy

Lingāyat religion provide abundant literature in lucid language to understand general and fundamental problems connected with reality, existence, knowledge, values, reason, mind, and language. *Lingāyat* religion is distinguished from other ways of addressing problems by its critical, generally systematic approach and reliance on rational argument. *Lingāyat* religion is competent to refer for the most basic beliefs, concepts, and attitudes of an individual or group.

dayavillada dharmavadevudayā
dayavebeku sarvaprāṇigaḷellaralli
dayave dharmada mulavayyā
kuḍalasangayyānantalladollanayyā (SVS1/247)

Translation
What sort of religion can it be without compassion?
Compassion needs must be towards all living things;
Compassion is the root of all religious faiths:
Lord Kudala Sanga does not care For
what is no. like this. -V of 247

By means of *Saṭasthala* philosophy it weakened the theory of transmigration and destroyed the roots of rebirth. Although there is a way in Hinduism for emancipation through *jñāna Mārga* it is extremely difficult to secure, as it is meant only for the select few. For an ordinary family man there is no certainty as to when he will attain to this final goal though he seeks for it in earnest and does all that the scriptures demand for him. But this institution removed the uncertainty by ensuring the attainment of the final goal in this very life to every individual who accepted its faith. In Vedic literature we find no such hopeful promises being made except to the *Sannyāsis*.

It ended the struggle for supremacy between jñāna, *Bhakti* and *Karma*, by giving them equal importance which according to *Lingāyat* tenants are physically represented by *Guru*, *Linga* and *Jangama*. The Bhagavad-Gita which typically represents the same sympathetic view may be said to be wanting in *Lingāyat* interpretation.

It laid stress upon family life which in its opinion was in no way a disqualification to salvation as opposed to Buddhism and Jainism which closed their doors of salvation against the householder unless he abandoned his family and become a *Sanyāsi* or member of the *Sangha*. *Lingāyat* saints of the 12th century re the living examples of the above mentioned principle and even the great reformer who is believed to be the incarnation of the sacred bull or Siva was not an exception to this.

The *Lingāyat* religion is well equipped and stable enough to fulfill the all aspects to provide "love of wisdom" (literal meaning of Philosophy). Philosophies of *Lingāyat* religion propose scientific reasoning, virtual mentality, and progressive vision, democratic and universal welfare in lucid and common man's words. Holy *Vacana* literature is a treasure of inspiration in all the walks of life.

Significance of *Lingāyat* Religion with respect to Phenomenology

The *Lingāyat* religion describe the method to make possible "a descriptive account of the essential structures of the directly given." *Vacana* literature is competent to emphasize the immediacy of experience, the attempt to isolate it and set it off from all assumptions of existence or causal influence and lay bare its essential structure. It restricts the philosopher's attention to the pure data of consciousness, uncontaminated by metaphysical theories or scientific assumptions. Husserl's concept of the life-world as the individual's personal world as directly experienced expressed this same idea of immediacy.

kāyada kaḷavaḷakkanji 'kāyayyā' ennenu
jīvanopāyakke 'iyayyā' ennenu
'yad bhavam tad bhavati' uri barali, siri baralibeku
beḍennenayyā
ā nimma hārenu, mānvara beḍenu
āṇe nimmāṇe, kuḍalasangamadeva (SVS1/696)

Translation
Fearing the body's pains, I do not say 'Protect me, Lord!'
Fearing for means of life, I do not say 'Grant me, O Lord1''As
the heart is, so is the fruit'
Let woe come, or wealth come, I do not say "I want or do not want', I do not
hope for it Either from man or God- So, I swear by you, LordKudala
Sangama! (V of B695)

It regarded the gentle sex as in no way inferior to men in spiritual matters. Consequently the contributions in religious experience from the gentle sex were not only heartily welcomed but also more highly appreciated than that of men. The exceptional attitude of the institution towards the gentle sex exchanged, so to say, the destiny of Indian women as opposed to Jainism and Brahmanism in which the one denied the right of salvation and the other the right of studying scriptures except *Purāṇas*, to the fair sex. It produced personalities like Mahadeviyakka, Satyakka and Muktayakka, women of sterling character and remarkable independence of thought and action and was also the cause of a valuable production of *Vacanas* by many authoresses whose religious experience sometimes far surpassed that of men.

It experimented on a small scale and solved the problem of uplifting and educating the untouchables who stand even today outside the pale of Hinduism, Destitute of the sense of human rights. *Lingāyatism* of the day gave them education in the true sense of the term enabling them to express their feelings and thoughts in their mother tongue. In consequence we find every one of them an author of *Vacanas* in which he skillfully allegorizes his professions illustrating the spiritual truths he has found.

Such representative women or sisters were afterwards called "the gentle sex-saints of *Lingāyatism*" and they may be numbered about 30. It became the power-house of the dynamo of *Lingāyatism* which kindled many a cold soul and brought a miraculous change in the lives of the most sinful men and women.

Philosophies and ethical values of the *Lingāyat* religion are providing practical instances for Husserl's detailed description of conscious experience, without recourse to explanation, metaphysical assumptions, and traditional philosophical questions.

Remarks based on the evidence/reference from *Vacana* Literature, instances of *Lingāyat* religion and reliable data significance of various ethical factors of *Lingāyat* religion comply with the contemporary aspects of historical, anthropological, sociological, philosophical and phenomenological views.

Through eight coverings *(Aṣṭāvaraṇa): Guru, Linga, Jangama, Vibhuti, Mantra (Chant),* and *Karuna Prasāda*. Five Practices *(Panchachara): Sadācāra, Śivācāra, Lingācāra, Brutyācāra* and *Gaṇācāra*. Six Stages (aims) *(Shatasthala):Bhakta, Maheśa, Prasādi, Prāṇalingi, Śaraṇa* and *Aikya. Kāyaka* and *Dashooha. Anubhava Manṭapa.*

Significance with respect to the various aspects *Lingāyat* religion offers unique contribution to emphasize human life with eternal values, universal fraternity-equality, etc. Thus the majority of the apprentices that joined the *Manṭapa* or Spiritual Academy were family men and the names of the successful candidates who obtained salvation in this very life are published in a booklet called *Gaṇa-Sahasra* and they are popularly known as 770 *Amaragaṇas* meaning hosts of immortals.

In other words, it is a kind of complete self-abnegation of reducing the "Flesh" or the: Lower self to zero point. In terms of Mystic psychology, it is the merging of the individual consciousness into universal consciousness.

Philosophy of *Lingāyat* religion is not opposed to any other religion or theology. On the other hand, it helps to give the distinct idea and clear meaning of human values. It eradicates the misinterpretations of fundamental concepts. They can be analyzed / evaluated through the research-work only.

Lingāyat a native religion profound by Guru Basaveshwara in 12th Century; it has very scientific ethics, practices and most progressive values. Guru Basaveshwara enriched *Lingāyat* religion with world humanitarian values; scientific reasoning practices and universal frame work. *Lingāyat* religion complies all the aspects taken in this study, and even then *Lingāyat* religion is also a very unique religion found to contend the false rituals. It's indeed a native religion of India which fulfills most of the essentials to be a religion and even it has the capability of becoming role model to the contemporary times.

Abbriviations

V of B = *Vachanas* of Basavanna translation of *Vachana's* of Basavanna into English published by Annana Balaga, Sirigere. Taluka and Dist Chitradurga. Karnataka 1967. No denotes serial number of *Vachana* in the book.

SVS = *Samagra Vachana Samputa*, Collection of *Vachana* in 15 Volumes, Publisher; Kannada Pusaka Pradhikar, (Government of Karnataka) Bengaluru 1993

Special terms

Śunya siddhanta: Special Philosophy regarding the Creator Sustainer and Dissolver (God).

Aṣṭāvaraṇ : Eight coverings for the life of the devotee. *Guru, Linga, Jangama, Vibhuti, Mantra (Chant), Karuṇa Prasāda*

Pancācāra: Five practices. *Sadācāra, Śivācāra, Lingācāra, Brutyācāra* and *Gaṇācāra*

Saṭasthala: Eight Stages (Goals to be achieved step by step) *Bhakta, Maheśa, Prasādi, Prāṇalingi, Śaraṇa* and *Aikya*.

Iṣṭalinga : Centre theme of the Lingāyat religion manifestation of formless God Theme to worship weapon of equality.

Kāyaka and Dāsoha: Everyone is to work for individual survival (Kāyaka) and everyone is to contribute part of earning by doing *Kāyaka* to the society/needy *Dāsoha*).

Anubhava Manṭapa : A council type body formed by Basaveshwara to discuss regarding finalization of ethics and proceedings were recorded in the form of *Vacana*.

Vacana Literature: Typical Oath's (writings) based on experience and knowledge, which provide very high moral, spiritual inspirations and crystal clear knowledge about supreme reality and a stable guide in respect of all the corners of the life.

Lingāyat: believer of the religion worship theme the symbolic representation of GOD as *Istalinga*

Gaṇa-Sahasra/ Amaragaṇas; hosts of immortals.

Concept of faith in Christianity

Dr. Noel Dan
Associate Professor (Philosophy)
Govt. M.K.B. Arts and Commerce
College Jabalpur.

Faith is the carnal or core of all religious specially in Judaism and Christianity. The faith is the most fundamental element and a significant tenet of all religious life and behaviour. It is the very core the heart and centre of religion. There cannot be no religion without faith. Without religious belief it is impossible to have faith. Both religious belief and faith are directly related.

Biblically faith is considered a belief and trust in god based on evidence but without total proof. In general terms it is used as taking a leap of faith.Faith has a common element which is called trust, weather you are putting faith in a person duty or belief, trust is a necessity.

Bible defines faithas:

Faith is the substance of things hoped for, the evidence of things not seen

Hebrews 11:1

It means that we believe in the things, which are not seen up till now, that they exist. In other words, faith is almost the certainty of things not seen of course this certainty is not born of scientific knowledge nor through reason but it comes by faith which we have on our lord Jesus. Faith and external knowledge or reason are not opposed to each other but for Kant, therefore, faith has subjective certainty sufficient for action, but insufficient for objective knowledge. Hence a proper relation has to be established between faith and knowledge.

Thus according to kant, it can be said that is the case of faith there is not sufficient evidence for reasonable certainty, but there felt certainty for action is felt or, commitment for action. for this reason kant, has stated,

'I have therefore found it necessary to deny knowledge, in order to make room for faith.'

(Kant, critique of pure reason tr. By N.K smith abridge edition P.22)

According to kant faith has to do with practical reason but it must be conceded that even full commitment for action. Which is the soul of religion must be reasonable. Yes it is reasonable, but it cannot be clearly and distinctly stated as Cardinal Newman state In faith not a mind, but a person reasons and faith is the result of a global impression.

Faith is the product of whole man and naturally it cannot be analysed into clear and precise steps of cognition alone. This is what is known as the illative sense. However, a few characteristics of faith are below,

A. The object of faith in the religion is the ultimate concern of man or, what man considers to be his object of worship, devotion.
B. Faith cannot be reduced to ordinary or scientific knowledge
C. Faith means the whole man at work and means all pervasive attitude to the whole reality, society and his total or global relationship.
D. It is matter of a man's total self in evolvement and full commitment to a certain field of actions. Hence, faith is the response of the whole man to his whole lived reality.

Prof. Paul Schmidt has subdivided belief into four kind

(I) Rational belief (II) A rational (III)Irrational (IV) non rational

The teaching of lord Buddha and Jesus Christ comes under the rational beliefs.

Prof. Schmidt does not illustrate the irrational belief, but irrational belief may contain the postulates of religious belief for example, the doctrine of transmigration, the creatorship of God and so on.

Myths in religious belief come under this type of example, the virgin birth of Jesus, birth of Pandvas through gods etc. The myths are not superstitious, but they may be living or dead.

Non-rational belief does not require any evidence. The theory of Karl Barth according to which the truth of Christianity *is a gift of God.*

We can say that the function of faith is not to know so much, as it has to do with becoming of man. Through one's faith man wants to become the very deity whom he worships, or, whose teachings he wants to follow. A Christian wants to become Christ himself and a follower of Buddha aims at becoming Buddha itself.

Characteristics of faith-

1. The concept of faith is very unique and magnificent in Christianity. It possesses higher values. The higher values may be widespread sharing of the belief or the practical fruit fullness of it. It is quite evident that unless we regard something as very unique, very potential and superior we can have no trust in it.
2. The commitment is another very important feature of faith. We feel allegiance to feature of faith. We try to be loyal and attached to it in both in thought and action.
3. Sacrifice towards the object of faith is another vital feature, William James wrote about belief as something upon which we are prepare to act. This means that faith without action is like a tree without fruits, it is barren, sterile and stagnant. James (2:14-20)wrote in his letter- "what good is it, my brothers, if someone says he has faith but does not have work? Can that faith save him...? But someone will say, you have faith and I have works show me your faith apart from your works, and I will show you my faith but my works."
4. Self-surrender toward object of faith is necessary element. A person who has given up and forsaken his personal will and regards, make himself as an instrument for the realization of some supreme will can joyfully sacrifice anything and everything what he has. Faith is the source of inspiration and it plays great role in human's life.

Trust in unseen is one of the most striking feature of faith. As a matter of fact, no faith of any form religious or secular, is at all possible unless we have implicit trust in the efficiency and reality of invisible forces.

As a matter of fact, both in moral and intellectual sphere faith is simple unavoidable. No human or religious relationship can sustain without faith.

Thus we discovered the all-pervasive faith in human life and though it may not be contradictory to reason, yet it is not to be brought under reason.

As St. George Ist say, "if the work of God could be comprehended by reason, it would no longer wonderful, and faith would have no merit if reason provided proof" though faith and reason are not contradictory and, therefore a call to faith is not necessarily a call to abandon reason. Reason is always inferential. It is a passage from known to unknown. But faith is very different, faith is neither true nor false, but for a man nothing more true than his faith. But a faith unreasoned is not a faith but an illusion created by selfish people.

Now we will examine the concept of faith in Christianity. Faith in Christianity is not dogmatic but pragmatic. Within Christianity, faith is often considering in terms of believing God's promises, trusting his faithfulness and relying in god's character.

Christianity believes in the new Covenant, established between god and human beings, and in the doctrine of salvation by faith alone.

According to Christian tradition faith requires a belief in the resurrection of Jesus. Faithon the death of cross and resurrection is a proof to believe the god's plan for the redemption of mankind from the Adam's sin; and sins onward committed by human generation.

The precise understanding of the term faith differs among the various Christian traditions. Despite these differences, Christians agree that faith in Jesus lies at the core of the Christian tradition.

According to berk hof, 'faith is one step beyond religion'. In Christianity faith is considered a theological virtue.

According to Thomas Aquinas, faith is the act of the intellect assenting to a Divine truth owing to the movement of the will, which is itself moved by the grace of god. (St. Thomas II-II Q. IV, a.2)
Faith is a gift supernaturally bestowed upon the understanding.

Faith comes by listening the word of god.

In Christian theology faith is not only believing in a super natura,l but faith is a seed that is soon by the word of god and it flourish when we apply it in day to day life.

Faith as steadfastness in reasoned belief, C.S Lewis describe his experience of faith in his book 'mere Christianity'.

He describes faith in two sense, in first sense it is simple belief. In second sense it is the art of holding on to things your reason has onceaccepted.

Faith as a gift of God, Paul says, by grace you have been saved through faith. Christian faith has an implication in day to day life.

Jesus said if you have faith and do not doubt……. You can say to this mountain Go through yourself into the see and it will be done.

BIBLIOGRAPHY:

1. Douglas A. Campbell: The quest for Paul's gospel
2. Lewis, C.S (2001) mere Christianity. Harper SanFrancisco
3. Gregory, P.S: is Faith a Gift, A Study of Ephesians. Journal of the grace Evangelical Society Vol. 7:12 Spring 1994
4. Aquinas Thomas: summa Theologica II part of the II part
5. Hendrikus, berkhof: Christ and the Powers, Goodreds.com
6. Kant, E: Critique Of Pure Reason tr. By N.K Smith, Abridge edition page 22
7. New Testament: New International Version .

Environmental Protection and Islam: A Philosophical Analysis

Dr. Aamir Riyaz
Associate Professor
Aligarh Muslim University

Islam is an Arabic word which comes from the root word '*Salm*'which means peace, and from '*silm* 'which means submission. It means acquiring peace by submitting your will to the Almighty. So, the word Islam has dual meaningof submission and peace; and only when we submit to the will of Almighty, we can find peace, peace within us as individual, peace between man and man, peace between man and nature. When we submit our will to Almighty, then we understand that whatever we have,may it be our power, skill, knowledge and potential which are granted to us, are given by Almighty. Dr. Bilal Philips once said;

"Islam is not what Muslims do but what they are supposed to do."

I will again quote an Urdu couplet here;

Bhagwan ko sabhi ne karliyaapne naam
Mandir men raamraamkisi ne nahikiya,
Masjid namaziyon se khachakhachbharirahi
Sajda ba-ehteraamkisi ne nahikiya.

Islam is not only a religion of performing rituals but is a way of life, which are based on the following sources:

1. ***The Quran:*** The word 'Quran' is derived from the Arabic word 'Quarra' which means 'to read'. It is the divine communication and a revelation and is the first and most authentic source of Islam. It consists of 114 chapters and 6666 verses. Out of that nearly 260 of the total verses talk about environment and environment related issues.
2. ***The Sunnat and Ahadith (Traditions):*** Sunnat is the model behavior of the Prophet and the narration of what the Prophet said, did or tacitly allowed is called *Hadith*or Traditions. *The Quran*says;

   "Whatever the Prophet gives accept it and whatever he forbids abstain from it."(Surah Al-Hashr: Verse,07)

   It is further said in *The Quran;*

   "Obey *Allah* and obey the Prophets." (Surah Al-Imran: Verse, 32)

   This is further mentioned in SurahAl-Maida: Verse, 92, Surah An-Nur: Verse, 52 and Surah At-Taghabun: Verse, 12 of *The Quran.*
3. ***The Ijma* (Consensus of opinions):** Ijma is considered as one of the important sources in Islam but the authority of Ijma as a source of Islam is also founded on *The Quran* and the *Hadith.* It is defined as an agreement of the jurists among the followers of Prophet Mohammad in a particular age on a particular question of law.
4. ***The Qiyas* (Analogical deductions):** Qiyas means reasoning by analogy from the above three sources i.e. *The Quran*, the Sunnat and Ijma. In Qiyas, rules are deduced by the exercise of reason. Qiyas does not purport to create new law, but merely to apply old established principles to new circumstances.

There are three schools in Islam:
Sunni: Hanafi, Maliki, Safei and Hanbali.
Shia: Athna-Asharia, Ismailyas and Zaidyas.
Motazila: Almost extict.

Allah has honored human beings in many ways. Even the knowledge which human beings have is not shared by angels. Human beings have been made the master of those creatures and sustenance that are useful for them. As *Allah* says in *The Quran:*

"We have honored the sons of Adam; provided them with transport on land and sea; given them for sustenance out of good things of life, and favored them far above most of our creations." (Surah Al-Isra: Verse, 70)

In the universe everything is under the control of *Allah;* nothing stands by itself. But we find today that disruption in the environment threatens our control of it and we have startedthinking about the situation which we are facing today. The problem is that the conceptual construct which the modern world functions within is anti-environment. Today's society is just concentrating on economic progress and material gain and this takes precedence over everything else. We are trying to increase our standard of life and for that we have only one source from where we can extract i.e., Earth.

Environmentalists point out many destructive results of human science and its application in the modern world. There can be a very few people in the world today who are unaware of the problems related to environment and our eco-systemi.e., the greenhouse gas effect and the changing climatic patterns that could raise sea level, sub-merge low-lying land and reduce the world's habitat area. If it continues, it will mean the complete deforestation of the world within 40 years. As *Allah* says in *The Quran;*

> "Mischief has appeared on land and sea because of what the hands of men have done, the Almighty may give them a taste of some of their deeds, in order that they may return back." (Surah Ar-Rum: Verse, 41)

The Quran also shows the right way to interact with the environment. As long as people respect Almighty and the way He has set His creation in order, He will help them.

It is mentioned in *The Quran;*

> "Do not mischief on the earth after it has been set in order, but call on Him with fear and longing because mercy of Allah in near to those who do good." (Surah Al-Araf: Verse, 85)

The protection of the environment and environment related issues are one of the very important aspects of the Islam which is mentioned in *The Quran* and Hadith of the Prophet Mohammad. Islamic perspective on environment reflects a positive image about Islam and how it expresses every single matter the human beings face on earth. Being the supervisor of the earth, it is the duty of every human being to protect environment in a proactive manner. As it is mentioned in *The Quran;*

> "It is He (Almighty) who has appointed you (Mankind) as regent of this earth." (Surah Al-Furqan: Verse, 39)

Allah has a definite purpose behind the creation of different species i.e., plants, animals and human beings. To maintain the ecological balance and the relationship between living organism and their environment is the duty of every human being. It is an essential duty of every Muslim to protect the environment and to ensure the safe custody of the environment.

It is mentioned in *The Quran* that the attitude of every Muslim towards environment and natural resources is not only based on prohibition of over-exploitation but also on sustainable development. As *Allah* says in *The Quran;*

> "It is He who has appointed you viceroy on earth." (Surah Al-Baqarah: Verse, 30)

Allah further says in *The Quran;*

"O children of Adam! .....eat and drink, but do not waste, for Allah loves not the waster." (Surah Al-Araf: Verse, 31)

Regarding the protection of the environment *Allah* further says;

> "...And do not desire any mischief in the land. For, God loves not those who do mischief." (Surah Yunus: Verse, 77)

It is further mentioned in *The Quran;*

> "......So eat and drink of the sustenance provided by God. And do not evil or mischief on the earth, spreading corruption." (Surah Al-Baqarah: Verse, 60)

Water which covers around 71% of the earth surface is one of the most precious resources on the earth. We cannot imagine life on this earth without water. Water is a major issue of concern and said that water can be a major cause if the next world war happens. Water pollution is another issue which is of major concern. Water pollution is any chemical, biological or physical change in water quality that has a harmful effect on living organism or makes water unsuitable for desired uses. It has been suggested that it is the leading worldwide cause of deaths and diseases, and that for the deaths of more than 10,000 people daily.

I quote an Urdu couplet which shows the deteriorating condition of water;

Kuch sagaron men zahrhai, kuch men sharabhai
Ye mas'alahaipyas ka kaisebujhayen hum.
कुछसागरोंमेंज़हरहैकुछमेंशराबहै
येमसलाहैप्यासकाकैसेबुझाएहम

WHO report on drinking water shows that still around 1.4 billion people do not have access to safe drinking water in the world.Everyday around 9,300 people die because of water borne diseases. John F. Kennedy regarding the problem of water said;

"Anyone who can solve the problem of water will be worthy of two Noble Prizes-one for Peace and one for science."

Kofi Annan in 2001 said;

"Fierce competition for fresh water may well become a source of conflict and wars in future."

In *The Quran* the word 'water' occurs more than sixty times, 'rivers' more than 50 times and 'the sea' more than 40 times.

We find so many references of water in *The Quran.* As *Allah* says in *The Quran;*

"We made from water every living thing." (Surah Al-Anbiya: Verse, 30)

This verse of *The Quran* expresses most concisely the truth which is universally accepted by science. It has three-fold meaning;

1. Water and specifically the sea was the environment within which the prototype of all living matter originated;
2. Among all the innumerable liquid only water has the peculiar properties necessary for the emergence and development of life; and
3. The protoplasm which is the physical basis of every living cell including animals and plants, consist overwhelmingly of water.

Allah has mentioned the benefit of water in the following verse;

"We send down pure water from the sky, that we may thereby give life to a dead land and provide drink for what we have created; cattle and men in great numbers." (Surah Al-Furqan: Verse, 48-49)

The same concept is repeated in Surah Al-Baqarah: Verse, 164 and Surah Az-Zukhruf:Verse, 11 of *The Quran.*

The Quran provides practical method about the use of water and such a vital and valuable resource should not be monopolized by the powerful and privileged section of the society. Regarding the distribution of water, *The Quran* gives very clear guidelines. As *Allah* says in *The Quran;*

"Tell them that water is to be divided or distributed between them, with such share of water equitably apportioned." (Surah Al-Qamar: Verse, 28)

In addition to the prohibition on monopoly of water, there is the prohibition on excess and wastefulness in using water which is mentioned in Surah Araf:Verse, 31 of *The Quran;*

"Eat and drink but do not be excessive because Allah loves not the wasters."

The same concept is repeated at another place in *The Quran;*

"Do not squander (substance) wastefully, for the wasteful are the devils brother." (Al-Isra: Verse, 26)

To pollute water of seas and rivers is strictly prohibited in *The Quran* which comes under the category of sin or corruption.

As *Allah* mentioned in *The Quran;*

"Corruption does appear on land and sea because of (the evil) which men's hands have done." (Surah Fatir: Verse, 41)

Therefore, we can say that in Islam to conserve water, to use it sensibly, to keep it clean, is not only a social act butis considered an act of worship and charity.

Hadith:

There is a famous story told by the Muslims to protect the environment is the instruction given by the first caliph Abu Bakr to his army. In addition to instruct his army not to harm women, children and the infirm, he ordered them not to harm animals, destroy crops or cut down trees.

Prophet Mohammad (PBUH) taught his follower not to be extravagant, to protect plant and animal life and to worship Almighty by being merciful to the creation. I would like to share some*Hadith*of Prophet Mohammad which is an excellent indicator to reflect the Islamic faith as a relevant environmental movement. I quote from one *Hadith*';

"If a Muslim plant a tree or sows seeds, and then a bird, or a person or an animal eats from it, it is regarded as a charitable gift (*Sadqah*) for him." (Al-Bukhari, Book: 39, Vol. 3, Hadith: 513)

Prophet Mohammad further suggested people to plant a tree even if it is your last deed. As Prophet says;

"If the hour (the day of resurrection) is about to be established and one of you was holding a palm shoot, let him take the advantage of even one second before the hour is established to plant it." (Al-Bukhari, Book: 39, Vol. 3, Hadith: 545)

Islamic philosophy is against deforestation as it is evident from the following Hadith. Abdullah ibn Habashi reported that Prophet Mohammad said;

"Anyone who cuts a tree without any genuine reason or justification, Allah will send him to hellfire." (Al-Bukhari, Book: 39, Vol. 3, Hadith: 555)

The fourth Caliph Hazrat Ali very beautifully put forth the Islamic approach towards the use of natural resources when he said;

> "All human beings as well as animals and wildlife enjoy the right to share earth's resources. Man's abuse of any resources is prohibited as the juristic principle says; what leads to the prohibited is prohibited."[iii]

There are so many authentic traditions of Prophet Mohammad who guided everyone for the proper use and conservation of water. The whole book 40, Vol. 3 of Bukhari Sharif talks about the distribution of water and proper use of water. I quote one Hadith from this book.

Narrated Abu Huraira: The Prophet said, there are three types of men whom Allah will neither talk to, nor look at, on the day of Resurrection. They are;

1. A man who takes an oath falsely that he has been offered for his goods so much more than what he is given.
2. A man who takes a false oath after the Asr prayer in order to grab a Muslim's property.
3. A man who withholds his superfluous water.
   Allah will say to him, "Today I will withhold my grace from you as you withheld the superfluity of what you have not created."(Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 557)

As Prophet Mohammad said;

> "People are co-owner in three things; water, fire and pasture."(Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 548)

Prophet Mohammad further says that Allah does not look with favor upon those who do not share water with others, who do not use it properly. As it is mentioned;

Narrated Abu Huraira: The Prophet said, "There are three persons whom Allah will not look on the Day of Resurrection, nor will he purify them and theirs shall be a severe punishment. They are:

1. Aman who has surplus water and denies the use of it to a traveler.
2. A man who gave a pledge of allegiance to a ruler and he gave it only for worldly benefits. If the ruler gives him something, he gets satisfied, and if the ruler withholds something from him, he gets dissatisfied.
3. And man displayed his goods for sale after the Asr prayer and he said, 'By Allah, except whom none has the right to be worshipped, I have been given so much for my goods, and somebody believes him.(Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 547)

It is further mentioned;

Narrated Abu Huraira: The Prophet said,

> "Do not withhold the superfluous water, for that will prevent people from grazing their cattle." (Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 543)

He who withholds water in order to deny the use of pastures, Allah withholds from him His mercy on the day of resurrection."(Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 546)

The Prophet further said;

"Excess in the use of water is forbidden, even if you have the resources of a whole river." (Al-Bukhari, Book: 40, Vol. 3, Hadith: 549)

While concluding, I can say that Islamic principle as mentioned in *The Quran* and *Hadith*, if they are obeyed with firm determination would reduce the problems related to environment, if not removed completely. The responsibility is given to humanity as a whole, as a khalifa (successor), to care for His creation. So, it is the responsibility of each of us to use what little power we have to make things better, not worse.

References:

1. Abdullah Yusuf Ali: *The Holy Quran*, text, translation and commentary, Kitab Bhavan, New Delhi, 2006.
2. *AL-Bukhari*, Mohammad Mohsin khan (Tr.), Kitab Bhavan, New Delhi, 1987.
3. Maulana Mohammad Ali, *The Religion of Islam*, The Ahmadiya Anjuman Ishaat Islam, Lahore, 1973, p. 54.

The Nature of God and Human Destiny: An Appraisal of the Philosophy of Descartes and Yoga System

Rinki Mishra
Research Scholar (Ph.D.)
Department of Philosophy and Religion
BHU, Varanasi-221005

Abstract

The primary focus of this paper is to delineate how the realisation of God helps humans to attain their destiny. In monotheistic beliefs, God is typically seen as the Supreme Being, the creator, and the central figure of faith. The conventional conception of God includes eternal and necessary existence, along with omnipotent, omniscient, omnipresence, and omnibenevolent. According to orthodox systems, God's unity or oneness is also more than just a mathematical or logical notion. They have explored their view on God in the Ishvara theory and they have considered that Vedas are the ultimate source of the knowledge of God. More specifically in the yoga system, God is as consciousness or that consciousness leads to God. According to Patanjali, God is considered as VisheshaPurusha (Ishvara) who is unaffected by infirmity, deed, the result of an action, or the latent impressions thereof. For Descartes, God is a substance that is infinite, independent, omniscient, omnipotent, etc. According to his ontological argument, the essence of God is to be a Perfect Being. God exists so it is possible to conceive of God. The existence of God is considered the perfection of God. He says that it's a category of Primary Ideas that is the innate idea of God - the existence of God and the immortality of the soul are demonstrated. Both the Yoga system and Descartes embrace the idea that there is a God and that is Causa-Sui and we can unite with God through self-realisation and the development of our self-knowledge.

Keywords: *VisheshaPurusha, Innate Idea, Consciousness, Supreme Being, Perfect Being, etc.*

1. Introductory Remarks:

The observation of the study begins with this question what is man? It is a core philosophical inquiry or very much fundamental question of philosophy regarding man. It is the highest aim of philosophical inquirythat appeared to be the general acknowledgment of man and the self-knowledge of man. It means man can be understood with the acknowledgment of his or her self-knowledge. There are several views regarding man and the acknowledgment of man but in modern philosophy the inquiry about man best on certain philosophical principles more specifically theCartesian principle. The Cartesian principle is well routed in the advancement of psychological knowledge which functions as a method or tool to understand the notion of man and the destiny of man. Because, Cartesian principles basically determine the problem of human understanding and try to solve the problem on the basis of immediate awareness such as feelings, emotions, perceptions, thoughts, and experiences. Moreover, before Descartes, Aristotle declared that to define a man or to acknowledge man, knowledge and self-knowledge or conduct and the projection of action and reactions have to be accountable. Moreover, he argued that the basic tenet of man is to know something internally as well as externally. It is the highest characteristic of man because it signifies what man is. Before Aristotle, Plato argues that man is an intellectual, cultural, and socio-political conscious being. In terms of knowledge, man believes in double-fold worlds; the Ideal world, as well as the empirical world, are the sources of our knowledge. Moreover, about the nature of human knowledge, he has made the degrees of the forms and ideas both horizontal and vertical ways. If we go back to the philosophy of Plato regarding man or acknowledgment of man, we will notice certain paradigm shifts of philosophical inquiry - primitive cosmology to primitive anthropology which is based on the fundamental issue –of what man is. Sometimes we considered that it's a paradigm shift of mythological explanation to psychological explanation regarding the origin of man and the origin of the universe as well. Besides, it is also considered that the study of the origin of man and the universe are symmetrical in nature more often we perceive it in the fragrance of religion. Apart from this, it can be considered that man is a being builder of self-knowledge which is subject to curiosity, philosophical sagacity, and philosophical speculation. It's very fundamental to human attributions that man is a man who is the maker of good, the thinker of good, and the speaker of good. It is the moral obligation of man

which inculcated that it is the highest form of human life which is about "know thyself". That is stated by Kant in his critical principle of the categorical imperative. There is an important dictum which is declared by Socrates if we neglect or do not include probably all of the projections of our thoughts regarding the acknowledgment of man and the basic tenet of man will be disqualified or worthless. That is "an unexamined life is not worth living". The philosophical significance of this dictum is that a being who is called a man cannot be acknowledged without certain orientations such as moral orientation, social orientation, religious orientation, epistemic and metaphysical orientation, etc. In Yoga System, 'yoga' means the unification of mind, body, and Soul. It's considered a grand unification. So, it is known as the unificatory science which is based on the unitary method that is meant for self-integration. Before the Yoga system, in The Bhagavad Gita, there is an analogy that the chariot symbolizes the human, the horses represent the energies of the mind and Lord Krishna is the Soul who unites all these together and commands to act according to this unification. It signifies the journey of human life. Without this unification, the journey of life is not possible. It is also considered that through the process of this unificatory system, there is the possibility of the determination of human destiny. According to the Yoga system, the destiny of human beings is to attend Kaivalya. It is the perfect harmony among mind, body, and Soul. It is also considered that by whom this perfect harmony is possible s/he is a Yogi.

This paper has divided into some sections such as *The God and Man in the Philosophy of Descartes and Yoga system, The destiny of humans in Descartes's philosophy and the Yoga systemand Appraisal of the Philosophy of Descartes and Yoga System.* These are discussed as follows:

2. The God and Man in the Philosophy of Descartes and Yoga system:

From the East and the West, several eminent philosophers are very much interested in the study of God and Man. It has been discussed in the system of Yoga from the East but in the West Descartes has discussed it very critically. The philosophy of man is concerned with the origin of man, the meaning of man's nature, and the reality of man's existence. This study explores man to know the essence of man which makes man unique. Man is a social being who establishes their free will, self-reliance, self-esteem, and intellectual honesty in that (Descartes&Tweyman, 2002).According to Descartes, man has comprised a soul and a body. The body is a kind of machine that God has willed to form entirely to make it as similar to us as possible. For Descartes, man is not a man if the body and soul are not harmonious. The philosophical description of the man is something based on the nature of man that body and soul must have to be joined and united so as to constitute men resembling us.

i. Man = Body + Soul

Descartes believes that the soul is not free from rationality that is the rational soul that is principally located in our mind. Mind is pure immaterial in nature, it is just the function of the brain, brain is a kind of body. Moreover, the body is just a machine made of earth, which God forms with the explicit intention of making it as much as possible like us (Clarke, 2003). Thus He not only gives it's exterior the colors and shapes of all the parts of our body, but also places inside it all the parts needed to make it walk, eat, breathe, and imitate all those functions we have which can be imagined to proceed from matter and to depend solely on the disposition of our organs. The body is made by God. Descartes argues that the association of the soul to the body is very strong, which he believed to be mediated by the brain and nervous system. He was greatly influenced in his attempts to explain neural mechanisms by the engineering developments of the seventeenth century, particularly the hydraulic automata that had been installed at Versailles. Descartes did not invent the idea of hydraulic inflation as an explanation for muscle contraction, but he greatly elaborated it and developed a hydro-mechanical theory of how the soul controlled the contraction of muscle through the intermediary of the pineal and the cerebral ventricles; in parallel, he produced an explanation of how it received, through the nerves from the periphery, signals that gave rise to sensationDescartes, 2003).

According to the motor part of Descartes's theory, the shortening of muscle was brought about by the transfer into it of fluid ('animal spirits'), the bulk of which derived from the collapse of the antagonistic muscle as it lengthened. The transfer was primed by the injection of a small quantity of 'spirits' from the cerebral ventricle; the 'priming' fluid was switched into the correct pathway by the pineal. The resulting inflation caused the muscle to expand in width and shorten in length. Descartes was the first to point out specifically that, to bring about movement, the shortening of the agonist must be

accompanied by a simultaneous lengthening of the antagonist's muscle. This arrangement presupposes

Descartes's mechanism that was supposed to bring this about and shows the supposed valves to regulate the flow of spirits between the medial and lateral recti when the eye moves horizontally (Hasan, 2022). This diagram is one of the two based on Descartes's own sketches as opposed to being drawn post hoc according to someone else's understanding of his text. For example, If the fire is close to the foot, the little particles of the fire which, as you know move very rapidly, are able to move with them the skin of the foot that they touch and thus, pull the little thread c, c [the dotted line in the figure running up the body from the right foot] that you see attached to it, they immediately open the pores d, e at the end of the thread just as by pulling one end of a rope one instantly rings the bell hanging at the other end. Partly into those muscles that serve to pull the foot away from the fire, partly to those that turn the head and eyes to look at the fire, and partly to those that extend the hands and turn the body to protect itself. Here Descartes comes very close indeed to describing a set of reflex actions with their afferent limb (the thread), efferent limb (the hydraulic system to inflate, the muscles), and central mechanism (the pores in the cerebral ventricle and the actions of the pineal to direct the fluid to the correct muscle nerves). He then diverts to consider the senses before explaining 'more precisely how the spirits follow their paths through the pores in the brain and how these pores are arranged'. Although the motor 'inflation' hypothesis was quickly disproved, it would be more than two and a half centuries before better explanations of the physiology of the nervous system became available (Descartes, 2003).God regulates all natural things such as the sun, stars, planets, comets, moon, and earth; weight and light are discussed, and tides are explained by the movement of the earth. The treatise on man describes the human body as a machine and investigates the movement of the blood, animal spirits, the senses, hunger and thirst, digestion, and the brain and its functions. The account given by Descartes of the work in Part Five of the Discourse is therefore quite faithful, although the omission of the discussion of tides, which depended on the assumption that the earth moves, is to be noted; this is due to Descartes's reaction to the Galileo affair, which caused a crisis in Catholic Europe in the relations between the Church and the 'scientific' community(Descartes, 2008). Descartes argues that the crisis of spirituality is the cause of mind-body disharmony. So, the spiritual needs to attend heavenly joy or eternal life that is possible in this world only. It is based on faith that deals with orthodox religious and spiritual feelings which makes our life meaningful (Descartes, 1989).

The philosophy of Yoga deals with some of the greatest mysteries of life and the Universe and so it must inevitably be associated with an atmosphere of profound mystery. But much of the obscurity of Yogic literature is due, not to the intrinsic profundity of the subject, but to the lack of correlation between its teachings and the facts with which an ordinary educated man is expected to be familiar. If the doctrines of Yoga are studied in the light of both ancient and modern thought it is much easier for the student to understand and appreciate them. The discoveries made in the field of Science are especially helpful in enabling the student to understand certain facts of Yogic life, for there is a certain analogous relationship between the laws of higher life and life as it exists on the physical plane, a relationship which is hinted at in the well-known cult maxim 'As above, so below'. According to the philosophy of Yoga, the mind-body disharmonious relation can be solved through the process of yoga which is connected with our 'inner' life (Bryant, 2015). Yoga believes in god as the highest self-distinct from other-selves. Patanjali defines God as a special kind of Purusha, who is always free from pains, actions, effects, and impressions (Hartranft, 2003).

i. Man = Mind + Body + Soul

This particular notion of God, described in the Yoga Sutra, highlights three intrinsic characteristics: perfect freedom from and transcendence of all karmas and afflictions; the role of the primordial spiritual master, the eternal guide of all living beings; and omniscience, perfect knowledge of everything. These three characteristics clearly indicate where the interest of the yogis lies (Taimni, 1961). Yogis strive to attain freedom from the bondage of karma and afflictions, such as ignorance, ego, attachment, and the host of miseries—anger, hatred, jealousy, greed, and desire—that originate from these afflictions. The yogis realize that once we are caught in this apparently unending cycle of confusion, attachment, desire, and so on, our vision becomes clouded and it is hard to disentangle ourselves. Only one who was never entangled in the first place can help us free ourselves. Similarly, only one who is

already free can help guide us in attaining freedom from the long chain of karma and the fruits of karma (Taimni, 2014).According to yogis, the Supreme Purusha is very special; God is not bound like ordinary souls. Ordinary souls are those that experience a sense of incompleteness, lack of freedom, and lack of perfect knowledge, and thus have an inherent urge to be absorbed in God (Malhotra, (2017).

3. The destiny of humans in Descartes's philosophy and the Yoga system:

Descartes believes that a human being is a combination of mind and body but both interacts via the pineal gland. He argues that the pineal gland must be the uniting point because it is the only non-double organ in the brain, and double reports, as from two eyes, must have one place to merge(Descartes, Tweyman, 2002). Descartes reasoned that things that have an actual existence are eternal and necessary truths that are the product of God's free and wholly unconstrained activity. But it would also need to understand through the larger metaphysical system(Ariew, 2014).With regard to determining the destiny of human life, Descartes claims that the knowledge of God is not possible only through the process of senses or the realm of rationality. Because God does not exist in the limitation ofthe capacity of senses. The existence ofGod depends on its own existence what we call God is Causa-Sui (Descartes, 2015). We can use imagination to get to know ourselvesabout the existence of God. God is perfect to examine the universe in its entirety but we are not. Descartes reasoned that there is a possibility ofrecognizing God who is necessarily existent.The best way of knowing God is through our purely mental scrutiny that general perceptions are clearer than perceptions of particulars Even if the knowledge of color and taste and sound and heat are not in bodies in anything like the way that we imagine. Rather the knowledge about these is good by virtue of the fact that God wills them (Hasan, 2022).

In the philosophy of Yoga, it is very crucial to consider that the fate of free will is a complex system of good words, good thoughts, and good deeds. If a person can follow this process then there is the possibility to maintain life for a long time and meet God through the knowledge of yoga. The destiny of humans is in the hands of fate and free will, all that happens is God's will (Malhotra, 2017).This is a belief system that can function in two different ways; on the positive side, we can accept that there is the possibility of maintaining long life through the processes of yoga. While on the negative side thatleads to undue despondency. But, Yoga makes it balancewith both fate and free will, accepting life as it is and exerting effort to live a more sattvic life that harvests health, happiness, and enlightenment (Stern, 2019).

4. Appraisal of the Philosophy of Descartes and Yoga System:

Descartes reasons,God does not deceive human beings because God is perfect. Therefore, God leads humans to believe that the material world exists, it does exist. God allows us to know what is important to us.With regard to the attainment of knowledge of God, God plays a major role in Descartes's epistemology, God is not restricted to rational foundationalism but rather beyond it. Descartes in his Meditation has argued that God is so important to our acquisition of knowledge that even the certainty of geometrical demonstrations will depend upon the knowledge of God. The certainty and truth of every science depend exclusively upon the knowledge of the true God, to the extent that, prior to becoming aware of him (Descartes, 1989).According to Descartes, God, is existed there and we are capable to conceive God and nothing is possible is deprived of God. But God is not a deceiver. It is very crucial to conclude that everything that we clearly and distinctly perceive is necessarily true. Because it helps us to attend to the reasons leading us to judge this to be true. Consequently, Descartes' justification, with the pay of his philosophical methodology of rationalism and self-reliance about the knowledge of God is that God undeniably exists and it is sure that we are able to attain such certain knowledge (Descartes &Tweyman, 2002). Descartes claims that if there is no God, there is no possibility of certain and true knowledge. Because the role certainty and truth play in our lives, and in the acquisition of knowledge, is immensely important. We would like to submit our paper by arguing that for the attainment of knowledge of God, we must have to embrace the true belief of God and that must be our aim at truth. We hypothesize that if we hold this type of belief, there is a possibility to attain true and accurate knowledge which is considered that is unsustainable knowledge (Pecere, 2020).

The central guidance of yoga is to unite the mind, body, and soul. So, it keeps our mind healthy, body healthy, and spiritual life healthy as well. Moreover, it also helps us to improve our self-realization of God within us (Taimni, 1961).Because as human beings, we seek to attain our true Self and become completely free from worldly attachments. According to the Yoga system, there are several ways the

attainment of our true Self. But the right action, the right devotion, and the right knowledge are the important ones (Dasgupta, 1998). Though we are able to perform the above three exercises, it cannot be guaranteed that we can attain our true Selves without seeking balance among these triple processes (Malhotra, (2017). It is very crucial to consider that there is no divergence system among mind, body, and, soul in the Yoga system (Stern, E. (2019).

5. Concluding remarks:

It is very important to ripen the conclusion from the above analysis that according to Descartes's epistemology, God's role in our lives is more vivacious than the existence of God. Nevertheless, Descartes' prognostication of God cannot be subtracted from our lives; on the contrary, Descartes attempts to prove the existence of God and to establish that only God can guarantee certain and true knowledge. He argues that concerning the existence of God and the role God plays in the acquisition of certain knowledge. Though Descartes's argument for the existence of God and the role of God plays a major role in the attainment of knowledge is not free from doubt. But still, it is important to acknowledge Descartes' projection of knowledge of God that is based on certain proper methods. Similarly, the Yoga system provides certain techniques to remove our ignorance around us to attain tranquility, spiritual knowledge, and self-awareness which are the essential and central objectives of a sincere societal being of this world.

References

1. Alanen, L. (2009). *Descartes's concept of mind*. Harvard University Press.
2. Antoine-Mahut, D., &Gaukroger, S. (2017). *Descartes' treatise on man and its reception*. Springer.
3. Ariew, R. (2014). *Descartes and the first cartesians*. Oxford University Press, USA.
4. Bryant, E. F. (2015). *The yoga sutras of Patañjali: A new edition, translation, and commentary*. North Point Press.
5. Clarke, D. (2003). *Descartes's theory of mind*. OUP Oxford.
6. Dasgupta, S. (1998). *Yoga as philosophy and religion*. MotilalBanarsidassPublishe.
7. Davis, R. E. (1995). *Life surrendered in god: The philosophy and practices of Kriya yoga*. Csa Press.
8. Descartes, R. (1989). *Passions of the soul*. Hackett Publishing.
9. Descartes, R. (2003). *Treatise of man*. Great Minds.
10. Descartes, R. (2015). *The passions of the soul and other late philosophical writings*. Oxford University Press.
11. Descartes, R., &Tweyman, S. (2002). *Meditations on first philosophy*. Academic Resources Corp.
12. Fowler, C. (2012). *Descartes on the human soul: Philosophy and the demands of Christian doctrine*. Springer Science & Business Media.
13. Goetz, S., & Taliaferro, C. (2011). *A brief history of the soul*. John Wiley & Sons.
14. Hasan R. (2022). *A Brief History of the Ideas of Western Philosophy: Sensations, Necessity, Knowledge, and God*. Independently published.
15. Harris, J. F. (2017). *The ascent of man: A philosophy of human nature*. Routledge.
16. Hartranft, C. (2003). *The yoga-sutra of Patanjali: A new translation with commentary*. Shambhala.

An Analysis of *Dharma* in Classical Indian Philosophy

Pragya Ghosh
Research Scholar
University of Delhi

Abstract

The term "*Dharma*" is abstruse due to the many interpretations related to its meaning and concept in classical philosophy. Scholars belonging to the classical age have described *Dharma* in numerous ways- faith in God, revelation of the divine will, recognition of the quality of an object, eternal, one of the *puruṣārthas*and understanding the laws of the cosmos. Although, there has been a gradual change in the interpretation of *dharma* with time and in present times, the word is rendered as duty, code of conduct, religion, customary observance of morality, etc. On one hand, *Dharma* is that which brings joy both in life and thereafter according to the *Vaiśeṣikas*, on the other hand, Jainism believes that it is conterminous with the mundane universe, therefore, the term *astikāya* has been designated to it. The term has been understood and treated in different manner in different schools of Indian Philosophy. Hence, this paper is a tentative attempt to foster the various meanings of the term *Dharma* used in different schools of Indian Philosophy which will help us to establish a relationship between the various definitions of the term and the different intentions by which it was used.

Keywords : Dharma, Revelation, Indian Philosophy, Order.

Dharma in Indian Philosophy : It has been observed that the term "*Dharma*" is used in every philosophical concept but with a different meaning, purpose, function and application. The term can be said abstruse or enigmatic due to the various interpretations related to its meaning and concept in classical as well as contemporary Indian Philosophy. On one hand, *dharma* is that which brings joy both in life and thereafter according to the *Vaiśeṣikas*, on the other hand, for Gandhi *dharma* should be understood as the quality of soul. *Jainism* believes that it is conterminous with the mundane universe, therefore, the term *astikāya* has been designated to it. Also, which leads beings out of the world's woes and holds them fast in the highest bliss.

Unlike the classical age, in contemporary times, *dharma* is not just associated with social forms of human life but also with human values. The various usages of the word *dharma* belong to the Hindu tradition which in itself is very complex. Dharma is regarded as eternal and revealing the divine will. According to *Cāṇakyanīti* 8.17, "*Dharmiohitesamadhikoviśeṣo*" i.e., *Dharma* is the differentiating character of man from all other animals.

In Sanskrit, the term *dharma* is derived from the root *dhṛ*, which means to hold, bear, support or to nourish. In fact, *dharma* is one of those Sanskrit words that defy all attempts at an exact rendering into English or any other language. It has been translated contextually by the different systems and thoughts of philosophy. The word *dharma* is to be found in the vocabularies of most of the communities like *Jainas*, *Bauddhas*, *Śāktas*, *Śaivites*, *Vaiṣṇavites* and the orthodox schools of Indian Philosophy, though, not with the same meaning. Scholars belonging to the classical age have described dharma in numerous ways like faith in God, revelation of the divine will, recognition of the quality of an object, eternal, one of the *puruṣārthas*, understanding the laws of the cosmos (*Ṛta*), etc. Although, there has been a gradual change in the interpretation of this term with time. In present times, the word is variously rendered as duty, code of conduct, ethics, religion, law, custom, virtue, customary observance of morality, piety, equity, justice, nature, character and characteristic quality. But what is that core meaning or underlying principle of *dharma* on which all other interpretations are laid? To answer this question, this paper has been divided into two parts- the interpretation of *dharma* in classical texts and the significance of *dharma* to some contemporary thinkers.

The real significance of *dharma* lies in the profound Vedic perception of man's existence as a rational being who harmonizes the different purposes of life to be realized here and hereafter. The whole concept of *dharma* thus seems to be based on the Vedic ideal of *ṛta* (cosmic order) and *ṛṇa* (the debts one is supposed to repay) and seems to be the particularization at the human level of the ethical order

prevailing in the universe. From the conceptual point of view, *dharma* simply refers to the word "law" in the Vedic tradition and it is called *Ṛta*, and is therefore, the forerunner of the concept of *dharma*. As mentioned in the *Ṛgveda*, II, 2.3.17, "*Dharmoviśvasyajagataḥpratiṣṭhā*", it is considered as the highest metaphysical truth (*satyam*). It is the foundation of rationale of all that happens in the moral and physical aspects of cosmos. It imparts order and harmony in nature due to its spiritual characteristic. In *Upaniṣads*, the other term used for *Ṛta* is *dharma*. There is nothing higher than dharma "*Dharmātparamnāsti*" (*Bṛhadāraṇyaka-Upaniṣad* 1.4.14). In the *Chāndogyopaniṣad* (2.23), it is described in terms of three features, viz., sacrifice, study and charity. Here dharma showcases the peculiar duties assigned to different *āśrams*. Every individual in this universe is alleged to repay the debt they owe from individuals as well as nature. This is the concept of *Ṛṇa* which has been further equated with *dharma*. Since the cosmic order and social order is preserved by human effort, hence, every individual is obligatory to contribute towards the proper maintenance of this order. Performance of *dharma* is, therefore, the form in which the contribution of an individual is made towards the sustenance of the social, natural and cosmic orders. *Ṛta* is the logical concept underlying *dharma*. *Ṛṇa* represents the obligation of man to make his life conform to *dharma* and *ṛta*.

The four *puruṣārthas* i.e., *Dharma, Artha, Kāma and Mokṣa*, constitutes the moral standards of life. *Dharma* is not only a regulating principle of *Artha, Kāma* and *Mokṣa*, but is a constant end in itself. Before the *Dharmaśāstras*, there was a society in the Vedic and pre-Vedic days in which well-founded customs were prevalent in regulating the individual and society. Hence, dharma is not only liberal but it urges the person to pursue the highest scheme of *puruṣārtha, mokṣa*. *Dharma* in preponderance is constitutive of *mokṣa*. Dharma is the commencement and cultivation of *mokṣa*, and *mokṣa* is the commencement and consummation of *dharma*. Both involve self-transcendence.

The *Dharmaśāstras*, the treatise dealing with *dharma*, do not provide a particular view on the topic. Rather, they provide a framework for orthopraxis which partly explains the things as they are and lays down what they ought to be. Thus, the concept stands for various privileges, duties, obligations and normative behavior. Dharma, as enunciated in the *Dharmaśāstras*, is the comprehensive umbrella term denoting all moral laws, ethics, codes of conduct and religious acts. It also asserts without any elaboration, that dharma just like the Vedas are timeless and eternal.

The concept of dharma has been understood in two distinct ways in Indian tradition. First, it has been understood as an order, a social order, that goes with the concept of *varṇa* or social stratification which meant a simple social structure i.e., *varṇa-dharma*. Secondly, it has been understood as a moral order, which owes its allegiance to the former since social order is not possible to be attained without the moral order. This is called *sādhāraṇa-dharma*. In the six systems of Indian Philosophy, the topic has been taken up for extensive discussion and dharma has been explained variedly as an action, unseen merit, quality, etc. After the advent of Christianity and Islam in India, the word dharma developed new connotations of faith of a race and got a new appellation called "Hindu *dharma*". Hinduism may not be taken as a religion in the strict sense of the term as it may go against the very definition of the term 'religion', which has to be founded on certain stipulations since the time of its origin. The question arises whether we can take religion and *dharma* as interchangeably? Religion and *dharma* have narrower as well as liberal usages. It is in this wide application of term, religion or dharma, that the beginnings of religious zeal and fervour can be marked. Functionally, religion in its application to the various areas of life gets increasingly narrower and confined to other-worldly celestial realm and its concerns. It would not be unreasonable to see *dharma* and religion as placed within a range having for its nodes, description and prescription. *Dharma* shares many a semantic space with religion but differs from it in not being exclusive. And just as it differs from religion in not being exclusive, it also differs from ideology in possessing a transcendental dimension as well.

Buddhists have two important expressions: *dharmacakrapravartana*, *dhammamśaraṇamgacchāmi*. In both these expressions, dharma refers to the four noble truths. These four noble truths indicate the things as they are. *Jainas* talk about *anantadharmīvastu* which again has an ontological connotation but within a human context, for the famous seven-fold assertions about the reality. Both these connotations are nearer to a very old concept of dharma as being "the support or basis of all that there is" as traceable to the Epics and *Purāṇas*. In this sense, dharma has both ethical and

ontological import. *Dharma* as used in the phrases *dharmaśāstra, svadharma, sāmānya dharma or āpad-dharma* has mainly to do with what one ought to do. Thus, in a broad characterization *dharma* refers on the one hand to reality or its character, or its basis or support in some sense, and to action or desirable action on the other.

In Jainism, the word *dharma* is used to refer the following: religion, *Dharmāstikāyā* as a *dravya* (the principle of motion), the true meaning of a thing and the ten virtues i.e., supreme forgiveness, supreme humility, supreme straightforwardness, supreme truthfulness, supreme purity, supreme self-restraint, supreme penance, supreme renunciation, supreme non-possessiveness and supreme celibacy, also called as ten forms of dharma.

For Mīmāṃsakas, dharma is an action "*yāgādirevadharmaḥ*". Through the intermediacy of the unseen potency (*apūrva*) it yields its fruit. According to the Naiyāyikās, dharma is a quality that is present in the self. For other schools, *dharma* is neither a quality nor an action. It is through meritorious deeds that one accumulates *dharma* and it is instrumental in getting the desired result which is either attainment of something good or avoidance of some evil. The Arthaśāstra enumerates *dharma* as six-fold: *ahiṃsā, satya, śauca, anasūyā, anṛśaṃsya* and *kṣamā*. Jaimini defines dharma as the object of injunction. In the Vaiśeṣika school, *dharma* is defined as that from which results happiness, i.e., prosperity and liberation. In the Manusmṛti, that which is practiced by the learned who lead a moral life free from hatred and partiality is called as *dharma*. In the commentary on the Yogasūtra, Vyāsa defines dharma as the universal goodwill. Therefore, we see that the normative aspect of dharma has a universal implication in the sense that it regards other's interests in the society without harming one's own interests. In the Mahābhārata, we come across the concept of *dharma* as being in the mind and one should do good to all. Thus, *dharma* represents the moral order of the universe which is meant for providing a sustainable society. It implies an order which has an existence above the ordinary human requirements. Though there are many kinds of *dharma*, they all, in different ways, involve the notion of regulation and are therefore, basically rules of action. Hence, the normative ordering of anything is said to be *dharma*.

According to the *Sāṅkhya*, dharma is a function of the mind which is a product of the evolution of *prakṛti*. That being so, the self (*puruṣa*) disparate from *prakṛti* and its evolutes, is absolutely unaffected by dharma (merit) as well as its opposite (*adharma*). These two are only significant in the empirical life of theself but cannot be said to belong to the self in any manner whatsoever.

But the *Nyāya- Vaiśeṣikas* hold that *dharma* and *adharma*, although they cannot affect the transcendental self in any manner whatsoever, belong, not to the mind, but to the self itself in its empirical aspect. While the self in its transcendental life in situated in a supermodel plane and so is free from both *dharma* and *adharma*, in its empirical life it forms part of the moral order and is determined by righteousness and unrighteousness. Since *dharma* and *adharma*, according to the viewpoint of *Nyāya-Vaiśeṣikas*, the qualities of the selling its empirical aspect, they cannot be said to have any objective implication, but must be only subjectively significant. Merit and demerit must then belong, not to acts themselves, but to their intention (*abhisandhi*). It is pertinent to note that the *Sāṅkhya*is in agreement with the *Nyāya- Vaiśeṣikas* in holding the view that *dharma* and *adharma* are purely subjectively significant, but with this difference that, while according to the latter these two belong to the self in its empirical aspect, in the view of the former, they are exclusively the function of the mind.

The Buddhists also advocate the subjectivity view of *dharma* and *adharma* by stating that these two are the dispositions (*vāsanā*)of the mental continuum (*citta*) which are subject to elimination on the transcendental level. Since they are dispositions of the mind, they are not, as according to the *Sāṅkhya* they are, temporary functions of the mind. On the contrary, they are enduring traits or tendencies of the mind. Although, the *Sāṅkhya*, the *Nyāya- Vaiśeṣikas* and the Buddhists agree among themselves in holding the view that righteousness and unrighteousness are subjective concepts and have only an empirical significance, their employment being confined within the limits of empirical life. But this is opposed by *Mīmāṃsakas* according to whom, *dharma* and *adharma* are objective and external. For them, dharma is not a quality or a function or a disposition, but is an object (artha) sanctioned by scriptural prescriptions (*codanā*).

Conclusion

The correct interpretation of the concept of *dharma* in its various implications is the key to an adequate understanding and appreciation of the entire tradition of classical as well as contemporary Indian Philosophy. The different senses of the word *dharma* appear to be divergent but there's a common principle underlying all these different senses. This principle involves the ideas of uniformity, spirituality and truth of life. *Dharma* in its widest and correct significance implies the attributes or qualities, which indicate inseparable connections between causes and their effects. In Indian tradition, the two most widely used terms are *dharma* and *karma*. If *karma* is the material foundation, *dharma* provides the form of human life. In modern times, *dharma* is not just associated with social forms of human life but also with human values.

All aspects of human life are bound by *dharma*. In Vedic age, precedence was given to *dharma* over morality, because of the belief that morality springs from *dharma*. But in modern times, *dharma* is treated as a dynamic force of life, because liberalism, secularism, and globalization are believed to be the principal adherents of human life. It can be considered that *dharma* transforms human beings to "humane beings" since *dharma* guides us to be righteous. Dharma is the truth of life.

It can be seen that in classical texts, *dharma* was regarded as eternal and a property of divine will. This view has been refuted in modern times as it is now considered as a quality of soul and personal will. Though, the accurate exercise of dharma can transcend us from limited individual consciousness to universal God consciousness.

The classical treatise must be interpreted as per the needs of the society. Even the accepted *śāstras* of the past cannot be accepted, if it contradicts the present. Thus, one should be a part of this changing society and contribute to its growth and progress. In whichever ways *dharma* have been interpreted in the scriptures and by the various systems of philosophy cannot be denied but there's always a chance to transform and accept new conceptions according to the time period. Although, the only commonality found in each system and thinker is that *dharma* is that which holds together the people of the universe. *Dharma* if destroyed destroys everything, *dharma* if protected protects everything (*dharma evahatohantidharmorakṣatirakṣataḥ*). Thus, *dharma* being a quality of soul, must be at its best, a way of living life wisely and righteously and a quality of attaining wisdom about living by and through both the act of living and the practice of carefully reflecting on that lived experience.

Bibliography

1. Kane, P.V. History of Dharmasatra. Pune: Bhandarkar Oriental Research Institute, 2006.
2. Lal, Basant Kumar. Contemporary Indian Philosophy. New Delhi: MotilalBanarsidass Publication, 1978.
3. Prasad, R. "The Theory of Purusarthas: Revaluation and Reconstruction." Journal of Indian Philosophy 9 (1981): 57-59.
4. Vohra, Ashok. Dharma: The Categorical Imperative. New Delhi: D.K. Printworld, 2005.
5. Jain, Champat Rai. The Practical Dharma. Allahabad: The Indian Press, 1929.
6. Jois, M. Rama. Dharma: The Global Ethic. Mumbai BharatiyaVidyaBhavan, 1997.

"ETHICS OF THE MIDDLE WAY: COMPARING THERAVĀDA BUDDHISM AND ARISTOTLE"

Dr Mahak Uppal
Assistant Professor
Hindu College
Delhi

INTRODUCTION

The word "ethics' has been derived from the Greekword "ethos", meaning 'character'. Ethics is a normative science deals with the rules guiding our conduct and behavior, and tells us what kind of behavioral dispositions are considered to be moral or praiseworthy, and why. There are many ways of replying to the ethical question of "how we ought to act?" And onesuch way is to say that one must live a life of moderation, i.e.onemust always follow the middle path in whatever one does. This idea of living a life of moderation lies at the very foundation of the ethical theories proposed by the Buddha as well as Aristotle.

Through the present paper I will try to compare the middle way philosophy (*majjhimāpa—ipadā*) of early Buddhism, as presented in and through the *DīghaNikāya*, with the Aristotelian notion of 'mean'or 'moderation' as presented in the Nicomachean ethics.

I will begin my paper by giving an account of the Buddhist theory of *majjhimāpa—ipadā*which was proposed as the middle way between the two extremes of sensual indulgence and self-mortification. In this section I will also try to show how this particular construal of the middle way is a central idea that underlies most of the Buddhist teachings.

The next section will elaborate upon Aristotle's idea of 'virtue as mean' between two extreme dispositions or vices, as proposed by him in the Nicomachean ethics. Here I would like to point out that though Aristotle has given a detailed account of several virtues, but I will restrict my enquiry to his discussion of the virtue of "temperance", which according to him is the virtue in relation to our behavior towards things that are considered to be *pleasurable*. I impose this restriction primarily because of the *apparent* similarities between Aristotle's discussion of temperance and the Buddhist ideal of *majjhimāpa—ipadā*.

Finally,in a bid to see whether the ethical theory of moderation proposed by the Buddhist and the Aristotelian schools of thought are actually similar or not, I will conclude the paper by highlighting the points of convergence and divergence between the two approaches.

THE MIDDLE WAY ETHICS OF BUDDHISM

The *dīghanikāya* is collection of the short length discourses delivered by the Buddha. It is an early Buddhist text and belongs to the *suttapitaka* of the *pāli* cannon.It is primarily an ethical text which, through the various discourses, tells what one ought to do and how one ought to act.

The central teachings of Buddhism are compiled under the Four Noble Truths. In the *mahāsathipaṭṭhānasutta*,the Buddha is shown to have delivered a discourse on what the four noble truthsconsist in.

The Buddha says that the first noble truth is that "There is suffering" (*dukkha*). Here the Buddha explains that "birth is suffering, ageing is suffering, death is suffering, sorrow, lamentation, pain, sadness and distress are suffering. Being attached to the unloved is suffering, not getting what one wants is suffering. In short the five aggregates of grasping are suffering."[1]

The second noble truth mentioned by the Buddha is that "There is a cause of suffering" (*dukkhasamudaya*). In the *mahānidānasutta* the Buddha discusses the 12 linked chain of dependent origination (*paṭicca-samuppāda*) which shows how suffering comes into being. The twelve links of the causal cycle are as follows:

1. Ignorance(*avijjā*)

[1]Maurice Walshe, Trans., *Digha Nikaya: The Long Discourses of the Buddha* (Boston: Wisdom Publications, 1987). mahāsathipaṭṭhāna sutta, p.344.

2. Karma-formation(*sankhārā*)
3. Consciousness(*viññāṇa*)
4. Mind and body(*nāmarūpa*)
5. Six sense bases(*saḷāyatana*)
6. Contact(*phasso*)
7. Feeling(*vedanā*)
8. Craving(*tanhā*)
9. Clinging(*upādāna*)
10. Becoming(*bhava*)
11. Birth(*jāti*)
12. Ageing and death(*jarā- maraṇam*)[2]

According to this chain of conditioned arising, ageing and death are conditioned by birth, birth by becoming, becoming by clinging, clinging by craving, craving by feeling, feeling by contact, contact by the six sense bases, the six sense bases by mind and body, mind and body by consciousness, consciousness by the karma formations and the karma formations are conditioned by ignorance. The chain is such that if the conditioning cause is removed then the subsequent effect will also cease to follow. So if there is no ignorance then no karma formations will follow and so on.

In the*mahāsathipaṭṭhāna sutta,* the Buddha had explained that sensual craving is bound up with pleasure and lust. It is such that it establishes itself wherever there is anything agreeable and pleasurable in this world. All the five senses and the sense contact generated thereof in the form of "sights, sounds, smells, tastes, tangibles, mind objects in the world are agreeable and pleasurable, and there this craving arises and establishes itself."[3]It needs tobe noted here that even the thinking and pondering about the six sense bases leads to craving. And craving, of any kind, is such that it gives rise to rebirth and suffering. So, if there is absolutely no craving for the sights, sounds, smells, tastes tangibles and mind objects then no clinging and thereby no suffering would have occurred.

The third noble truth is that "There is cessation of suffering" (*dukkhanirodha*). Regarding the third noble truth, the Buddha says that it consists in "the complete fading-away and extinction of this craving, its forsaking and abandonment, liberation from it detachment from it."[4]Here the Buddha explains that the complete cessation of suffering is possible only when we completely detach ourselves from all those objects that cause and prolong craving.

The fourth noble truth is that "There is a path leading to the cessation of suffering" (*dukkhanirodhagāminīpaṭipadā*). The Buddha had prescribed a path, following which one can put an end to suffering; this path is called the noble eight fold path (*ariyaaṭṭhangikamagga*).The components of the eight fold path are:

1. Right view (*sammā-diṭṭhi*)which refers to the knowledge regarding suffering; the origin of suffering; the cessation of suffering and the path leading to the cessation of suffering.
2. Right thought(*sammā-sankappa*)which refers to the thought of renunciation; non ill-will and homelessness.
3. Right speech(*sammā-vācā*)it includes refraining from lying; slandering; harsh speech and frivolous speech.
4. Right action(*sammā-kammanta*)which includes refraining from taking life; taking what is not given and sexual misconduct
5. Right livelihood(*sammā- ājīva*)it refers to the giving up of the wrong livelihood and living by the right livelihood.
6. Right effort(*sammā- vāyāma*)
7. Right mindfulness(*sammā- sati*)

[2] Digha Nikaya, p.34-35.

[3]Ibid, mahāsathipaṭṭhāna sutta, p. 346.

[4] Ibid, p. 347.

8. Right concentration(*sammā-samādhi*)[5]

All these components can be further classified under the following subheadings:

1. Morality (*sīla*) which includes steps 3-5.
2. Concentration (*samādhi*) which includes steps 6-8.
3. Wisdom (*paññā*) which includes steps 1-2.

Thus we see that practicing morality, concentration and wisdom all are equally important componentsof the path that leads to the cessation of suffering. In the *mahāparinibbānasutta* the Buddha hasclarified that there is an important relationship between them. The Buddha thus explains that "Concentration when imbued with morality, brings great fruit and profit. Wisdom when imbued with concentration, brings great fruit and profit. The mind imbued with wisdom becomes completely free from corruptions, that is free from the corruption of sensuality, of becoming, of false views and of ignorance."[6]Thus we see that all the three components are interrelated and interdependent.

This noble eight fold path is also called the "middle way" (*majjhimāpa—ipadā)*. Throughout his teachings the Buddha had emphasized upon the idea that one should avoid the two extremes of indulging in the pleasures of the senses on the one hand and tormenting oneself on the other hand. Instead of leaning towards any of the two extremes,one should follow a middle path, which is also the way that will ensure the cessation of suffering and the attainment of *nibbana*.

The Buddha had himself experienced both the extremes (a life dedicated to the indulgenceof the senses as well as a life of extreme asceticism and self-torture) and it was only after realizing the insufficiency and futility of both these extremes that the Buddha had proposed a life of moderation which is achievable by avoiding them.

Most of the discourses mentioned in the *dīghanikāya*are aimed at highlighting the dangers, degradations and corruptions associated with sense desires, along with the profits related to the life of homelessness, self-restraint, detachment and renunciation of and from the things that cause desire and attachment.

In the *tevijjasutta* The Buddha had explained that there are 5 strands of sense desires, which include, "forms seen by the eye which are agreeable, loved, charming, attractive, pleasurable, arousing desire. Sounds heard by the ear...; smells smelt by the nose...; tastes savored by the tongue...; contacts felt by the body which are agreeable... arousing desire." And catering to the desires of the senses ultimately causes suffering.[7]

In the *sāmaññaphalasutta* the Buddha had explained that the first thing that the monk should do in order to remain detached from the sense pleasures is to guard the sense doors. For this the Buddha advises the monk not to grasp the "major signs and secondary characteristics" of any object that is either seen, heard , smelt, tasted, touched, or thought of. The Buddha explains that one should follow such a strict regimen with regard to the objects that come in contact with our senses because otherwise one would be overwhelmed by greed, sorrow and other evil unskilled states.And a monk who is able to exercise such self-restraint experiences blameless bliss.[8]

It needs to be noted here that the Buddha does not denounce all forms extreme ascetic practices. In the *mahāsīhanādasutta*, while talking to the naked ascetic *Kassapa*, the Buddha explained that neither does he completely condemn and disapprove all forms of austerities, nor does he completely blame all those who live a harsh life of self-mortification and self-torture. However the Buddha clarified that unless the monk "develops non-enmity, non-ill-will and a heart full of loving kindness and abandoning the corruptions, realizes and dwells in the uncorrupted deliverance of mind, the deliverance through wisdom, having realized it in this very life by his own insight", he will not be considered to be a Brahmin or an ascetic, and his austere way of life will not be regarded as being proper.[9]

---

[5] mahāli sutta, p. 146; mahāsīhanāda sutta, p.152; mahasattipathana sutta, p.348-350.

[6] mahāparinibbāna sutta, p.234.

[7] tevijja sutta 13, p.191.

[8] sāmaññaphala sutta, p. 100.

[9] mahāsīhanāda sutta, p. 154.

However all activities that cater to the desires of the senses are deeply condemned and have to be avoided at any cost. One is advised by the Buddha not to fall prey to these desires because they bind one to the continuous cycle of birth and rebirth and therefore lead to suffering. If we look at the chain of dependent origination then we would notice that the six sense bases are the conditions that lead to sense-object contact thereby causing feeling, attachment and craving. Being a part of the cycle of dependent origination all these conditions together, cause and perpetuate suffering.But, the root of the teachings of Buddhism is to put an end to suffering and to attain *nibbāna*. And therefore one is advised by the Buddha not to get entangled in the cycle of desire, attachment, craving etc. simply because it will lead to more and more suffering.

Moreover, in the *mahāpadānasutta* the Buddha had explained that indulgence in the senses, since it leads to pleasurable feelings, is so intoxicating that it prevents the individual from grasping the true nature of things. An individual who is caught up in the vicious cycle of desire and craving does not realize that the pleasant feelings that he is experiencing are impermanent and conditioned, that they too arise depending on some causal conditions, as a result of which they are bound to decay, vanish and fade away. Hinting at this very idea the Buddha had said, "For those who take delight in and cling and revel in it, the conditioned nature of things or dependent origination is hard to see."[10]

On the other hand, one is not even advised to not to engage in practices of self- torture because of the very same reason i.e. these harsh practices too cause pain and therefore make the practitioner suffer. Moreover, out of his own personal experience the Buddha had realized that a healthy body is a necessary prerequisite for striving on the path of *nibbāna*. And therefore he did not approve of the harsh practices of self-torment, because they make the body weak and prone to disease.

The hence mentioned ideal of the middle way is the central theme that runs across all the teachings of Buddhism which ultimately prescribe a life of self-restraint against the sensual indulgences. For example, refraining from sexual immorality and avoiding a life of un-chastity is one of the five moral precepts prescribed by the Buddha. The other precepts also seem to be based on the idea of avoiding things and actions that cater to the desires of the senses. The five precepts can thus be summarized as follows:

1. Refraining from taking life;
2. Taking what is not given;
3. Sexual immorality;
4. Lying speech;
5. Sloth producing drugs.[11]

In the *sāmaññaphala sutta* the Buddha had enumerated the various 'fetters' that prove to be hindrances in the cessation of suffering. The five fetters thus mentioned by the Buddha are as follows:Worldly desires; Ill will and hatred; Sloth and torpor; Worry and flurry and Doubt. All these fetters are such that they envelop, cover and hide the actual nature of reality from us.[12]Here also we notice that there is a constant emphasis on overcoming the sensual desires and cravings caused thereby.

Even their discussion of the various meditative states or *jhānas*, by practicing which the perceptions and sense faculties can be controlled, also seem to addresses the same concerns of living a life of self-control and self- restraint.

In the *poṭṭhapādasutta* the Buddha, elaborating upon the importance of exercising control over the activity of our senses, explains that it is only after detaching himself from the unwholesome states and sense desires that the monk is able to enter into the first *jhāna*.

The first *jhana*, or meditative state is marked by delight and joy and that is born of detachment from sense desires and unwholesome states.The subsequent stages are marked by a complete detachment from the feelings of pleasure and pain, gladness or sadness etc. After reaching the fourth and the final stage the monk exhibits mindfulness, equanimity and pure bliss.[13]

---

[10] mahāpadāna sutta, p.213.

[11] kūṭadanta sutta, p. 140; brahmajāla sutta, p. 68-71.

[12] tevijja sutta p. 191.

[13] sāmaññaphala sutta, p.102-103.

A discussion of the abovementioned teachings of Buddhism shows that the main concern and aim of all these teachings has been the complete cessation and eradication of suffering, an aim that gets best exemplified in their ethical ideal of following a middle way between sensual indulgence and self-mortification.

ARISTOTLE'S 'GOLDEN' MEAN

'Ethics' for Aristotle was a practical science that was concerned with the rules that govern actions and help in building up a good character.His three major ethical treatises are 'The Nicomachean Ethics', 'The Eudaimean Ethics' and 'Magna Moralia'. Aristotle, throughout his ethical writings, was mainly concerned with giving a detailed account of all those qualities that are required by a person in order to lead 'a good life' i.e.'a life of happiness.'

Aristotle held the view that 'Happiness'isthe highest good that can be achieved through human action. Being the 'supreme good', happiness is such that individuals aim at it for its own sake and not for the sake of anything else. It is an end in itself and not merely a means to an end. Moreover it also has the capacityof making life "desirable and lacking in nothing".And therefore happiness is considered to be something that is both final and self-sufficient.[14] Aristotle believed happiness to be "a form of activity,"[15]which consists in cultivating a virtuous disposition.

'Virtue' is described by Aristotle as "a settled disposition of the mind determining the choice of actions and emotions consisting essentially in the observance of the mean relative to us."[16]Virtue is therefore,"a mean state between two vices, one of excess and the other of defect."[17]

Aristotle mentions two types of virtues. They areintellectual virtues (such as wisdom, intelligence, prudence etc.)and moral virtues (such as courage, temperance, liberality etc.). The moral virtues include those dispositions for which a man is praised or blamed as either being moral or immoral.[18]These moral virtues are such that they are not given to us by nature; rather they are said to be the products of habit, and therefore they have to be cultivated through a constant effortand practice.[19]Aristotle's ethical theory has these moral virtues as their subject matter.

Moral virtues— being concerned with emotions, feelings and actions— allowus to have a disposition with regard to our feelings, emotions and actions, which is either excessive or deficient or moderate. Aristotle therefore talks about three dispositions, namely two vices (one which lies toward the excess and the other that lies towards the deficiency in an action) and one virtue (which consists in the observance of the mean between the two extremes).[20]Aristotle further explains,

> "one can be frightened or bold, feel desire or anger or pity, and experience pleasure and pain in general, either too much or too little, and in both cases wrongly; whereas to feel these feelings at the right time, on the right occasion, towards the right people, for the right purpose, and in the right manner is to feel the best amount of them, which is the mean amount– and the best amount is of course the mark of virtue."[21]

---

[14]Aristotle, *The Nicomachean Ethics*, Trans. Harris Rackham (Hertfordshire: Wordsworth Editions Limited, 1996), Book I, p.13.

[15] Ibid. p.18.
[16] Book II, p.41.
[17] Ibid.
[18] Book I, p.24.
[19] BookII, p.33.
[20] Ibid, p.45.
[21] Ibid, p.40.

For Aristotle, these moral virtues were intrinsically associated with the feelings of pleasure and pain for he believed that,"pleasure and pain provide the standards by which we regulate our actions. Feeling pleasure or pain in the right or the wrong manner has a great effect on our conduct"[22]

Now, pleasure and pain are such that at times pleasure might compel us to do base actions whereas pain may lead us to abstain from noble actions.Regarding these feelings of pain and pleasure Aristotle wrote,

"Men are corrupted through pleasures and pains that is, either by pursuing or avoiding the wrong pleasures and pains, or by pursuing or avoiding them at the wrong time, or in the wrong manner, or in one or the other way under which errors of conduct can be logically classified".[23]

Moral virtue, therefore for him was the "quality of acting in the best way in relation to pleasures and pains"[24]

Before beginning with book II of Nicomachean ethics, Aristotle had given a table of the various vices and virtues.[25] Some of them are as follows:

CLASS OF ACTION	EXCESS	MEAN	DEFICIENCY
Fear and confidence	Rashness	Courage	Cowardice
Pleasure and pain	Profligacy	Temperance	Insensitivity
Anger	Irascibility	Gentleness	Spiritless ness
Giving and getting small amounts of money	Prodigality	Liberality	Meanness
Giving and getting large amounts of money	Vulgarity	Magnificence	Paltriness
Shame	Bashfulness	Modesty	Shamelessness

Among these virtues, "Temperance" is said to be a virtue which consists in the observance of the mean in relation to the pleasures of the body i.e. those pleasures which humans have in common with the lower animals, such as the pleasures of touch and taste.[26]It lies between the two extremes of profligacy and insensitivity.Aristotle explains that a person who indulges in all the pleasures without refraining from any of them turns out to be a profligate. Profligacy is an excess in relation to bodily pleasures and is blameworthy. On the other hand, a person who shuns all pleasures is considered to be insensitive.[27]Here Aristotle adds that, "a man is temperate if he abstains from bodily pleasures and finds this abstinence itself enjoyable, profligate if he feels it irksome."[28]

The temperate man, according to Aristotle "takes no pleasure at all in the things that the profligate enjoys the most, on the contrary he positively dislikes them; nor in general does he find pleasure in wrong things, nor excessive pleasures in anything of this sort; nor does he feel pain or desire when they are lacking, or only in a moderate degree, nor more than is right, nor at the wrong time."[29]

Aristotle makes an interesting point regarding insensitivity, he writes, "as far as pleasures are concerned, the men who err on the side of deficiency and take less than a proper amount of enjoyment in pleasures, scarcely occur; since insensibility is not human". He also add that "if there be a creature that finds nothing pleasant and sees no difference between one thing and another, it must be very far removed from humanity"[30]

[22] Ibid , p.37.
[23] Ibid, p.36.
[24] Ibid.
[25]Aristotle, p. 32.
[26]Book III p.73.
[27]Book II, p.35.
[28] Ibid, p.36.
[29]Book III, p.75.
[30]Ibid.

Aristotle has even gives us a method for attaining the mean.Firstly, one is told to avoid that extreme which is comparatively more opposed to the mean, leaning towards which is comparatively more erroneous. Secondly, one is advised to be aware about those errors towards which one is more prone, once we have identified them then we must drag ourselves in the opposite direction, away from those errors. Finally, one is advised to be on a constant guard against what appeals to us as being pleasant; for "when pleasure is on her trial we are not impartial judges"[31]

These being the precautions that one should observe in order to cultivate a virtuous disposition, Aristotle still notes that even though "it is the middle disposition in each department of conduct that is to be praised, but that one should lean sometimes on the side of excess and sometimes to that of deficiency, since this is the easiest way of hitting the mean and the right course."[32]

POINTS OF DISTINCTION

At the first instance the Buddhist middle way and Aristotle's mean appear to be quite similar, because for both the thinkers the idea of a good life seems to be identical with the idea of observing a moderate attitude in all spheres of life. But my view is that this similarity is merely superficial. Once we go into the details of the ethical theories of moderation proposed by both these thinkers respectively, we realize that there are many more differences than there are similarities.

Firstly it needs to be noted that the noble eight fold path prescribed by the Buddha was not addresses to the ordinary householders rather it was meant for the monks and nuns who had given up the household life for a life of homelessness, whereasAristotlewasaddressing all the people of the 'polis', irrespective of their occupation or particular station in life.

Aristotle's theory seems to be more practical and accommodative in comparison to the Buddhist theory which seems to be more rigorous. The Buddha proposed a way of living which consisted in a complete detachment and abstention from sense pleasures. But, Aristotle observes that completely refraining from the activity of the senses and the feelings generated thereof might not be possible for any individual.

He had explained that 'insensibility' or the tendency to be completely detached from the activity of the senses is a vicious disposition and a tendency which is not human.

The Buddha proposed the middle way as a monistic *rule*which is to be followed in all situations by all monks and nuns. They have to refrain from sensual desires,no matter what.But Aristotle's mean was a methodological principle, which was a way of determining the right course of action in a given situation. There was no fixed mean. Mean was always *relative* to each individual and each situation and each individual was allowed to discover the mean relative to himself.

In Buddhism one is told to refrain and avoid the two extremes. But Aristotle's method allows us to sway towards both the extremes and to gradually hit the mean thereby cultivating a moderate disposition in each situation, through constant practice and effort.

The Buddhist theory of the middle way was limited to the two extremes of sensual indulgence and self-mortification. But Aristotle's theory was more extensive and included a vast class of actions and feelings which range from our attitudes towards fear, confidence, pleasure, pain, anger, giving and taking money, honor, dishonors and other social relations. Aristotle' mean was not limited to our attitude towards pleasures.

For the Buddha, the middle way or the eight fold path was merely a means for the attainment of the end i.e. the complete cessation of suffering and the attainment of nibbāna.But for Aristotle, a virtuous life or a life of happiness was an end in itself. It was equated with the supreme good, which was to be aimed at for its own sake and not for the sake of something else.

The presence of so many differences shows that probably the similarities between the two approaches is merely superficial. They are much more different than they appear to be.

BIBLIOGRAPHY

[31] Book II, p.46-47.

[32] Ibid, p.46.

BIBLIOGRAPHY

1. Aristotle. *The Nicomachean Ethics*. Translated by Harris Rackham. Hertfordshire: Wordsworth Editions Limited, 1996.
2. Walshe, Maurice. Trans. *Dīgha Nikāya: The Long Discourses of the Buddha*. Boston: Wisdom Publications, 1987.

Metaphysical Doctrines of the Tṛka or AdvaitaŚaiva Philosophy of Kashmir

Saurabh Rawat
Ph.D. Scholar
University of Delhi

Abstract : Tṛka philosophy of Kashmir is popularly known as Kashmir Śaiva philosophy, due to its place of origin and the contribution of native Kashmiri scholars in its development. Several Śaivāgamas originated in Kashmir valley, which expounded the Śaiva philosophical systems. The literature produced by Kashmiri Śaiva scholars holds a prominent place in the spectrum of Indian philosophy. Śiva-Sutra, Spanda-Kārikā, Īśvara- Pratryabhijñā,Vijñānbhairavtantra, etc. are some key scriptures that shaped the Kashmir Śaiva philosophy. They introduced the fundamental doctrines, esoteric principles, and methodologies to the system. The Upāyas to realize the Ultimate reality; Śambhavopāya, Śaktopāya, and Āṇvopāya are mentioned in Śiva-Sutra. One hundred twelve Dhāraṇas are mentioned in Vijñānbhairavtantra to attain Supreme consciousness. Other than this, a collection of gross and subtle elements are also enumerated as thirty-six key elements to facilitate the manifestation of the universe. To comprehend these concepts, one must form a clear understanding of fundamentallyestablished elements by the Tṛka philosophical system. In this paper, a few doctrines of Kashmir Śaiva philosophy have been introduced to build a foundation for epistemological intersections. These doctrines ascertain the metaphysical aspect of Kashmir Śaiva philosophy along with its scope and objective.

Key words: Śiva, Śakti, Tattva, Advaita, Sutra.

Methodology: Historical and Analytical

Tṛka philosophy was named after the monistic philosophy of Tryambaka that evolved in the valley of Kashmir. Later. It was known by multiple names; Tṛka, Tṛka-Śāstra, Tṛka-Śasana, Rahasya-Sampradāya, and Tryambaka-Sampradāya.[33] It also signifies the tripartite nature of reality i.e. Śiva, Śakti and Aṇu. It belongs to the monistic school of Śaiva philosophy wherein ParamŚiva is considered as Supreme reality. The goal of the individual seeker is to raise the state of consciousness and dissolve into the Supreme reality. ParamŚiva vibrates (spanda) inward and outward out of its freewill (Svātantrya) to constitute Śiva and Śakti. Śiva being the transcendental aspect and Śakti being the eminent aspect of ParamŚiva, evolves into the creation of existence.

Out of multiple doctrines of Tṛka philosophy, a few of them would be discussed briefly to form an understanding of theŚaiva tradition. These metaphysical doctrines exhibit the fundamental ground of Śaiva philosophy and establish a substratum for the epistemological structure to follow. For any Śaiva scholar or disciple, the knowledge of these doctrines is a pre-requisite. Let us have a brief overview of some metaphysical doctrines of the Tṛka or AdvaitaŚaiva Philosophy of Kashmir;

Ātman – The true and innermost self of every individual is considered a change-less reality. A purely experiencing principle is the nature of this unchanging reality. 'Caitanya-Ātmā' – first sutra mentioned in Śiva-Sutra,[34] signifies the etymological explanation behind an individual's real nature i.e. Caitanya (ParamŚiva) + Ātman (Individual). The individual is always empowered with Caitanya (supreme reality). It is the underline principle of not only the experience but everything else in the universe. Wherein, the individual represents merely unchanging experiencing principle of that ultimate reality.

ParamŚiva – The underlying reality, which is undivided, unlimited, eternal, and infinite is called ParamŚiva in Tṛka philosophy. It is all-pervading andall-transcending at the same time. This is possible due to its twofold nature[35] –

a) Immanent aspect (Viśvomaya) – pervades the universe (manifested)
b) Transcendental aspect (Viśvottirna) – beyond the manifested universe (unmanifested)

[33] Jagadish Chandra Chatterji, *Kashmir Shaivaism* (New York: State University of New York Press, 1962), 1-2.
[34] Shiv sutra
[35] JaidevaSingh, *Vijnanabhairava or Divine consciousness: a treasury of 112 types of Yoga* (Delhi: MotilalBanarsidass Publ., 1979), 25.

Hence, the expanded universe with its forms, objects, means and experience is nothing other than the manifestation of the immanent aspect of ParamŚiva itself. The whole universe is manifested bythe Śakti aspect of ParamŚiva. Although Śakti has infinite aspects but most fundamental ones are;[36]

1. Cit-Śakti – Pure light of intelligence that reveals its own existence.
2. Ānanda-Śakti – The power to realize absolute bliss.
3. Icchā-Śakti – The willpower, power to desire and grow.
4. Jñāna-Śakti – The power of all-knowing, omniscience.
5. Kriyā-Śakti – The power to create anything, all-powerful.

With the help of these fundamental Śaktis, ParamŚiva performs several functions;[37]

1. Sṛṣṭi – Manifestation of the universe.
2. Sthiti – Maintenance of the universe.
3. Saṁhāra - The process of withdrawing (dissolution).
4. Vilaya or Pidhāna – To cover the real nature of Jīvātman.
5. Anugraha – Grace. Nothing can happen without Śiva's grace.

Hence, in reality, the universe is an 'expression' of the Śakti aspect of ParamŚiva. Through which it participates and pervades the universe while remaining transcendental as Śiva at the same time. Śiva remains Caitanya asa transcendental unchanging principle, unaffected by the manifestation of the world. This transcendental reality includes the supreme experience of perfection. It transcends the supreme ideal universe holding in itself the unmanifested idea of the universe.ParamŚiva holds the universe as an unmanifested conceived reality, which can only be experienced universally. As per Śiva-Sutra, five fundamental principles of purest subjectivity are also known as universal experiences;[38]

ŚivaTattva–I-(Being) – This is the first creative movement of ParamŚiva. The origination of being takes place at this stage but it cannot be discerned properly. Here, Śakti is present in an unmanifested form. Just like the pure light of intelligence (cit) without anything to shine upon, there is no feeling or form. It is pure 'I' without the feeling of 'I-am' because the feeling of 'am' implies a relation. Hence, it is the first movement of consciousness that is purely subjective. At this stage, the formation of 'I' doesn't take place. Just the creative movement is realized. Thus ŚivaTattva is the first stage in the process of universal manifestation wherein the 'Cit' aspect of Śakti is manifested.

ŚaktiTattva – I-ness – Śaktitattva being the energy of Śiva, differentiates consciousness into aham and idam i.e. 'I' and 'This'- Subject and Object. Śiva and Śakti are same. They do not existseparately or differently from each other. The creative aspect of Śiva is Śakti and the intent of Śakti is Śiva. In other words, the manifestation of Śivatattva is possible due to Śaktitattva. It provides a form to Śivatattva by dissecting the pure consciousness into 'I' and 'This'. During this, Śiva and Śaktitattva remain united to each other. It is not wrong to conclude that Śiva-Śaktitattvas are manifested together. It is the manifestation of the Ānand aspect of the Śakti, which represents the supreme blissful nature of ParamŚiva.

SadāŚivaTattva – I-ness in This-ness–At this stage, the experience of 'I am this' originates but the 'This' remains unclear. 'I' becomes the predominant side of consciousness by manifesting 'ābhāsa' as the first manifestation. The consciousness becomes perceptible to itself, wherein both the subject and object arenothing but consciousness. The universal experience arises out of the 'will' i.e. Icchā, to affirm 'This-ness'. The gradual development of an experience formulated in the thought as 'I am' takes place in SadāŚivaTattva.Icchā aspect of divine Śakti manifests a state of self-realization (Being), where one realizes as a being with a will that can act. At this stage, ParamŚiva forgets everything about itself and starts to formulate 'I am so and so'. Hence, the dissection between 'I' and 'This' strengthen even further.

ĪśwarTattva – This-ness in I-ness– ĪśwarTattva defines 'Thiss-ness' as a universal manifestation. In this stage, the divine experiencer with a will to act is followed by a more prominent experience of 'This' i.e. idam-bhava. 'This-ness' provides the context to the background of the Being. 'I' identifies itself with everything other than 'I' by associating 'This' with 'I'. In the previous stage, the 'I' aspect dominates the

---

[36]K. C. Pandey, *Outline on History of Śaiva Philosophy* (Delhi: MotilalBanarsidass Publication, 1986), 78.

[37]G.V. Tagare, *Saivism: Some Glimpses* (Delhi: D.K. Print, 1996), 47.

[38]JaidevaSingh,*Shiva Sutras: The Yoga of Supreme Identity*(Delhi: MotilalBanarsidass Publications, 1979), 22.

experience that leads to self-realization, in this stage, the 'This' aspect dominates the experience and leads to realization of the other as 'I'. Here, 'I' remains in the background, surveying outwards for identification. It is the manifestation ofthe Jñāna aspect of Śakti, which represents the omniscient nature of ParamŚiva.

ŚuddhavidyāTattva – I-ness in I-ness, This-ness in This-ness–In ŚuddhavidyāTattva, equalization in the prominence of the two aspects takes place i.e. 'I' and 'This'. Both these aspects of the Universal experience are realized with equal clarity. Both of them are identified with each other and can be separated in thought so that 'I' can be realized as the subject and 'This' as the object of experience. The object of experience can be identified as mine and also inthe context of the degree of association (Am-ness) i.e. my body, my mind etc. Here, the sense of acquisition can be felt clearly through identification, which creates the experience concerning things. At this stage, KriyaŚakti operates to manifest the active nature of ParamŚiva.

When a seeker raises his/her consciousness, he/she moves upward through these stages and experiences pure subjectivity. 'In Śuddha-Vidyā, the realization keeps on moving which means the individual keeps on realizing it and forgetting it with time. The realization that 'I am Śiva' and the 'universe is unreal' is manifested at Śuddha-Vidyātattva but it does not remain steady within the individual. It can be considered as a first impression of pure subjectivity.Then subjectivity arrives at the next stage with Īśwartattva and Sadāśivatattva. Firstly, Īśwartattva reveals that 'this universe is one's own expansion as extended reality, it is not an illusion as suggested by some schools of philosophy but an extension of one's own reality.' At this tattva, the individual enters into the state of pure shared subjectivity between himself and the universe. It is considered pure shared subjectivity because the individual starts to detach objectivity from the universe and starts to manifest it as his own extended self. The next stage, Sadāśivatattva is not so majorly different than Īśwartattva, apart from the intensity of subjectivity. In other words, one can say the realization becomes more refined at Sadāśivatattva. Whereas Īśwartattva reveals that the 'Universe is one's own expansion', Sadāśivatattva reveals that 'I am the universe'. We observe that the realization becomes purer and purer with each passing stage. At Sadāśivatattva, it becomes so purer that the duality between 'I' and 'the universe' starts to dissolve'[39]

In the final stage, 'the two tattvas 'Śakti and Śiva' represent the purest form of subjectivity. These are interdependent tattvas, where an individual's realization goes beyond the purer subjectivity and achieves the purest subjectivity. 'These two tattvas reveal only 'I' i.e. pure and universal 'I'. From 'this universe is my expansion' and 'I am the universe' it raises to just 'I'.'[40]Lastly, 'it reaches that 'Being' that does not form a part of these stages but is present in all of them, it is 'ParamaŚiva'. It is found everywhere, from lowest to highest tattvas. Therefore, there is no level for 'ParamaŚiva'. It is present everywhere that is why it is nowhere. The one Being, who is everywhere, it is nowhere.'[41]

These metaphysical doctrines of the Tṛka or AdvaitaŚaiva Philosophy of Kashmir form the foundation of the system. Based on the brief analysis of each tattva belonging to universal pure subjectivity, we come to know about the manifestation of the universe. Also, the participation of Supreme consciousness into the manifested universe as an all-pervading being. Every stage of manifestation is dominated by fundamental aspects of Śakti, which facilitates the expansion of consciousness into the universe. The representation of philosophical concepts like duality, non-duality, subjectivity, objectivity, etc. is also exhibited by the Kashmir Śaiva tradition. This paper dealt with the origin of the universe and the stages of manifestation prescribed by Tṛka philosophy. Although several doctrines are enumerated in Śaivāgamic scriptures, out of those we have mentioned a few metaphysical doctrines that are quintessential in establishing the foundation of Tṛka or AdvaitaŚaiva Philosophy of Kashmir.

---

[39]Swami LakshmanJoo, *Kashmir Shaivism: The Secret Supreme* (New York: The Universal Shaiva Trust, 1988),8.
[40]JaidevaSingh,*Shiva Sutras: The Yoga of Supreme Identity*(Delhi: MotilalBanarsidass Publications, 1979), 22.
[41]SwamiLakshmanJoo, *Kashmir Shaivism: The Secret Supreme* (New York: The Universal Shaiva Trust, 1988), 9.

ŚAIVITE PHILOSOPHYAS AN INDISPENSABLE PRINCIPLE OF *SAṄGĪTA*

Monidipa Ghosh
Ph.D.Research Scholar
Department of Philosophy
University of Delhi

Abstract:

Music is an art form deeply intertwined with philosophy; it can be declared as a treasury of metaphysics along with artistry. This paper intends to explore the close relationship between *Śaivism* as a tradition, *Śaiva* Philosophy, and music, particularly in the authoritative text of music named *Saṅgīta Ratnākara*.This seminal work is an exemplar ofthe extensive significance of *Śaivite* philosophy in Indian music.It seems*Śaivism*is an absolutely essential principle in *Hindustānī saṅgīta*. In this text, although, we do find a synthesis of both the main traditions of Indian Philosophy, namely, *Nigamic* and *Āgamic* traditions in *Saṅgīta Ratnākara*. Nevertheless, it is quite clearly intelligible that various concepts of *Kaśmīra Śaivism* and *Śaiva Siddhānta*such as eulogizing *Śiva*, using *pañca Māhābhūta-s* as the substratum of the human body and its relation to music, etc.are extensively exhibited and prominent in the text. Consequently, it can be argued that *Śaivism* as an ideal and its philosophy pervades the entirety of the theory of Indian music, without which music theory would be inconceivable and would be impossible to explain.

Keywords: Philosophy of Music, *Saṅgīta Ratnākara, KaśmīraŚaivism,Śaiva Siddhānta, Śārṅgadeva*

Introduction:

Music is revered to be an art form that gratifies Gods and as for humans, it is a form of art that is abeautiful spring of aesthetic pleasure and an equally significant way to attain liberation. There are many fascinating associations betweenLord *Śiva* and music as discussed by scholars and musicologists. Since Lord *Śiva* has a huge significance in music, so it is inevitable that He must also have a profound connection with sound itself.The iconography of Lord *Śiva* has a profound meaning and relation to sound and musicology. The crescent moon on his forehead "is an external sign of *Śiva*'s internal consciousness, a sign that His consciousness is full of *Nāda*, and that if you worship Him your mind can be filled with *Nāda* too, which will enable you to follow that sound back to *anusvāra* and *Bindu*, to the source of the sound. One of the Sanskrit words for bull-go-also means both 'sound' and 'sense organ.' This indicates that Lord *Śiva* 'rides' His senses-He permits them to function but controls their movements perfectly and that He moves with the help of *Nāda*."[42]Moreover, not only is Lord*Śiva* revered and worshipped as the source of sound and music; in addition to that the *Śaiva* Philosophy has a substantial impact on music theory.

One of the finest and most influential texts on music named *Saṅgīta Ratnākara* which is often translated into 'Ocean of Music' is a compendium of both, Indian Classical Music and Dance was written by *Śārṅgadeva* in the 13th century. *Śārṅgadeva*emphasized the dynamic nature of music and dance, his orientation wastowards the practical aspects of music rather than on ancient theories; though he explains them very eloquently. As for *Śārṅgadeva*, the term *saṅgīta*meant a trinity of vocal music, dance, and instrumental music. But further down the line, the term came to be known as music in general. This paper also uses the term in its modern-general sense. In this mammoth work, *Śārṅgadeva* has devoted seven chapters to discussing the theoretical and practical aspects of all three elaborately; it is one of the most revered and authoritative texts in the field of aesthetics, especially in music.The seven chapters of the text are:*Svaragatādhyāya* which deliberates on the sound system and the genesis of the human body along with*nāda*and itsmanifestation in the body; *Rāgavivekādhyāya* pertains to *rāga, jāti, bhaṣāṅga-s, kriyāṅga-s, upaṅga-s*(some essential theories of *saṅgīta*), etc.,the*Prakīrṇakādhyāya*deals with the performing practices, the*Prabandhādhyāya*deliberates on the compositions and poetic meter,

[42] Robert E. Svoboda, "Music" in *Aghora II: Kuṇḍalinī*, (Brotherhood of Life, Inc., 1995), 190.

*Tālādhyāya*explains various *tāla-s* and it's theories, the*Vādyādhyāya* is the descriptions of musical instruments and lastly, the*Nartanādhyāya*deals with dance- it's theory and practice.

In this paper, I put forth the observations of the analysis of one of the chief texts of Indian music, *Saṅgīta Ratnākara*. While analyzingwe find that almost all essential elements and foundations in *saṅgīta* are expounded or somehow related to*Śaivism*. The term *Śaivism* encompasses a wide range of philosophies, to narrow down the scope of the study, it is essential to first get ourselves acquainted with the various schools of *Śaiva* Philosophy and further, identify the schools which were of the strongest influence on*Śārṅgadeva*.

There are four broad philosophical schools of *Śaivism*, namely, *Paśupata*, *KaśmīraŚaivism*, *Vīra Śaivism* and *Śaiva Siddhānta*.It isfairly evident that *Śaiva Āgamas* had a great deal of influence on *Śārṅgadeva*asone finds that*Śārṅgadeva*has borrowed quite a few philosophical tenets of*KaśmīraŚaivism*and *Śaiva Siddhānta*to explicate his theories.*KaśmīraŚaivism*or *Trika Śāstra* is so called because it is a threefold philosophy of- *Śiva*, *Śakti* and *Nara*, of energies *parā*(highest), *aparā*(lowest)and *parāpara* (combination of the two). This system is comprised of three broad sub-systems:*Āgama*,*Pratyabhijñā*,and *Spanda*. It is a non-dualistic philosophical tradition.*Śaiva Siddhānta*or *Āgamanta*is a philosophical system developed and popularized by Tamil *Śaivites*. It isa conglomeration of the philosophies of*ŚaivaĀgamas*, *Upaniṣads*, fourteen*SiddhāntaŚāstra-s*,andtwelve*Tirumurai-s*.It is dualistic philosophy and affirms pluralistic realism. Thus, *Śārṅgadeva* synthesizes both, the monistic and pluralistic realism philosophies in this work.

Śaivism as a Tradition:

In Indian tradition, it is customary to offer one's reverence and worship to the *Iṣṭadeva*before beginning an auspicious work and for its successful completion and fulfillment. Since *Śārṅgadeva* devotes all the propitiatory (*Maṅgalācāraṇa)* verses to*Śiva* in this work,it is clear that his *Iṣṭadeva*isLord *Śiva*. The first *Maṅgalācāraṇa*of the text defines*Nādantu*(having a body made of sound)*Śiva*:

ब्रम्हग्रन्थिजमारूतानुगतिनाचितेनहृत्पंकजे,सूरीणामनुरन्जकःश्रुतिपदंयोऽयंस्वयंराजते।

यस्माद्ग्रामविभागवर्णरचनाऽलंकारजातिक्रमो,वन्देनादतनुंतमुद्धुरजगद्गीतंमुदेशंकरम् ।।(SR, 1.1.1)

As he uses the *Samāsokti Alaṅkāra* (figure of speech)in his work, the *Maṅgalācāraṇa* can be interpreted in two ways, i.e., one pertaining to musicand another obviouslyglorifying*Śiva*.He uses the word '*Śaṅkara*', another name ofLord*Śiva*and describes himas having his body made of sound or *Nāda*, the primordial sound. The Lordis further described as the source of *grāma-s*. Now, these *grāma-s*can be interpreted in two ways viz. the *Āgamic* cosmological planes: theseven planes of high consciousness-*Bhū-loka* (earthplane), *Bhuvar-loka* (atmosphere plane), *Svara-loka* (celestial plane), *Mahar-loka* (angelic plane or *Deva-loka*),*Jana-loka*(creative plane),*Tapa-loka*(austerity plane) and *Satya-loka*(the plane of reality)and *Naraloka*, theseven hellish plane of lower consciousness- *Atala-loka / Put*, *Vitala-loka / Avīchi*, *Sutala-loka / Saṃhāta*, *Talātala-loka / Tāmisra*, *Mahātala-loka / Ṛijīsha*, *Rasātala-loka / Kuḍmala*, *Pātāla-loka / Kākola*. Another meaning could be pertaining to music, i.e., *grāma-s* in terms of musicology which is a group of *svara-s*, the three *grāma-s* accepted are: *ṣaḍja grāma*, *madhyama grāma*and *gāndhāra grāma*.

As we move further in the *Śloka*, Lord *Śiva*is described to be the source of *Varṇa* and *Jāti*. *Varṇa*is implied as the division of society: *Brāhmaṇa*, *Kṣatriya*, *Vaiśya* and *Śūdra* and in the musical context, it implies the tonal movements such as *Sthāyi*, *Ārohī*, *Avrohī* and *Sañcarī*.*Jāti*pertains to animal kingdom species; in *saṅgīta*, it refers to the archetypes of *rāga-s*.The words *svayaṃ rājate*is used to describe *Śiva*as the one who is self-manifest, which insinuates the "etymological definition of *svara*, i.e., the sound that is perceptible and delightful by itself."[43]. He manifests in the heart-lotus (*Hṛtpaṅkaja*) which is also known as the *anāhata cakra*in the *Kuṇḍalinī*system. He manifests as *aumkāra* or *praṇava nāda*in *Bramhagranthi*, with the assistance of the mind combined with the movement of *prāṇa*.The heart area.also has a significant value in musicology due to it being considered the area of voice production of lower pitch.

[43]Śārṅgadeva,*Saṅgīta RatnākaraofŚārṅgadeva*,trans. R.K. Shringy (New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. 1999), 3.

Apart from these, the first verse, in third section, of the *Svaragatādhyāya*glorifies *nāda* as:

चैतन्यं सर्वभूतानांविवृतंजगदात्मना ।नादब्रह्मतदानंदमद्वितीयमुपास्महे ।।

नादोपासनयादेवोब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।भवन्त्युपासितानूनंयस्मादेतेतदात्मकाः ।।(SR, 1.3.1)

Here, *Śārngadeva*declares *nāda* as *Brahman* and the trinity stated in *purāṇa-s: Brahma, Viṣṇu, Maheśa* as being of the nature of *nāda,* i.e.,*nādātman.*The idea has been vindicated by Saint *Thyāgarāja's*Kṛti (song):*Nādatanumaniśaṃ*[44]as well.It is very captivating to note that though explicated in *Saṅgīta Ratnākara*differently; the concept of *nāda* manifestation can also be traced from *KaśmīraŚaivism* comprehensively. Wherein,the power of *Śiva,*the*KuṇḍalinīŚakti*manifests in*Mātṛkā.* Which furtherproduces all the fifty letters present in the *Sanskrit*language. Additionally,she produces three kinds of speech (*vāk),* viz. *Paśyanti, Madhyamā, Vaikharī.* The *Bindu* present in the womb of mother *Kuṇḍalinī* expresses the synthesis of all appearances of this world and *visarga* manifests itself as *Nāda.*

Similarly, otherbenedictory verseseulogize *Dakṣiṇāmūrti, Naṭarāja, Sāttvika* and *Pārvatīpati Śiva*in *Tālādhyāya, Vādyādhyāya* and *Nartanādhyāya. Śārngadeva*provides the *Aṣṭa-Mūrti*conceptual form of *Śiva* in this seminal work. That is, He manifests himself in the form of *Pṛthvi, Jala, Agni, Vāyu, Ākaśa, Sūrya, Candra,* and individual self. Another conceptual form of *Śiva*is the *Adhāvan-Mūrti,* in which he manifests himself in the form of *Kalā*which correlates with *Pṛthvi, Tattva* is associated with *Jala, Bhuvana* which relates with *Agni, Varṇa* correlates with *Vāyu, Pada* is associated to *Ākaśa*and lastly, *Mantra* is correlatedwith*Sūrya.*[45]These forms such as *Kalā, Varṇa, Pada,*and *Mantra* are of great significance in music, known to all.

Besides, according to *Śaiva Siddhānta,* there are three Universal realities, i.e., the Lord or *pati:Śiva* who has free will, is fully sentient and conscious; the individual soul or*paśu* is half-sentient and conscious, and bondage or *pāśa*is insentient and unconscious existence. Some scholars are of the opinion that the whole *Saṅgīta Ratnākara*embodies these descriptions. All propitiatory verses are held to be devoted to *Pati-Śiva,* the *piṇḍotpatti* segment deals with the *jīva-paśu*part of *Śaiva Siddhānta*and sections on *vādya* and *tāla* is related to *pāśa.* It can also be argued that the *piṇḍotpatti* segment is heavily influenced by *Trika Śāstra.*

Śaiva Philosophyin *Saṅgīta* Ratnākara:

In this section, we discussthe plethora of shreds of evidence to substantiate the claim that *Śārṅgadeva*seconds and employs the philosophy of *KaśmīraŚaivism.* This philosophy claims that all *Māhābhūta-s* are the manifestation of *Śiva* and these pervade the whole vast world that is perceivable to us; even the subtlest of the object may there be. From complex down to the simplest of physical or psychological things are a manifestation of *Śiva* consciousness. The undermentioned *Śloka*of *Svacchanda Tantra*pointsout thateverything that exists comes from *Śiva;*to translate literally, it says where should one go, when everything is composed of *Śiva!*

चलित्वा यासयते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः(SvT, IV.313)

Borrowing the aforementioned concepts; in *Svaragatādhyāya's* section two,*Śārngadeva* deals with the genesis of the human body- *piṇḍotpatti,* wherein he says the human body is a mere

[44]*nāda tanumaniśaṃ śaṅkaram*
namāmi mē manasā śirasā
modakara nigamottama sāma-
vēdasāraṃ vāraṃ vāram
sadyojātādi pañcavaktraja
sarigamapadhanī vara saptaswara
vidyālolaṃ vidalita kālam
vimala hṛdaya tyāgarāja pālam See: "Sri Thyagaraja Krithis," Sangeethapriya.org, accessed June 17, 2021, https://www.sangeethapriya.org/tributes/thyagaraja/ThyagarajaKritis.pdf.

[45]S.P.Sabarathinam, "Āgamic Treatment of Māhābhūtas in Relation to Maṇḍalas and Arts." in*The Āgamic Tradition and the Arts*, edited by Bettina Bäumer (New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1995) 41.

conglomeration of five great elements or *pañcaMāhābhūtas*-s.Since the human body is composed of *pañcaMāhābhūta-s*, therefore it has acquired quite a few qualities from them. The particular set of *Śloka-s* (SR 1.2.56c-71b) which discusses this concept is explained as follows:

The sense organs present in the human body correlate to five elements. Sound, the capacity of hearing, hollowness,permeability, intelligence, etc.are derived from Space or *Ākāśa*. The *Vāyu*produces touch, the faculty of touch, in addition to that it gives rise to five types of motions, namely, linear movement, upwards motion, downwards motion, contraction or shrinkage, and, finally, expansion and extension. Moreover, *Vāyu*manifestscoarseness, weightlessness and the ten types of vital forcespresent in our bodies, the five main ones are-*Prāṇa,Apāna,Samāna, Vyāna* and*Udāna*; The five *Upa-Prāṇa-s* - *Nāga, Kūrma, Devadatta, Kṛkara* and *Dhanañjaya.*Of these, *Prāṇa*and*Vyāna*can be related to *saṅgīta*. *Prāṇa*is said to be "stationed below the root of the navel, and it operates through the mouth, the nostrils, the navel,and the heart, and (thereby) causes the verbalization of speech, the inhalation, and exhalation of breath and also sneezing and coughing."[46]From*Agni*, sight-sense of seeing, color and form, digestion, bile, wrath, luster, and heat in the body which causes perspiration, strength, courage, splendor and intellectuality; is manifested in the body. Similarly, the faculty of taste, softness, relish, sweetness of speech, coolness, fluidity, urine and all sorts of fluids are derived from *Jala*.Further, from *Pṛthvi*, the sense of smell and odor, steadiness, resilience, weight or heaviness, hair, bones, and all sorts of hard materials are acquired.[47]

Besides, the mind is the component of the human body that propels kinetic energy or *Agni*. Mind is assumed to be *annamaya*; and*anna* is identified with *Pṛthvi* and in its second-order meaning, it pertains to the *pañcaMāhābhūta-s*.The earth also forms and serves as the base for all psychological and physical activity.Many scholars believe the mind takes its power of imagination (an important aspect in music making) from its association with the earth element. *Jala* has a character of fluidity;"*rasa* being the ultimate determining factor of propriety (*aucitya*) in all creative activity and aesthetic delight or enjoyment, bearing analogy with the sense of taste, its presence is all-pervading.In music, these three*Māhābhūta*-s are directly related and form the basis of it."Mind embodies the beginning, *prāṇa* comes in the middle and continues and *vāk* is the product that is arranged in structures of *svara*, *tāla*, and *pada*."[48]

*Saṅgīta Ratnākara*enunciates that the will to speak originates in *Ātman*, which is beyond these *pañcaMāhābhūta-s*and that these *Māhābhūta-s* are manifestations of the Self or *Ātman*which is one with the Universal I-consciousness of *Śiva*as propounded in *KaśmīraŚaivism*. Therefore, all the actions and the will to perform an action originate from the *Ātman*. *Abhinavgupta*, in *Tantrāloka* section III from verses, 237c-248b talks of the will and desire to produce a *svara* or a musical note, like *ṣadja*or to play an instrument such as a drum, and to speak. These three auricular expressions are alwayscorresponded with the three types of *Vāk* in their manifestation form in the physical-gross form, as follows: Auricularexpressions of rendering a melody with the voice, on a stringed instrument or a wind instrumentrelates to the*Paśyanti*.Rendering on instruments such as drums relates to *Madhyamā*and speaking correlates with *Vaikharī*.

Four elements, viz. *Ākāśa, Vāyu, Jala*,and *Agni*have utmost importance in this context and have been explicated in the backdrop of the production of general sound and musical sound in particular. Air is the medium of carrying the sound, in addition to that it is also the instrument of the production of sound, the reason being it hits various surfaces. Fire is also directly related to this as it sets the motion of the air.Further, some concepts in *sa*[?]*gīta*which are practically used can also be associated with *Māhābhūta*-

[46]Śārṅgadeva,*Saṅgīta RatnākaraofŚārṅgadeva*,trans. R.K. Shringy (New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., 1999) 59-60.

[47]Śārṅgadeva,*Saṅgīta RatnākaraofŚārṅgadeva*,trans. R.K. Shringy,60.

[48] Prem Lata Sharma, "Mahabhutas in Sangita-Sastra with Special Reference to Yoga and Ayurveda."in *The Āgamic Tradition and the Arts*, ed. Bettina Bäumer (New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1995), 77, 78.

s. High and low *svara-s* used are to be correlated with the warmth of *Agni* and the coolness of *Jala*, respectively. Moreover, the aspect of fluidity, free flowing, versatile nature of music,and the sweetness or *mādhurya*are allassociatedwith the nature of *Jala*.The heaviness and the stability that are a requirement for the rendition through voice can be correlated with the element of *Pṛthvi*.The *Prakīrṇakādhyāya*of *Sa⊠gīta Ratnākara*discusses the five categories of a musician and states the importance of taking into consideration the *rañjakta*or amusement of the audience;which pertains to colour and *bhāva-s*.

Conclusion:

We see in the course of this paper that quite a few essential elements in *saṅgīta* are explicated through and in association with*Śaivism*, either directly or indirectly.Deducing from these,it can be argued and be verily concluded that;when one talks about philosophy present in Indian music, one has to discuss and borrow concepts from*Śaivism*.If one asks about there being one particular philosophy that is vastly present and is all-pervading in the discipline of music;it has to be the *Śaiva* Philosophy.In absence ofthis, the theory of music would not be able to suffice and cannot be explicated.

Bibliography

1. Chakravarty, H.N. "The Pentadic Universe in the *Śaivāgamas*."In *The Āgamic Tradition and the Arts*, edited by Bettina Bäumer, 25-31. New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1995.
2. Chatterjee, Gautam. *Āgamas in Indian Dramatics and Musicology.* Varanasi: Indian Mind, 2016.
3. Dolls of India Art Store. "The Raga Ragini System of Indian Classical Music." Accessed June 13, 2021. https://www.dollsofindia.com/library/raga_ragini/.
4. Internet Archive. "Vedic Agamic Cosmology." Accessed June 18, 2021. https://archive.org/details/VedicAgamicCosmology.
5. Musalgaonkar, Vimala."The Philosophical Background of Śārṅgadeva,"In *Śārṅgadeva and His Saṅgīta-ratnākara Proceeding of the Seminar Varanasi, 1994"*, edited by Prem Lata Sharma, 37-55. Delhi: Sangeet Natak Akademi, 1998.
6. Sabarathinam, S.P. "Āgamic Treatment of Māhābhūtas In Relation to Maṇḍalas and Arts."In *The Āgamic Tradition and the Arts*, edited by Bettina Bäumer, 40-55. New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1995.
7. Sangeethapriya.org. "Sri Thyagaraja Krithis." Accessed June 17, 2021. https://www.sangeethapriya.org/tributes/thyagaraja/ThyagarajaKritis.pdf.
8. Śārṅgadeva. *Saṅgīta RatnākaraofŚārṅgadeva.* Translated by R.K. Shringy. New Delhi: Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. 1999.
9. Śārṅgadeva. *Śārṅgadevakṛta Sangīta Ratnākara.* Translated by Subhadra Chaudhary. New Delhi: Radha Publications, 2000.
10. Sharma, Prem Lata. "Mahabhutas in Sangita-Sastra with Special Reference to Yoga and Ayurveda."In *The Āgamic Tradition and the Arts*, edited by Bettina Bäumer, 72-82. New Delhi: Indira Gandhi National Centre for the Arts, 1995.
11. Svoboda, Robert E. *Aghora II: Kuṇḍalinī.* New Mexico, USA: Brotherhood of Life, Inc., 1995.

Dharmic tradition: The role of debate in theological faith and the underlying scientific temperament.

Manisha Rao
Junior Research Fellow,
Department of Philosophy and Religion,
Banaras Hindu University.

Abstract: The cross-cultural theological discourses use a very loose translation of 'Dharma' as a 'Religion' which is not just linguistically improbable but also irrational owing to the subject matter of 'religion' per se. Dharmic traditions are an over-arching umbrella comprising Philosophy, Psychology, Science, Yoga, Meditation, Art, Music, Dance, Literature and Temple worship. Whereas, in the religious tradition of the west, theology forms its very essence. Dharmic traditions do not share this view, they do have a theological aspect but that is only part of this unified whole of systematic knowledge. This paper will observe the concept of 'Dharma' closely and seek to address a few questions pertaining to its essential feature and dominant traits.

This paper primarily deals with three aspects of the Dharmic tradition:

- It will limit itself toaddressing the 'role of faith' in the Dharmic traditions of India and the religious traditions of the west out of their multiple points of contention. It will underscore how Dharma is an over-arching principle that covers the aspect of faith which is the essential principle of the religious tradition of the west but progresses to prove that it is that as well as way beyond that.
- It will highlight the significance of disagreements and debates in the rich literary and scriptural heritage of the Dharmic tradition and observe that it is central to establishing the Dharma which is ever-evolving, owing to the interpretations followed by these debates.
- It will challenge the popular understanding of reducing Dharma to theological discourses and will offer a counter view that Dharma is a synthesis of theology and scientific temperament.

Keywords: Dharma, Faith, Religion, Debate etcetera.

The misadventure of treating Dharma as a Religion: An Introduction

The need for translations in this diverse world is irrevocable but more often than not it has created a ruckus than solved issues. The analogy of the 'Chinese whisper' can perfectly demonstrate the idea behind such a misadventure. In the context of theology, translating Dharma as religion is not just linguistically improbable but also irrational owing to the subject matter of 'religion' per se. Dharmic traditions are an over-arching umbrella comprising Philosophy, Psychology, Science, Yoga, Medicine, Meditation, Art, Music, Dance, Literature and Temple worship. It has a theological aspect but that is only part of this unified whole of systematic knowledge. Whereas, the Western parallel of the term, I call it parallel, because I do not see any possibility of their intersection is essentially a 'way of Faith'. In the Dharmic tradition as well, the role of faith, or as we know it 'Shradha' cannot be over-ruled but it is not the determining principle.

It is a Law of Nature, also encompassing a certain ethical law, that is Law of Karma and is impersonal. The matter of faith, however, is restricted to a particular community, and some of its principles maybe irrational as they might go against the law of nature.In the Dharmic tradition, faith could be a significant principle yet it cannot be the only reason to accept or dismiss anything. The highest Purushartha, Moksha is also realized not just by faith alone but through Jnana. Faith may indeed help us in certain ways, but it does nottake us to a point of transcendence.

The end-view of these varying traditions lay down a significant distinction and that is with respect to the state of mind. Dharmic traditions, through prioritizing Dhyana are advocating for the de-conditioning of the mind (cittavrittinirodha) to reach Nirvana which is essentially a state of awareness beyond the conceptual mind. Faith or Belief is the conditioning of the mind, no matter how good the conditioning may be, it can never be the desired goal for the traditions grounded in meditation. They aim to reach the truth with a mind rooted in silence and plunging to a state beyond concepts or theories. However, in the Faith-based tradition, one may encounter the concept of Salvation. It is basically a state of being free from one's sin and leading to a heavenly world often described in terms of physical pleasure.

In the Biblical tradition, the laws find their genesis in the authority of God and failing to adhere to his commandments will invite sanctions from God itself, whereas Dharmic traditions can very well function without bringing in the idea of God. The ethics of Dharmic tradition seeks to address the universal element in moral actions whereas theological ethics owes its entire existence to God.For example, the Idea of Ahimsa can be understood in terms of respecting the sanctity of all life forms in nature, and may not be followed just because God commanded so.

Debates and Disagreements are central to Dharmic tradition:

Shastrartha is a significant take on Intellectual debates and can be traced back to ancient India. The debates are often pertaining to interpreting the philosophical and religious elements in the Hindu scriptures, called Shashtras. Multiple events of Shastrartha can be witnessed across many Upanishads, thus sowing the seeds of Pluralism in the dharmic tradition. There is no ultimate path to realise the truth and it can only bereached with a constant engagement of these paths or interpretations in a healthy debate. One such is Adi Shankaracharya's visit to the house of Mandana Mishra in lieu of a Vada Bhiksha, a polemical debate. In fact, Bhagavad Gita is also a witness to the disagreement between Arjun and Shri Krishna, the conflicted Arjuna is fighting against an enemy that includes members of his family and a number of his friends. His Kinship with the enemy becomes an obstacle to his life as a warrior. Lord Krishna begins by explaining the eternal nature of the soul and asserts that it is his duty as a Kshatriya to fight this war and uphold the Dharma. This instance is proof that God can also be questioned and one need not accept anything without satisfying one's rationale. Gautam Buddha also observes, "Do not believe in anything simply because you have heard it. Do not believe in anything simply because it is spoken and rumoured by many. Do not believe in anything simply because it is found written in your religious books. Do not believe in anything merely on the authority of your teachers and elders. Do not believe in traditions because they have been handed down for many generations. But after observation and analysis, when you find that anything agrees with reason and is conducive to the good and benefit of one and all, then accept it and live up to it."

The Dharmic traditions in India have always invited and encouraged debates and disagreements and underscore their significance for a healthy practice of faith as well. No scriptures are banned from re-interpretation, and No God is an unquestioned authority. Every philosophical and religious position is open both to criticism and interpretation. Even though Dharmic traditions are not free from the malice of certain individuals, who may have interpreted the scriptures to suit themselves, but this inherent quest for knowledge and unwavering rationale has made the Dharmic tradition an exemplary case of self-reformation.

The Scientific temperament of the Dharmic tradition:

The Dharmic tradition does not employ faith alone as a tool to sustain their following but also makesa direct appeal to the rationale of the human mind. Just the Bhagavad Gita alone is home to multiple theories of science and continuous research on it yields newer scientific theories.

भूमिरापोऽनलोवायु: खंमनोबुद्धिरेवच |
अहङ्कारइतीयंमेभिन्नाप्रकृतिरष्टधा || (Ch 7 verse 4)

"Earth, water, fire, air, ether, mind, intellect, and ego—all together these eight constitute My separated material energies."

It translates into the relationship between mass and energy. This verse is reflected in the theory propounded by Albert Einstein centuries later. It also seemed to have influenced Robert Oppenheimer to make 'little boy' a nuclear bomb containing tremendous destructive potential.

After completing the experiment successfully, he revisited the following verse and said,

कालोऽस्मिलोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्त: |
ऋतेऽपित्वांनभविष्यन्तिसर्वे
येऽवस्थिता: प्रत्यनीकेषुयोधा: (Ch 11, verse 32)

"I am powerful Time, the source of destruction that comes forth to annihilate the worlds. Even without your participation, the warriors arrayed in the opposing army shall stop existing."

The existence of soul remains dominant principle in the entire Dharmic tradition, Gita observes-

वासांसिजीर्णानियथाविहाय
नवानिगृह्णातिनरोऽपराणि।
तथाशरीराणिविहायजीर्णा
न्यन्यानिसंयातिनवानिदेही। (Ch 2 verse 22)

"Just as a man removes worn-out clothes and puts on new ones, so also the embodied Self leaves worn-out bodies and adopts another body which is new."

This verse pertaining to the immortality of the soul can be interpreted to understand the permanence of energy in the universe which is neither generated nor destroyed.

A lot more literary support is available in the Dharmic scriptures that support the claim, that though faith is an important component it is not its be-all and end-all. It underscores the significance of the scientific temperament, invites disagreements, and encourages its re-interpretation through polemical debate. There is no one way to practice the Dharma. It is not even necessary to accept God in order to follow the Dharma, because it is an all-pervading law that one must abide by in order to sustain a righteous life and not a mere religious commandment.

Conclusion: The misguided translation of Dharma to religion has created more issues than it has solved. It has reduced the Dharmic tradition to the theological tradition of the West which is grounded in Faith alone. In the context of Dharmic tradition, the idea of Faith cannot be altogether ruled out but it is a mere component of it all and not its central principle. One may be practising Dharma, without even admitting the existence of God. Such a possibility exists only because debates and disagreements are crucial to the Dharmic tradition. It invites disagreements and tries to engage them in polemical debates, thus further evolving into a more reformed version of themselves by reinterpreting the scriptures. These debates and disagreements are also proof that the rationale of the society in India was inquisitive and would not adhere to anything only because it was a commandment from God itself. This unfolded into the scientific temperament in their scriptures as well. Many scientists find their inspiration from multiple verses in Bhagavad Gita. Vedic mathematics is unquestionably one of the oldest known mathematical heritage. Ayurveda is the oldest yet most evolved discipline of Medicine. All these sciences are nothing but the fruition of the rich scientific temperament of the Dharmic tradition. To sum up, as Frederich Lenz puts it, " Naturally, to follow dharma, we have to find out what it is. You have to struggle with it. The answer will not come easily. You will be swayed by your desires, conditioning, and those around you who have ideas about what you should do, what is proper, what is improper." Dharmic tradition, in fact, asks us to decondition ourselves, fight our impulses, and listen to our scientific temperament in order to seek the ultimate truth and be one with it.

References:

- Dr. David Frawley lectures on "Sarva Dharma Sambhav (Are all Religions the Same?)
- Bhagavad Gita
- Bhagavad Gita- a scripture of science by Milind Majumdar (https://timesofindia.indiatimes.com/readersblog/scroll-in-streets/bhagavad-gita-a-scripture-of-science-2909/)

The Functions of Philosophy in the light of Logicalempiricism

Surbala Verma
Research Scholar
Department of Philosophy and Religion
Banaras Hindu University, Varanasi

Abstract

In this paper, I put some light on the core functions of philosophy in the Greek period as well as in 20th century linguistic Philosophy. My emphasis is to show how the variations occurred in the function of Philosophy in both period and which is more relevant to define Philosophy. Is Philosophy only a subject to study which gives lots of conflicting ideology or something other? These are some questions which is put up while writing this paper. My special concern is to find the functions of philosophy within the perspective of empiricists epistemology and also how empiricism developed in the Greek period and its significances in that time? Nature of empiricism gradually changes with time and a refined version of empiricism is seen in 20th century. In Greek period, Philosophy treated as a technique to define the world or nature as whole. On the basis of their empirical experiences, they considered different entity to be the ultimate substance through which this whole world is defined but in 20th century Philosophy, functions and importance both changes. Philosophy meant for clarification of meaning. On the basis of analysis, Philosophy clarifies the logical relations of empirical propositions.

Key Words: Philosophy, Epistemology, Empiricism, Scientific statement, Analysis.

Introduction : Philosophy has vast area to discuss. Philosophy developed in different parts of the world and has its own importance and significance. It is very difficult to discuss all. So, my emphasis is only on the philosophy which is calledWestern Philosophy. So, here we see how the term 'Philosophy'is defined by Greek Philosophers. The term 'Philosophy' comprises of two words'philos' and 'sophia'. The meaning of 'Philos' is love and meaning of 'Sophia' is knowledge. So, overall meaning of Philosophy is "love of knowledge".Plato, the father of western philosophy,said, "Philosophy begins in wonder" and"Philosophy is love of wisdom."[1] Weber said "Philosophy is the search for a comprehensive view of nature, an attempt at a universal explanation of things."[2] So in general,we can define philosophy as pursuit of wisdom, truth and knowledge. According to Aristotle, Philosophy is metaphysics only but we can see in the 20th century Philosophy, Metaphysics is considered as nonsense. On the verification theory of meaning, metaphysics is eliminated and considered as nonsense.

Objective of the paper : The central theme of my paper to define what is the nature of Philosophy. what exactly the term 'Philosophy' defines in the ancient time as well as in contemporary time? What are the main objectives of Philosophy in ancient time? Reason behind its origin and development. Did same aims and objectives of Philosophy remained in 20th century? And finally, we have to see at what extend this Neo empiricism is successful?

Methodology : While explanation of my content, I used analytical, critical methodology. I do comparative study between Greek period and 20th century philosophy. I used primary as well as secondary sources to explain philosophical development specially in Western Epistemology with reference to empiricism.

Functions of Philosophy in 20th century : Linguistics philosophers affirm that analysis is the main work of Philosophy. Philosophy clarifies the concepts on the basis of analysis. Philosophy is considered as method or technique. "Philosophy is to be regarded not as a body of doctrine, but as an activity. The result of philosophising is not to establish a set of philosophical propositions but to make other propositions clear."[3]These are various attempts taken by different philosophers in western tradition to define philosophy. But no one was successful to give any universally accepted definition. Since philosophy deals with large or diversified area, so it's very difficult to give definition which covers all area. In simple language, philosophy give technique to study different areas.

Western philosophy is mainly classified on the basis of time period but itis also divided on anotheraspect called branches. Western Philosophy has three main branches. They are Epistemology, Metaphysics and Ethics. Again, I am focusing myself on one branch of Western Philosophy named 'Epistemology'.

Epistemology : Epistemology is that branch of Philosophy in which we study about knowledge, nature of knowledge, how it originates means sources of knowledge and validity of knowledge and finally extent of knowledge.

Many Philosophers already tried to define knowledge. 'Justified true belief' is called knowledge. This definition is the most significant definition of knowledge in earlier time.At first, this definition occurred in work of Plato named 'Theaetetus'.The 'Theaetetus' which probably dates from about 369BC, is arguably Plato's greatest work on epistemology. In this book, it is explained that knowledge is neither perception nor true judgement, nor an account added to true judgement. Here, Plato sets to rest any conception of knowledge as justified true belief. This definition also has importance in the contemporary time. Any information will come in the category of knowledge only when that information is believed by someone and indeed it is true as well as that person has sufficient evidence for its truth. These all three properties should be related to a single event or object. Otherwise, philosopherslike Gettierdrawsproblem in the definition of knowledge. Ayer said, "I conclude then that the necessary and sufficient conditions for knowing that something is the case are first that what one is said to know be true, secondly that one be sure of it, and thirdly that one should have right to be sure."[4]

I also do critical analysis of whole tradition of Epistemology with special reference to empiricist. How the empiricism started in western tradition and developed and do analysis of variation in Greekand modern period. Very first in the early Greek period, three Philosopher of Ionia named Thales, Anaximander and Anaximenes respectively considered water, infinite and air as the first element to describe the whole world formation. They considered these on basis of experience only. Some other schools like Scottish and Pyrrhonistalso show some essence of empiricism. Pyrrhonism is a philosophy of scepticism derived from Pyrrho of Elis, generally regarded as the founder of ancient scepticism. He identified as wise men those who suspend judgement and take no part in the controversy regarding the possibility of certain knowledge. They are asserting their ideas on the basis of sense experience only.In Greek period clear nature of empiricism arise in Sophists tradition. Their famous statement is"Man is the major of all thing."[5] Since every individual man is decider of anything. So, it may vary person to person. It means that the way things appear to one man is the truth for him, and the way they appear to another is the truth for other. Neither can convict the other of errors, for if one sees things in one way, then that is the way they are for him, though they may be different for others. This imply that there is no any constant truth which can be applied to everyone. This is the main essence of empiricism. One of the eminent Philosopher of Greek Period is Aristotle, whose theory of metaphysics clearly assert that "no pure form is possible and no pure matter is possible."[6] Means all object in the world is combination of both matter and form. This also show the impact of empiricism but not in the direct manner.

Empiricism : Empiricism is a branch of Epistemology, in which we put sense experience in the centre of our process of gaining knowledge. This is the main essence of empiricism. With time, the nature of empiricism and their explanation changes but the main essence never changes. So, otherworks of my paper is to show significance of empiricism in the present era. Our whole worldly activities are performed on the basis of empiricism. It is not only supported by common man but there are huge group of Philosophers who promoted empiricism in the different form in different countries. In Modern period of 17th century an English Philosopher John Locke formulated empiricism. His successor is an Irish philosopher George Berkeley and next in hierarchy is Scottish philosopher David Hume. All three are known as empiricist philosophers. They started from same point but their development and end differ. Similarly, empiricism developed in different period with new modification. It is also true that empiricism is not free from criticism in any period. All doctrine under this tradition is criticised by its successor but all doctrine has its own importance and relevance. It is true that empiricism cannot give universal and necessary knowledge. It is also true that universal and necessary is the quality of knowledge. But one more quality is 'Novelty' which is gained by only experience. Our worldly activitiesjustify the importance of empiricism.In an article "A Defence of common sense" Moore accepted the existence of external world.Execution of common sense is done on the basis of sense experience onlyand this sense experience is in the centre of empiricism. Empiricism has many significances in our daily worldly activities. But this is also seen that, there is not any universal truth can be established by them. Truth varies person to person. Scientific truth is accepted by all because it is experimentally proved. Even though, ethical values also

differ from person to person, society to society. These all shows the impact of empiricism. Empiricism assert that personal experience is only truth for itself. We are experiencing individual event but on the basis of induction, we assume that same will happen in future. On the basis of "law of Uniformity of nature", we can assert whatever happened in past will happen in future. On the basis of induction, we infer universal statements. It is seen in the past and present that the Sun rises in the East. So, we easily put assumption about future that, Sun will surely rise in East.But,if wedemand on what basis we assume like this, did it haveany logical base? Did past experience give any logical base for future event? It can be asserted negatively.There is no any logical base for the explanation of future event on the basis of past or present event. We just assume on the basis of psychological habit which is developed on the basis of induction. These are some problemsnormally occurred in Empiricism.

Empiricism incline itself on science because science supports it. But on other hand, we can see that science itself inclined on empiricism.Science declare their scientific result on the basis of experiment only. This experiment is based on sense experience with some scientific technique. Here, fallacy of circularity occurs. Sometimesense experience was unable to validate scientific statements. Like, Arsenic is poisonous. It never be proved by sense experience. If anyone did experiment of this scientific statement, he is no more to say anything about its experience. Some universal propositions like All men are mortal, All Ravens are black, cannot be proved by sense experience. We are in the present, our ancestors are in the past, they said about these propositions but no onesaw the future. No one can claim that same thing will happen in future. It is also true that on the basis of induction, or on our psychological habit, we just assume that same thing will happen in future.These are some loop holes where empiricism fail to justify science.

Logical Empiricism : There is great influence of mathematics and logic in 20th century philosophy. 20th century British Philosopher A.J Ayer propoundedhis theory of LogicalPositivism. This Logical positivism is also known as logical empiricism. Logical Empiricism is the combination of symbolic logic and Hume's empiricism. Hume's division of Relation of ideas and matter of facts. Relations of ideas are tautologies, which is necessarily true under all circumstances. They a priori true. Matter of facts are factual proposition. It's truth and falsity are determined by the means of experiences. Analytic statements have no factual context. Logical positivism says that analytic statement is a statement which is true by virtue of meaning alone as – 'a bachelor is an unmarried male adult'. One who know the meaning of all these words know this statement is true. Bachelor is unmarried male adult. No other proof is required. Synthetic statement like 'Rose is red'. To know its truth or falsity, one had to do empirical verification. Logical positivism established its ideology on two important objectives. First one is "Elimination of metaphysics"and second one is"Demonstration of natural sciences". Metaphysical statements are neither analytic nor synthetic, therefore metaphysics is nonsense or meaningless. "The criterion which we use to test the genuineness of apparent statements of fact is the criterion of verifiability. We say that a sentence is factually significant to any given person if and only if he knows how to verify the proposition which it purports to express- that is, if he knows what observations would lead him, under certain conditions, to accept the propositions as being true or reject it as being false."[7]On the basis of language, we can't accept or deny metaphysics. Metaphysical problems are beyond the scope of language. So, metaphysical problems are pseudo problem. We can't say anything. By the influence of physics and logic they questioned metaphysics. Theist accepts supernatural entities on the basis of intuition but A.J. Ayer denies this also. He said that intuition is not verified in any laboratory through experiment. It can't be proved scientifically. Logical positivism formally began in 1929 with the publication of a manifesto entitled 'The Vienna Circle: Its scientific Outlook' written by Carnap, Neurath and Hahn. This pamphlet gave a brief account of the philosophical position of the group. They only considered those instances as valid knowledge which can be tested on scientific parameters.These all said on the basis of analysis. Neo empiricism clearly assert that function of philosophy is doingphilosophical analysis. Ayer said that to solve the metaphysical problems is not the work of Philosophy. In earlier time, Philosophy was considered as study of reality as whole. So, they tried to find the first principal to explain world or nature. They considered philosophy as a speculative philosophybut Ayer clearly affirms that philosophy is critical andscientific hypothesis is in the centre of Philosophical analysis on which our worldly activities

depend. On the basis of analysis, philosophy clarifies the meaning. Ayer do more emphasis on science for its verification principal.Through this principle he eliminated metaphysics.

Conclusion : We can say that functions of Western Philosophy in 19th and 20th centurycompletely differs from Greek period.Philosophy used as tool to analyse and clarify the meaning of concepts.Ayer is criticised by many Philosophers for its verification theory. Ayer eliminate metaphysics on verification theory of meaning. Verification theory itself unable to justify the parameters on which it was established.So, Ayer do some modifications inhis book 'Language Truth and Logic'in next publication in 1946. He gave different criteria for verification even though many absurdities occurred.There is one important philosopher of Germany Immanuel Kant said that we cannot know metaphysical entities with our limited sense experience and understanding. We cannot know, does not mean we can deny the existence of metaphysical entities, it can be proved on the basis of moral argument. His concept about metaphysical or transcendental entity is known as agnosticism. He said that there are metaphysical entities but we cannot know them. Statements of transcendental reality is non judgemental. Non judgemental doesn't mean non existence. So, metaphysics cannot be denied. A statement of FriedrichWaismanis "To say metaphysics is nonsense is non sense." Bradley said, "the man who is ready to prove that metaphysics is impossible is a brother metaphysician with a rival theory of his own."[8] Metaphysics and science move parallel. There is one famous statement of John Passmore: "Throw metaphysics in fire and science go with it, and try to retain science, metaphysics enters through the back door." So, one of the most central and devastating criticism of logical positivism is that logical positivism with its doctrine of verifiability seems to end up destroying the whole science. "It was in the very area where this principle was presumed to have its greatest relevance, in the science that its greatest difficult arose."[9]Thereare many philosophers who rejects elimination of metaphysics on the method of sense experience. Metaphysics is the matter of self realisation. There is no doubt, earlier philosophy is called as 'first philosophy of theology'.

In 1970, Ayer itself declared in a T.V broadcast, 'Now Logical positivism is dead'.Till at this time, theories of logical positivism is itself become the house of controversies.It broadened the areaof the verification principal even though, a complete satisfactory principal could not established. But Logical positivism gave a new perspective to see the functions of philosophy.By eliminating metaphysics, if its whole verification principal become non sensical, then it is not right."If the verification principal really is non sensical, it states nothing, and if one hold that it states nothing then one cannot also maintain that what it states is true."[10]Ayerpointed out British Philosophers and said that they are also doing philosophical analysis. So, analysis and clarification of meaning are only functions of philosophy. But lastly, I want to say thatby denying the previous work of philosophy and concentrate only on Analysis and clarification, is not sufficient to explain philosophy. It is true that in Philosophy, every concept has drawbacks or loopholes,but it has its own importance and relevance in their period.So, it is good to explain philosophy as holistically means whatever the functions of philosophy in Greek period is also functions of philosophy including functions of philosophy in 20th century.

Reference:

1. Singh, B.N. (2011) *Pashchatyadarshankiroopresha*, AashaPrakashan Varanasi. P. 2
2. Weber, Alfred. *History of Philosophy*. P. 1
3. Ayer, A.J.(1956)*The Revolution in Philosophy*, Macmillan company and limited, Martin's press. P. 79
4. Ayer, A.J. (1956) *The Problem of Knowledge*, Macmillan and Company. P. 34
5. Guthrie, W.K.C. *The Greek Philosophy*. pp.63-69
6. Srivastav, Jagdeeshsahaye (2013). *Pashchatyadarshankidarshanikpravritiya*. Abhivyakti prakashan Allahabad. P. 81
7. Ayer, A.J. *Language Truth and* Logic, Penguin book England. P- 16
8. Bradley, H.F. *Appearance and Reality*. 2nd edition, p.1
9. Stumpf, S. Philosophy: History and Problem. 6th ed. New York: Michian- Hill Book, 1983. P.430
10. Ayer, A.J. (Ed.). Logical Positivism . New York, Free Press, 1959, p. 15

Insights on Rorty's Critique of Philosophy

Mansi Vaish,
Ph.D. Scholar
Department of Philosophy,
University of Lucknow,
Lucknow-226007

Abstract:

In this paper I will discuss some of the chief arguments from Richard Rorty's critique of Philosophy as a foundational discipline. This paper will center around the views from few of the significant philosophers which Rorty takes into consideration in his one of the most vital texts – *Philosophy and the Mirror of Nature*[i]. It will show that how Rorty dismantle the whole debate which were indulged in problems related to mind, epistemology and philosophy of language. It will also discuss the remedies which he suggests. In this regard, I will try to raise a few issues against his understanding and try to relate it with Nagarjuna.

Keywords: Philosophy, Mirror of Nature, Mind, Epistemology, Foundations Pragmatism, Relativism.

Insights on Rorty's Critique of Philosophy:

Introduction: Richard Rorty, often called a Socratic-Gadfly, known for refurbishing philosopher's imageby attacking the most fundamentals doctrine of philosophy. He responds to the philosopher's so-called perennial and eternal problems which revolves around knowledge claims and concerns with the knowledge foundations. Rorty considers these foundations as an attempt to escape from history which try to substitute particularity from *universal* and *objective truth*.

This is because mind provides the best representation of foundationalist conception of knowledge which paves the way for *genuine knowledge*.Philosophy is considered foundational as it adjudicates knowledge claims and work through consequences of conception of knowledge as an accuraterepresentation – deeply rooted in glassy essence – *mirroring*.[ii]

It aims to bring out the correct picture of reality where knowing represent what's outside the mind and understanding the nature & possibility of language shows that how mind constructs and represent things. Therefore, philosophy's main concern in a way became limited to the general theory of representation– who represent well/ less well/ masquerades of doing so.

Rorty thinks that this notion of accurate representation was deeply rooted in *mental processes* of 17th century(which needs to be abandoned) and this later gave rise to 20th century debate where philosophers were trying to keep philosophy "rigorous" and "scientific" for secular over religious claims of knowledge and this way,

"...*philosophy as a whole was shrugged off by those who wanted an ideology or self-image*"[iii] *(PMN,3)*

To show this, in PMN, Rorty explicates and questions some vital developments of his time and aims to undermine the reader's confidence in terms of a) mind, b) knowledge foundations, and c) notion of 'philosophy', especially analytical philosophy presented since the time of Kant. He thinks that all the knowledge foundations and theory of representations rely on some presupposed constraints and attempts to scrutinize.

While confronting these big claims and denying objectivity, he refrains from calling himself a relativist(PSH, xvi, intro) and considers himself anti-Platonists, anti-representationalist, anti-Kantian, anti-foundationalists, and anti-essentialists. Its often said that he was trying to abandon philosophy as a whole but actually he seems to be demanding some constructive work instead of therapeutic in the domain of philosophy.Interestingly, when we carefully note we find that while confronting them Rorty uses his two-step strategy for critiquing foundationalism where he first softens up the problem by bipolarizing them and then he shows that those problems are not at all relevant so we can skip them.

When problems related to mind are discussed in PMN, then Rorty shows that how mind is the mirror of nature and also a subsidiary target as it represents the world – major concern of epistemology. This is because knowledge derives from experience and thoughts and both can't be processed without mind. Descartes and Locke were seen to be a major contribution to two different forms of foundationalist

epistemology – both can be justified only by *self-evident* truths or *self-justifying* mental states and follow from two motives;

(1) explanation of knowledge must stop somewhere, and

(2) anything based on untrustworthy foundations is itself untrustworthy.

Rorty thinks that these problems were further carried away by Kant too. The issues concerning mind were initiated from 17^{th} century thoughts where philosophers hypostatized universals from phenomenal and treated them like particulars. The contemporary issues of philosophy of mind which are related to pains and neurons too began from Plato and Aristotle.

Plato placed the knowledge of universals as the highest form of knowledge which imposes dualism between the ordinary and changing world of becoming where we live and transcendent the changeless world of being. This form of his is the original hypostatized form of universals where universals are conceived as things. With this he setsmould for the whole mirror of nature problem. These forms conceived transcendental world and transcended physical world and talks about 'eye of the soul'.

Aristotle's hylomorphic conception – where subject becomes identical with objects and knowledge do not possess accurate representations because of grasping universals in one's intellect. So, faculty which receives universals and embodies the in 'separable' matter which separates substance from human body. Here, Intellect is not a mirror inspected by an inner eye rather mirror and eye are in one retinal image.Due to this the whole problem centered around the indestructibility of reason. Once mind isn't synonymous with reason then something other than our grasp of universals must serve as the mark of mental. Rorty thinks that Aristotle's substance was capable of existing separately but didn't have functional unity

For Cartesians, intellect inspect entities modelled on retinal image and representations which are there in mind becomes the basis for modern epistemology. For Descartes, one may have clear notion of extended and non-extended substance, but they are just a confusing idea of sense and imagination which makes difference between mind-as-reason and mind-as-consciousness and the only commonality in them is 'indubitability'.[iv]

For Descartes, it was clear and distinct perception for indubitability as the mark of eternal truths which serves the criterion of mental. Descartes put pain and thoughts under one category of substance and indubitability as the common factor between them and nothing physical. Thus, in this way he is clearing his way where indubitability is no longer the mark of eternality. So, the statements like 'I am in pain' doesn't qualify Descartes's parameter of clear and distinct knowledge. However, Descartes provides us metaphysical grounds of our certainty about our inner states.

While discussing what mirroring is capable of, Rorty dissolve the problem of reason and try to free us from the notion of human knowledge – an assemblage of representation in the mirror of nature, which later became a big blow to the epistemology.

Descartes's invention of clear and distinct ideas (attempted to overcome the charge of circularity and dogmatism) gave rise to the notion of *inner representations* where it aimed to know whether they are accurate or not by indulging into the nature, origin, and limits of human knowledge.[v] This later acted as a fundamental confusion between Locke and Kant as the 17^{th}century philosophers missed substituting it with epistemology and metaphysics. So, Kant had to fix the subject matter of philosophy and provide it a secured path. Thus, philosophers started seeking an answer for how's knowledge possible and philosophy's task became to bring objectivity to the knowledge claims which was earlier aiming at self-certainty. Due to this epistemology's aim become to produce non-empirical and necessary truths.

Getting back to the Locke's confusion about **justification and causal explanation,** which were led by presumption that providing an account where ideas are built up from raw materials and are presented by sensations, and then show that which of our claims are just and which are not. For Locke, 'immaterial tablets are dented by material world' (tabula rasa), so imprinting can make certain truths to be conceived only when mind perceives it. Rorty thinks that more than imprinting the observation of imprinting is important as all our knowing gets done by observation only which imprints.[vi] This makes Locke's impressions a mere representation which needed a faculty of being *aware* and *judged* instead of just having them. He followed Aristotle's footsteps to retain the idea of knowledge which object like entering the soul but wasn't enough to avoid the skeptical problem about accuracy of representation.

Rorty shows that how Locke problem centred around physiology and nous and how material objects in brain can be conceived only by union of soul and body. Locke's tablet goes through wide range of outward bodily parts, brain and then perspective mind and lastly reflective mind.

The whole issue of Locke was a shuffle between;

a) Knowledge as an idea that can occur without judgements, and
b) Knowledge forming justified judgements

Just like Aristotle, Locke too lacked clarity of relating grasping universals to making judgements, to relate to receptivity of form into mind to construction of propositions. This defect resided in Locke's empiricism which came into limelight when he admitted that qualified things are found in nature without any constitutive action of mind.

This later led to Kant's confusion between **synthesis and predication** where knowledge rely on predicative treatments and transcendental ego which demands to relate itself to different representations where passively received intuitions– particular representations, and actively applied concepts– universal representations and synthesis of both leads us to the *judgements.* Their synthesis takes place prior to experience- transcendental ego and *unites it with one consciousness*, permeated to logical structure built on a priori and allow us to justify knowledge claims.

Rationalist replaced these secondary quality propositions with those propositions known with certainty and made a epistemological concern between proposition and a degree of certainty. Kant confined himself to the Lockean inner representations where mind combined and compared ideas but had no logical structure of thought in a sensory conception of ideas, hence unclear that how predicative judgments are formed from such ideas.

Rorty thinks that insufficientcriteria of acquiring knowledge lead us to confusion which can be escaped by having access to history and mastering philosophical terminologies.[vii]

Kantian synthesis, needed judgments comprised of general & particular idea.[viii] This notion was required to deal with paradoxical and unquestioned assumptions which were needed to insure that objects will confirm to our knowledge rather than demanding conformity from us.

Rorty asserts that ifwe take sentences to be true with Kant's predicative judgment and when we observe 'mirror of nature', we tend to consider judgments as an expression of inner representations so analysesis needed in order to defeat skepticism and demarcate the scope of human knowledge. This assertion was against Kantian foundation where synthesis of representations makes sense when predication occurs. Rorty here thinks that if we abandon representationalism, there won't be any need to bother about addressing Kantian synthesis and explaining possibility of knowledge.

Kantian mistake was about attempting to provide any representation account of predication at all. It dealt with that how mind reflects nature and provided philosophy a new identity in two ways:

1) By offering unifying theme between universal and particular and modifying them into a concepts and intuitions.
2) Re-invention of particular – universal distinction generates to more specific distinctions, intuitions – concepts and analytic – synthetic., Which eventually became mainstay of subsequent philosophical theorizing.

Rorty makes a remark here that the inquiry towards nature and origin of knowledge was a search for privileged representation and with Kant it became search for rules which minds sets up for itself. Despite his best attempts Kant failed to free us from Locke's fundamental confusions of epistemology between justification and causal explanation.

Even the post-Kantians later emerged as analytic philosopher and linguistic philosophers in the form of garb of language talked in a same line of thought where they were just trying to offer some new kind of objectivity by providing the theory of Truth, the theory of Knowledge, the theory of Meanings and the theory of Errors. All of them were just trying to offer some sort of conclusive arguments to philosophy which Rorty does not support.

Now, often this allegation is made on Rorty that when he deny truth as universal and objective then it implies that he favours truth in relative sense and this provides us liberty to put Rorty in the caricature of relativist. Rorty responds to this allegation in an introduction[ix] to *Philosophy and Social Hope*'and mention that generally relativist are known for standing against Greek distinctions between

things in themselves and things for others. But Rorty instead eschew this distinction and instead abandon projects which aims to find something stable like Plato and Kant. Dewey too keep this platonic and Kantian distinction aside and so Rorty admire him prefer calling himself Pragmatist.

Sometimes it's believed that what's made or invented is often taken as found or discovered which was waiting to be recognised. Also its mistakenly assumed at times that they discover instead of invent. Thus, Rorty suggests that this made-found distinction should also be avoided just like absolute-relative and objective-subjective distinction. Since pragmatist refuse all these sort of distinctions so they are even call *anti-dualists*. (PSH, xvii)

All the traditional foundations from Plato to Kant were also part of this found-made distinctions and pragmatists insist that these problems were made and not found so they can be unmade when required by changing vocabulary. They believe that vocabulary useful at a time may or may not be useful at other time and deal with what's really there. Pragmatists suggest to replace this appearance-reality distinction with more or less useful distinction as different purposes employ different vocabulary.

These pragmatist believes that human inquiry attempts to serve transitory purpose and solve transitory problems. So they set aside traditional cartesian and Lockean picture of mind which seeks to get in touch with reality outside the mind and tool for getting touch with this reality are words through language.

Rorty thinks that even beliefs and desires are not prelinguistic modes of consciousness and may or may not be expressible in language. They are just sentential attitudes which asserts and deny certain sentences. For pragmatists, beliefs are just a habit of action and can be ascribed if we are willing to affirm certain truths.

Considering our body is like computer hardware and beliefs are like software and concern is whether software accomplish its task properly or not. Similarly, instead of bothering whether our belief is about appearance-reality distinction we need to bother whether they are good enough to gratify our desires. This is because beliefs remains true only till the time where no alternative belief is a better habit of acting.

Beliefs are taken as habit of action and words as tools but none are treated as representation, which suggests that in a way it demystify found-made distinction. This shows that our descriptions are made only as per their purpose depending on how useful they are. Relativity of description is ground for anti-representational view where knowledge rely on this parameter only where inquiry aims at utility for us instead of accurate account of things in themselves. Our beliefs are formulated in a language which is not just used to copy but also as a tool to deal with what's exactly there.

If we carefully observe we find that human assertions are just a way of fulfilling human needs and don't have any supernatural power to lead us to truth (PSH, xxvii). The idea of universally shared source of truth is called reason / human nature which is for pragmatist a mere idea that its capable of being conclusive (PSH, xxxii).

In the interviews, *Take care of Freedom and Truth will take care of itself*', Mendieta mentions that Rorty's neo-pragmatism synthesizes philosophical and scientific advancement in the history of philosophy.[xii] Rorty's pragmatism is a form of thinking that is more focused on practical than theory. Here philosophizing doesn't aim at discovering eternal or ultimate truths but to find instrumental character of ideas which allow to transform world.

In short, Rorty wanted philosophy to refrain from occupying central role which has been given to it. He do not aim to reform or transform philosophy as he thinks that philosophy can transform itself if it transforms the world.[xiii]

Now if compare Rorty's neo-pragmatism, Pyrrhonian skepticism, and Nagarjuna's theory can't be put as anti-foundationalism for critiquing dogmatic absolutism.

Nagarjuna is famous for critiquing dogmatic arguments of absolutism and comes close to middle path (*madhyamikapratipada)* in his *Moolmadhyamikarika*. He's considered to be anti-realist, skeptic and anti-foundationalist.

Some scholars argues that as an anti-realist he can be considered to be Pyrrhonean skeptic. With this view we can see that Pyrrhonean skeptic position and anti-realist believes in things beyond evidence and knowledge must be according to it.

Certain sceptic also seem to be saying that ultimate reality is very different from its appearance, therefore, we cannot know. Rorty is not this kind of sceptic as his scepticism does not believe in evidence transcendence things.

Both Pyrrho, Rorty and Nagarjuna can be seen as philosophers who rejects realism but do not favour idealism. Nagarjuna become nihilist but not idealist after rejecting realism. In this sense we can say that scepticism can be called an inquiry mode of philosophical effort not to find out hidden reality but to call a dialogue independently and corporately.

The whole hustle was because sceptic believed that there's no possibility of knowledge because it can't be had as it is. **Buddhist** believed that "knowledge as reality" which is a quest for certainty is itself a reason for sufferings. So, looking for conclusive argument is basically a cause of trouble for both Rorty and Buddhist.

Reference :

Tartglia, James, *Routledge companion to Rorty and the mirror of nature,* First Published 2007, Routledge Taylor and Francis Group, Oxon, P. 26

Rorty, Richard, *Philosophy and the Mirror of Nature,* First Princeton Classic Edition, 2018, Princeton University Press, USA, P. 3

Rorty, Richard, *PMN*, etc., p. 54

Rorty, Richard, *PMN*, etc., p. 139

Rorty, Richard, *PMN*, etc., p. 143

Rorty, Richard, *PMN*, etc., p. 151

Rorty, Richard, *PMN*, etc., p. 152

Rorty, Richard, '*Philosophy and Social Hope*', First Published in Penguin Books, 1999, Penguin Books Ltd., England, p. xvi

PSH

Interviews.

Rorty, Richard, '*Take Care of Freedom Truth will Take Care of ItselfInterviews with Richard Rorty*', 2015, Stanford University Press, Stanford, California, P. xiii (Interviews)

Rorty, Richard, *Interviews*, p. xvii

Transcendence in Art

Dr. Rinki Jadwani
Lecturer,
Delhi Technological University,
Delhi

Every work of art possesses the capacity of transcending its materials and to create something new beyond the given materials. A work of art does not present merely the combination of its distinct elements, but it rises above the level of the physicality and materiality, it transcends the materiality and appears to us as an entirely new thing. When we see a painting what we see is not canvas, paints and its other elements put together but a new image which is not merely the arrangement of its materials but created anew. It represents a new form, a symbol, an image which transcends the real and it appears as a whole which cannot be separated into its elements. Similarly when we watch a dance, we do not see the physical movements of a dancer but a created image which lies beyond the physicality of the body.

Body in Aesthetics is not the given material body, it is something other than the physical, given body, it is a created body. This paper will focus on the topic of transcendence, of going beyond the materiality in a work of art. Firstly, we will define some aspects which are common in every work of art like creation, image (or form), illusion, expressiveness etc. The paper will also discuss in detail one of the ancient work of art, i.e. dance and the image in dance.

Creation

Why we use words like production and manufacture when we talk about things which we use ordinarily, and we use the word creation when we talk of a work of art? Why making a shoe is regarded merely as production and a painting as a creation? Langer says 'a shoe is a construction of leather, it has a special shape…but it is still an article of leather' (Langer 1957: 28). Painting, on the other hand, does not merely represent arrangement of materials used. We do use different materials to form a painting, but a painting does not represent an arrangement of its different materials but something else. We use the materials to transcend the materials and by transcending them we create a new image. As Langer says 'a picture is made by deploying pigments on a piece of canvas, but the picture is not a pigment-and-canvas structure' (ibid. p-28). The artistic image is not imitation of other things; imitation is not the aim of artistic creation. Langer says that a picture is only an apparition, an image which exists only for our vision. It is not real, it represents an illusory image. The space of the picture is not the real space; it, what Langer says, is virtual space, it has an organic form. 'Pictorial space is a symbolic space, and its visual organization is a symbol of vital feeling' (ibid. 35). What is created in painting is the virtual space. All the materials were there, but a painter creates an entirely new thing by using these materials. The created painting exists in a different dimension from the physical world. It is an illusion. Langer says "the picture, the spatial illusion, is new in the sense that it never existed before, anywhere, nor did any of its parts. The illusion of space is created" (ibid. p.29). But this illusion in art is not deception or delusion, it is not created with any attention to deceive us, but it is created consciously and the aim of this consciously created illusion is enjoyment only and nothing else. Why we call an image of art illusory and not real? Langer says "to call the art-image illusory is simply to say that it is not material, it is not cloth and paint-smooches, but space organized by balanced shapes with dynamic relations, tensions and resolutions among them" (ibid. 34).

What is created in all forms of arts is always seen as a whole. It cannot be segmented into its parts; it appears to us as a unity. As Langer says "it can never be constructed by a process of synthesis of elements, because no such elements exist outside it. They only occur in a total form…" (Langer 1967: 369).

Thus in all forms of art there is a new creation and this creation is an illusion. Materials are all real but the created image is virtual. The given real materials become transcend to present an entirely new image, which is only an appearance.

Expressiveness

In the previous section it is explained that art is a creation. The second basic character of every work of art is its expressiveness. Artists create to express feelings. "A work of art is an expressive form created for our perception through sense or imagination, and what it expresses is human feeling" (Langer 1957: 15). But the word feeling here does not mean actual or psychological feeling. Langer says that art is not the copy of feeling, but it is a symbolic presentation of feeling (1967: 373). Art expresses only ideas of feeling. But here a point can be raised against Langer's view as she says that an artist does not express his or her own feeling, the point of difference here lies in the view that it is also possible that an artist represents his own feelings, his own emotions through his work of art. A painter can represents his own felt life of emotions by his painting. An artist can reflect upon what he knows about human feeling and he can also represent his own feelings through his work.

The expressive form of art is not like abstraction or generalization of particular things. It is not an abstracted form in the way we abstract a shape from a thing, from its color, weight etc. in an artistic form all the materials its shape, its color play an important part and thus cannot be separated from it. These forms are not like the forms of Plato. Plato's form or idea exists before particular things; they are eternal, while particular things exist only as imitation or copy of these forms. For Plato, these forms constitute the realm of reality. Artistic forms, on the other hand, are not like the forms of Plato, these forms are not merely poor imitation of other things. Artistic forms are images, symbols, though these symbols are not real, but every symbol presents a life in it. These symbols are not static, these are dynamic symbols, and they represent a living form. Living form, Langer says is "dynamic form, that is, a form whose permanence is really a pattern of changes" (1957:52). Langer gives an example of a quite river; she says that "a quite river has dynamic form....Its shape is static, but it expresses the dynamic form of the river" (ibid. p.19). A form in art is not a static form, it does not represent a static thing, but rather it represents a living form.

The image in art

The most important characteristic of every work of art is image. What is created in art is not the real thing; it is an image, an appearance. Many other words have been used by Langer to describe it as semblance, illusion etc. This image exists only for our vision; it has no other existence apart from its visual appearance. Langer says that this appearance, this otherness or strangeness from reality is the most basic character of every work of art. We do not perceive the material objects in a work of art, because all materiality disappear in that created form and what we see is purely an image. In this way the materiality is transcended to give rise to a new realm of illusion. This image, as Langer says, is 'a purely virtual object. Its importance lies in the fact that we do not use it to guide us to something tangible and practical, but treat it as a complete entity with only visual attributes and relations. It has no others; its visible character is its entire being' (Langer 1967: 48). The very stuff of semblance is illusion. But we cannot say it unreal because we see it, experience it. Here lies a difference between existential reality and experiential reality. The materials used in a work of art possess existential reality, but what an artist creates by using these materials possesses only experiential reality. It is like rope-snake illusion. In the Advaita Vedanta of Saṃkara, snake is regarded as real as long as it appears and rope is also real as an existential reality. Snake is not real as it disappear when we come to know it as a rope, but is not unreal because the moment we experience it as a snake, it is real and it cannot be said both real and unreal, so for Advaita Vedanta this is called anirvacaniya or indescribable, as we cannot describe it as real or unreal or both or neither. The image, we can say, has only experiential reality. But there is also a difference lies between the rope-snake example and an artistic illusion. In case of an artistic illusion, the created image is regarded as real while snake in rope-snake is not real. Moreover we know the existential basis in case of an artistic illusion, but in case of rope-snake, we don't know the existential reality i.e. rope, as the whole problem arises because of not knowing it as rope. Thus this comparison holds only on the level of comparing the existential and experiential reality, apart from this we can say that the two illusions are different, as used in different context and also to explain two entirely different concepts.

Langer says that the image of art cannot be described by language. In Language also, we use symbols, we describe things and their relations by means of language, but this language is discursive, on the other hand, symbols of art are non-discursive. We cannot analyze an art symbol into its elements, it

exists as a whole. Langer has explained it by a beautiful example-'as the convex and concave surfaces of a shell may be noted as characterizing its form, but a shell cannot be synthetically composed of *the concave* and *the convex*. There are no such factors before there is a shell' (Langer 1967: 369). Likewise no elements of a work of art exist separately before there is an artistic creation.

Langer, in some of her essays, has described the image of dance. We will review and explain some of the important points of to describe how a dancer transcends his material body in dance.

What do we understand by dance? What we see when we see a dancer's dance? Dance does not mean physical movements of the body. A dancer creates an image and this image is not like his physical body, it represents something other than the given body. '…A dance is an apparition of active powers, a dynamic image' (Langer 1957: 5). The dancing body and the physical body of the dancer are not one and the same thing; they exhibit two entirely different realms. Physical body is real while body in dance is not real, it is only an image. A dancer uses all the given materials to create something new, by transcending materiality. Dance represents a virtual image. The physical body of the dancer is real but as Langer says 'in the dance, they disappear; the more perfect the dance, the less we see its actualities. What we see, hear and feel are the virtual realities' (ibid. p.6). When a dancer performs, we do not see separately his or her arms, legs, a dancer represents form in totality, that is why we say that physical body disappears in dance.
Dance, as it is a form of art, also expresses feelings which cannot be described through language. In dance and in every work of art an artist tries to show his inner feelings outwardly. Art is a way to express the inner feelings, to objectify the subjective feelings. Langer says 'this image, though it is a created apparition, a pure appearance, is objective; it seems to be charged with feelings because its form expresses the very nature of feeling. Therefore, it is an objectification of subjective life…' (ibid. p.9).
The dynamic image is the very stuff of dance. Langer says that dance consists of non-physical forces because physical forces disappear in dance. Thus physicality disappears in dance and what we see is only an apparition. A dancer use his body in all the movements, but in dance we do not watch these separate bodily movements, we see dance as a whole image, a dancer transcends from his physical body and appears as an image, the dynamic image.

The movement of dance is called gesture. Langer says 'gesture is the basic abstraction whereby the dance illusion is made and organized' (1967: 174). Gesture in dance is not real, dance gesture is virtual gesture. All we see in a dance is illusory, motion is illusory, and the force expressed in dance is illusory. Dance does not exhibit physical force; it i: vital force that governs the dance.

Thus all forms of art have something in common, i.e. the principle of creation. But what is created in each work of art is unique. It is the stuff that differ one form of art from another, the stuff that makes the expressive form, the virtual image of a work of art. As for example we can say that the stuff of dance consists of non-physical or vital forces while the stuff of painting consists of a virtual space.

Thus one thing which we find common in every work of art is transcendence from actuality. The transcendence occur not because of lacking something in the physical, given world, but this transcendence is the very basic requirement of every work of art. Without this otherness, no art will be called art as such. Without this element of going beyond the physical, the aim of artist would not be fulfilled. It is because of this transcendent element that makes every work of art a new creation and different from mere production of things. Without this element of transcendence a work of art would also become a mere arrangement of different materials and nothing else. To create something other than the given, something new, to express human feeling, to create an image, a semblance, the only thing that is needed is transcendence. No artistic creation would be possible without transcendence.

Reference:

Langer, S (1967). *Feeling and Form*. Routledge and Kegan Paul Ltd.: London (First published in 1953).
Langer, S (1957). *Problems of Art*. Routledge and Kegan Paul Ltd.: London.

Karma and Dharma: Differences and Relation

Arjun Kumar
Research Scholar
University of Delhi

Abstract:

This article is aimed to making an analysis of relation between karma and dharma. In Indian philosophy, we see both words have different meanings and uses in many situations. Here try to find relation and exact meaning in the light of Bhāgavad-Gitā where some times use both word as a synonyms but have different meanings. In purushārthas, they have different meanings but they are complementary to each other to attain finale end that is moksa.In Bhāgavad-Gita,we find svadharmā that is similar to karma.

Keyword: - Karma, Dharma, Purushārtha, Nishkām Karma, Moksa, Karmyoga, Duty, Will.

Introduction: Karma and Dharma is the most discussed topic in Indian philosophy. Sometimes we say Karma as Action and Dharma as a Religion but in Indian thought both word have different meaning. When a person does any act (physical or mental) is called Action and Religion is "Human recognition of a Superhuman controlling power and especially of a personal God or Gods entitled to obedience and worship" (concise oxford dictionary). There are many definitions, we find in Indian philosophy about both of word. But here I want to draw the relation between Karma and Dharma. Karma means what we do any act and Dharma is what we bear. Here I am discussing about the relation between Dharma and Karma in the Indian philosophy context.

The Bhāgavad-Gitā provides mainly the three systems of human values, namely, the Karma (action), Bhakti (devotion), and Jñan (knowledge). Man is complex of Intellect, Emotion and Will; he is being who thinks, feels and wills. Intellect has given rise to philosophy of Knowledge; Will to philosophy of Action and Emotion to philosophy of Devotion. Gitā represent a unique synthesis of Action, Devotion and Will.

Karmayoga teaches us how to work for work's sake, being unattached to it. The philosophy of Karmayoga is that, one is entitled to work alone, and not to its fruits. So never work for fruits, not yet desist from work (Nishkāma Karma). Act in such a way that your action shall not bind you. It is not renunciation of action itself, but renunciation of the longing for the fruit that is secret of Karmayoga. According to Bhāgavad-Gitā, any action mental or physical is called Karma. Sri Krshna said in the Gitā that no one can remain absolutely inactive even for a moment. When arjuna denied fighting against siblings, he was in dilemma what is Good or Wrong. Is he not going to fight for selfishness?

In Gitā Shlokās_

"Aho Bata mahat pāpam kartum vyavasitā vayam!
Yad rājya-sukha-lobhena hantum sva-janam udyatāh!!"

It means, - "Alas, how strange it is that we are preparing to commit greatly sinful acts. Driven by the desire to enjoy royal happiness, we are intent on killing our own Kinsmen".

Arjuna said, I am confused about my duty and have lost all composure because of miserly weakness. In this condition I am asking you to tell me for certain what is best for me. Now I am your disciple, and a soul surrendered unto you. Please instruct me.

Sri Krsna says that considering your specific duty as a ksatriya, you should know that there is no better engagement for you than fighting on dharma principles; and so there is no need for hesitation. if however, you do not perform your dharma of fighting then you will certainly incur sins for neglecting your duties and thus lose your reputation as a fighter. Krsna says, "do thou fight for the sake of fighting, without considering happiness or distress, loss or gain, victory or defeat- and by so doing you shall never incur sin". Sri krsna told Arjuna in the Bhāgavad-Gitā that men and women are destined to work that is 'Svadharma'. His advice was; plunge into action and fight in the spirit of non attachment. As regard the result, one should not think of it. The illuminated or the wise person does not work for result. The Bhāgavad-Gitā says-"to the work alone you have the right, never to its fruits". Do not let the fruit of action be your motive, and do not attached to non action. The total renunciation of the world for attainment of higher good is not the intension of Gitā, although it is recommended in Āshram Dharma of Hinduism. So what is needed is not renunciation of action, but its fruit. We have to do our duties properly, but the desire of selfishness must be suppressed.

Concepts of Karma and Nishkām Karma of Gitā are linked with the concept of Svadharma. Svadharma, according to the Gitā, is one's own caste and order of life. The duties of the four castes (Varnadharma) are elaborately dealt with in the Gitā. Accordingly, one should take up the duties of life as they are, and try to do them with the highest motive, that is, the attainment of the Lord. And for this, man has to pass through certain physical, mental and moral discipline. Dharma is essence or prime tendency of a society, person or object, for example; dharma of a pen is to write, dharma fan is to produce air, dharma of ksrtiya is to fight. According to S.Radhakrisanan; "we may define dharma as the whole duty of man in relation to the fourfold purposes of life (dharma, artha, kāma, moksha) by members of the four groups (caturvarna) and the four stages (caturashrama)".

Dharma, defined as a person's duty to the divine, is a human's way of making the world run as it should- a balance of good and evil. Desire negatively affects Dharma, for a person's desire often interfaces with the will of the divine. Karma is similar to Dharma in the sense that it involves action. Dharma, however, defines what action to take, where Karma takes into account negative and positive action. Selfless acts add to the positive, while selfish actions add to the negative. Karma determines the cycle of birth and death that one will face in the physical world. Krsna, in the Gitā, defines karma as a force "risen from the Veda". he states the the Vedā's are "imperishable", therefore Karma, to, is imperishable.

Purushartha is the key concept in Hinduism and refers to the four proper goals or aims of a human life. The four purushārtha are Dharma (righteousness, moral values), Arta (prosperity, economic values), Kāma (pleasure, love, psychological values) and Moksha (liberation, spiritual values, and self actualization). All four purushartha are important, but in cases of conflict, Dharma is considered more important than Artha and Kama in Hindu philosophy. Moksha is considered the ultimate goal of human life. In Bhāgavad-Gitā; purushartha as "material religiosity, economic development, sense gratification and at the end, the attempt to become one with the supreme.

Dharma signifies behavior that are considered to be in accord with Rta, the order that makes life and universe possible and it includes duties, rights, laws, conduct, virtues and right ways of living. Kama signifies desire, wish, passion, emotion, pleasure of senses, and the aesthetic enjoyment of life etc.Without Dharma, the pursuit of Kāma degenerates into a passion. Without Dharma, Artha degenerates into acquisitiveness and greed. Without Dharma, Kāma becomes vāsana and Artha becomes Anartha. Hence Dharma is the only imperative to guard both Kāma and Artha so that one can attain the trans-empirical value, the highest value of life, Moksha. Kāma is considered the root cause of suffering. Kāma is also understood in the sense of attachment. Kama for dharma inspires us to live a life of righteousness and perfection. The Bhāgavad-Gitā does not disqualify attachment all together because without attachment no work is possible. Our attachment should be pursued through a sense of detachment. The Bhāgavad-Gitā identifies Arjun's improper attachment to grief which is not expected from wise person.

The ultimate goal of life is to attain Moksha and first three purushārtha helps to get the end. Without Dharma, Action is directionless which leads to wrong end. Bhāgavad-Gitā enumerates the ethical discipline necessary for the highest knowledge and it comes from dharma. The central teachings of Bhāgavad-Gitā can be beautifully summarized in this sentence of Annie Besant; "it is meant to lift the aspirant from the lower levels of renunciation, where objects are renounced, to the loftier heights where desires are dead, and where the yogi dwells in calm and ceaseless contemplation, while his body and mind are actively employed in discharging the duties that fall to his lot in life."

Conclusion: Karma is the lifeline of a human being that accompanies a person from birth to death and provides him a direction to lead a substantial life. Whether one believes in another life or not, Karmas are always the asset of one's life journey which the person does deliberately. But to attain moksha is to do action in right way. The right way and discipline comes from the Dharma. in metaphor, we can say that dharma is a map of an agent who is performing a duty/action.

REFERENCE-

- Radhakrishnan, S (2010). "The Bhagavadgita",Harpercollins publishers india.
- Mathur, D.C., The Concept of Action in the Bhagavadgita,JSTOR Journals:Philosophy East and West, vol. 21, n.1, htt://www.jstor.org/stable/1397763.
- Bhagavad-Gita.

Relation of some religious state of affairs aspects with the Human

Aryan Kumar Mall
Research Scholar
University of Delhi

Being human, I have so many aspects of my life, in which the religious aspect also is part of human life. As we know from history, the dominance of religion to shape human life has been major be it, Harappan civilization or Egyptian civilization and so many civilisations are full of the tale of religion. No one escapes from this, even when we read about the medieval period of history we found that enormous massacres and wars came about in the name of religion. When we philosophizing the term religion which reflects the meaning that is unparalleled the history or when we try to understand the differences between religion and dharma. As we know dharma has not reflected the meaning that religion reflects. But dharma term uses in a very deep sense rather than a religious term. Here I take the meaning of religion in the form of dharma and try to understand what makes sense to religion, that is, the "consisting of some things" which we can say religion/dharma. And when I attempt to understand in the term of sense is only related to humans. So this paper is devoted to finding a connection between some religious state of affairs aspects with humans as well. Because the meaning of religion/ dharma is less vital than how a religious person lives life, be it a theist or atheist. So meaning defines by how to live our life rather than according to the religious terminology what the religious person is.

So my first question is that what is 'consisting of things' which we can say religion/dharma? World is comprised of a lot of things including humans. In the Indian context, the beautiful expression of dharma (religion) is that everything in the world has contained dharma, and no one escapes from this, be it living things or non-living things. In the western context, religion has a different form because it is more related to the group of people who follow a particular belief/faith, but in India, along with following a particular belief or faith, more emphasis than our living patterns. In West, however, also have religious living patterns, but these patterns do not decide what is meant to be religious. So here is a high emphasis on what is to be religious, then after accordance to this what the possibility of a living pattern of a religious person. But as you see in India, the dharma reflects the meaning of the style of living of people. So first thing consisting in religion is living pattern or style of living of people which is different from a non-religious[49] living pattern. So the relationship between the living pattern of a religious person and a non-religious person (including environmental entities) both are different as we see in daily life. Here I am emphasizing, is any religious person can be religious at both levels. - the level of linguistic[50] and the level of style of living. What are the criteria for the style of living of a religious person? And which is major in both? All religious terminology defines the living style of a religious person. They believe in mystical experience, the experience of revelation (these truths cannot be known by reason alone, and are known only because the divine has chosen to reveal them) as we see, at present, that some religious people have claimed experience divine truth, faith in a particular deity. The main fact is all term is related to spirituality which is meant to beyond reason. So,

- A group know what is meant to be religious but does not believe in any deity and believes in rational belief without a proof (proof with our intuition or inner voice, not external experience)

[49] Here 'non-religious' term is used not only in the human sense but also in the context of environmental entities because the religious style of human life is not like water, tree, any animals and not living things etc. but these entities contain specific dharma, for instance, water tendency to cold something, fire tendency to heat something. And that's why we know them because they essentially follow this specific dharma of theirs.

[50] At the level of linguistics, the religious person at least knows what it meant to be religious from holy book and at this level, a non-religious person also can know this. But the question is who would we call a religious person at this level?

- B group does not know about what it meant to be religious but believes in deity, mystical experience, the experience of revelation and following a particular faith (which may be irrational because faith is beyond to reason)

So the 'A' group reflects the linguistic level and the 'B' group reflects the level style of living but we also consider the 'C' group which has both levels. So defining who is religious is the most difficult task because each person claims themselves be religious. 'C' type of group is more ethical because they define what is to be religious according to the living pattern (this is typically that this group experience self realization rather than divine voice) as we see in Shankara philosophy and also in Buddhism. The 'B' type of group (believe in revelation or mystical experience rather than self realization) is considered fatalistic because they believe in faith there is no room for reason. 'A' type of group defines religion at a linguistic level but the expression of the religious term is not very clear. Semantic religious is form of the mixture of 'A' and 'B' group but the following the characteristic of 'B' group.

So the state of affairs of a religious person hinge upon the person following which the group because religion means is vary from different group. So my paper focus on what the connection between religious state of affairs with humans which makes a religious person. In which we find that it is more related to spirituality but this make not sense if you not follow in religious living pattern.

******

भारतीय संस्कृति की मूल्य–बोधक अवधारणा

डॉ. देवदास साकेत
अतिथि विद्वान–दर्शन विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

भारतीय संस्कृति, सामाजिक नैतिक निष्णातों के संचालन के विविध कार्यशैली और उद्योगों की स्थापना करके, तार्किक नैतिक और आर्थिक विकास को नई दिशा प्रदान किया है। भारतीय संस्तृति में पूर्ववर्ती काल से कर्ज को धर्म के नाम पर भौतिक प्रगति का बाधक माना गया है।[1]

भारतीय संस्कृति और उसकी परम्परा ने नैतिक मूल्यों को बनाये रखने का कार्य किया है। नैतिक सद्‌गुणों ने समस्त वैदिक समाज को एक साथ संगठित किया और उनमें सामूहिक चेतना का भाव भरें। सामाजिक जीवन के उत्तरोत्तर विकास के परिणाम स्वरूप अनेक अधिकारों–कर्तव्यो के पारस्परिक संघर्षों से बचाने के लिए ऋषियों, संतों और महात्माओं ने एक ओर तो सूत्र–ग्रन्थों का निर्माण किया और दूसरी ओर स्मृतियों द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना की। वर्ण व्यवस्था में धर्म के द्वारा सामाजिक नीति–नियमों को निर्धारित किया। इसके उपरान्त उपनिषदों की विचारप्रधानता ने तर्क–पद्धति के माध्यम से मोक्ष रूपी पुरुषार्थ का नया मार्ग उद्‌घाटित किया। उपनिषदों की इस विचारप्रधान सांस्कृतिक एकता और ज्ञान की अनन्त धाराओं का विकास परम्परागत वैदिक ज्ञान से हुआ। इस विरासत को नैतिक मूल्यों, सद्‌गुणों, परोपकार, न्याय, सत्य, अहिंसा, सदाचार आदि के तर्क तथा प्रमाण की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही तत्त्व–चिन्तन की नयी पद्धतियों के द्वार खोले गये। भारतीय संस्कृति की इस बौद्धिक उत्कर्ष की चरम परिणति मानव मूल्यों और नैतिक मूल्यों को लेकर आगे चलकर दर्शन की अनेक शाखाओं के रूप में प्रतिफलित होती है।

"कठोपनिषद् में एक प्रसंग मिलता है कि नचिकेता और यम की कथा में आत्मा और ब्रह्म का वर्णन मिलता है नचिकेता के पिता वाजश्रवा गौतम सर्वमेध में अपनी बूढ़ी गयों का दान कर रहे थें। उसी समय पिता के पुण्य स्वरूप को देखकर पुत्र नचिकेता कहता है कि आप मुझे भी किसी को दान दे दीजिए। नचिकेता के पिता वाजश्रवा क्रोधवश कहा कि मैं तुम्हें यम को देता हूँ। उसी समय नचिकेता यम के पास पहुँच जाता है। यम ने नचिकेता को तीन वर प्रदान किये। तृतीय वर से नचिकेता ने आत्मा की अमरता के विषय में परिचर्चा करने के लिए यम से आग्रह किया।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,। बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः अग्रहमेव च।[2]

इस श्लोक के माध्यम से स्पष्ट है कि शरीर को रथ और आत्मा का रथी (सवार) होने वाले जन। बुद्धि को सारथि और मन को बाँधने की रस्सी समझना चाहिये। उपनिषदों की इस विचारप्रधान संस्कृति के अनेक सुपरिणामों के उदय के बावजूद, बहुसंख्यक समाज प्रायः अछूता ही रहा। यद्यपि ऋषियों ने जन सुलभ छोटी–छोटी बोध–कथाओं द्वारा समाज को ज्ञान के गम्भीर मर्म को समझाने की विविध चेष्टा की, किन्तु फिर भी उनका यह प्रयत्न एक वर्ग–विशेष तक ही सीमित हो पाया। जन–सामान्य की इस सामयिक इच्छा की पूर्ति पुराणों से मुनि–महात्माओं ने की। पुराणों में परम्परागत नैतिक मूल्यों को लोकोपयोगी बनाकर जन–जीवन को अत्यधिक सुलभ किया है। वेदों में जिस समन्वित भारतीय संस्कृति में नैतिक मूल्यों के दर्शन होते हैं। वे नैतिक मूल्य पुराणों के द्वारा संतों ने उसको विकास के उच्चतम शिखर पर पहुँचाने का प्रयास किया है। भारतीय संस्कृति में धर्म, आचार, नीति, सदाचार और सन्मार्ग का निर्देशन किया गया। नीति (अनुशासन) के निर्धारण का कार्य स्मृतियों के द्वारा किया गया है। इस प्रकार से भारतीय संस्कृति के ही नहीं, मानव मात्र के नैतिक मूल्यों और आध्यात्मिक चेतना के अजस्र स्रोत बने रहे हैं। भारतीय संस्तृति में नैतिकता और सदाचार की ओजस्वी परम्परा को आगे बढ़ाया। इस प्रकार से भारतीय संस्कृति विगत कई वर्षों से हिन्दू संस्कृति, जैन दर्शन की श्रमण संस्कृति, बौद्ध संस्कृति, इस्लाम संस्कृति और इसाई संस्कृति, भारतीय सभ्यता के इतिहास का संरक्षण करती रही

है। यद्यपि सभी संस्कृतियों के मनस्वियों में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय संस्कृति नैतिक मूल्यों और सद्गुणों के रूप में अधिक उदार तथा जन–जीवों के अधिक निकट रही है। नैतिक मूल्यों से जन–सामान्य के आचार–विचारों का प्रतिनिधित्व किया है। इससे भारत के सांस्कृतिक अभ्युदय की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। भारतीय संस्कृति जन–जीवन में मान, सम्मान, मर्यादा के नियंत्रण के मूलाधार बनी।

सम्पूर्ण वैश्विक परिदृश्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए नैतिक मूल्यों में जहाँ रक्तरंजित प्रभुसत्ता और बल–वैभव की विकट भूख विद्यमान रही हो, वहीं भारतीय संस्कृति में इस पुनरुत्थान के मूल में ज्ञानवन्त एवं आत्मत्यागी मनीषियों के सुचिन्तित विचारों के रूप समाज को मूल्यप्रधान बनाया है। उन संतों की इस अध्यात्मपरक और नैतिक मान्यताओं ने अतीत के अनेक युगों तक भारतीय जनजीवन को संचालित करने का अथक प्रयास किया है। समय–समय पर उठने वाले अनेक पारस्परिक मतभेदों को सुलझाने में भी मदद मिली है। मानव जीवन के आदर्शमय, सद्गुणों के लोकप्रिय उपाख्यानों के आधार पर समकालीन दार्शनिकों के उदात्त चरित भी देखने को मिला है। इस उदार चरित की प्रतिमूर्ति राजपुरुष जैसे भगवान श्रीराम, महावीर स्वामी, गौतम बुद्ध, सम्राट अशोक, विक्रमादित्य के जीवनादर्शों को काव्य के कलेवर में ढालने का प्रयास किया है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास एवं महर्षि वाल्मीकि जैसे दिव्यचेतना के मनस्वियों ने क्रमबद्ध रूप से भारतीय संस्कृति में दो महान महाकाव्य महाभारत और रामायण की रचना कर परम्परागत नैतिक मूल्यों की धारा को युग के अनुकूल नया रूप प्रदान किया। इन दोनों वैशिष्ट्यिपूर्ण राष्ट्रीय महाकाव्यों में इस देश के जन–जीवन की वास्तविक प्रतिच्छवि को अवतरित करने का प्रयास किया है। इन दोनों महाकाव्यों में एक में भ्रातृद्रोह और दूसरे में भ्रातृ–मोह के दो भिन्न–भिन्न उदाहरण भारतीय समाज के सामने मिलते है। महाभारत में स्वार्थ और अधिकारों की दुर्दान्त लिप्साओं के दुष्परिणामों को व्याख्यायित किया गया है। दूसरी ओर रामायण जन मानस, लोकहितार्थ, मर्यादापुरुषोत्तम, सत्य और आदर्श के प्रतिमूर्ति है। इन दोनों पन्थों में धर्म और मर्यादा का लोकमंगलकारी सन्देश सम्पूर्ण जन–जन की आत्मा में निहित था और यहाँ के समस्त मानव–समाज के लिए भी अनुस्यूत किये गये थे। इस प्रकार उस समय से लेकर आज तक लगभग ढाई हजार वर्षों के सुदीर्घ कालीन जन–जीवन के कण्ठ हार बने हुए हैं, जिन्होंने सामाजिक सद्भाव हेतु जीवन के नये सांस्तिक मूल्यों की स्थापना किया।[3]

परम्परागत नैतिक मूल्य, नैतिकता, सदाचार और सदभाव के उच्चतम आदर्शों को तिरस्कृत नहीं किया। इस नयी सामाजिक जागृति ने सांस्कृतिक विकास के नये आयाम प्रदान किया है। जिस प्रकार से महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध द्वारा स्थापित और युगों के प्रवर्तित जैन–बौद्ध धर्मों के उदय से भारतीय संस्कृतिक के नये अध्यायों का सूत्रपात हुआ। ये दोनों धर्म पंथ वस्तुतः उदात्त वैदिक संस्तति के ही मूल अंग रहे हैं, जिनका मूल वैचारिक दृष्टि से उपनिषदों के अधिक निकट रहे हैं। जहाँ आत्मदर्शन, चित्तशुद्धि, त्याग, समाधि, वैराग्य, तप, संन्यास और प्रज्ञा आदि जिन परमार्थ–प्राप्ति के साधनों को इन दोनों धर्मों के विचारक चिन्तकों ने बड़ी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है। वे सांख्य, योग और वेदान्त के सम–रूपान्तर माने जा सकते हैं। यहाँ तक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, जीव, दया, नैतिक एवं चरित्र के सद्गुणों ने उनको लोकप्रिय बनाया है। यह भारतीय परम्परा की नैतिक सुचिता को ब्राह्मण, जैन और बौद्ध–तीनों धर्मो की प्रायः एक जैसी परम्परा रही है। समानता, सद्भाव और मैत्री की इस त्रिवेणी ने मानव मूल्यों को सार्वभौमिक विश्वजनित स्तर पर पहुँचाने का कार्य किया है। बौद्धधर्म की ही भाँति जैनधर्म का भी भारतीय संस्कृति के उन्नयन में विशेष योगदान रहा है।

वर्तमान समय में समाज में नैतिकता का दिनोंदिन अभाव होता जा रहा है, नैतिकता को दृढ़ इच्छा शक्ति से ही जीता जा सकता है। इसके लिए नैतिक मूल्यों को शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य हिस्स बनाये जाने से नैतिकता का भाव लोगों में जाग्रत होगा। इस प्रकार से प्राचीन काल से हमारे देश में भारतीय संस्कृति में उद्घृत नैतिक मूल्यों पर गंभीरता से चिन्तन किया गया है। नीति–शास्त्र विषय में नैतिक मूल्यों पर विशेष बल दिया गया है। नैतिक मूल्यों से ही समाज को सुदृढ़ आधार प्रदान किया जा सकता है। नीतिशास्त्र लोक हितोपकारी है। वह समाज की स्थिति को अत्यधिक सु.ढ़ बनाए रखने में सक्षम है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का मूल है।[4]

नैतिक मूल्यों के माध्यम से सर्वाङ्गीण विकास किया जा सकता है और अच्छे संस्कार, आचरण को बनाये रखा जा सकता है, जिस प्रकार से नई पीढ़ी उद्देश्य हीन जीवन की ओर तीव्र गति से उन्मुख हो रही है। इसमें बदलाव लाने हेतु भारतीय संस्कृति की मूल्यों बोधक अवधारणा से प्रेरित करने की आवश्यकता है। नैतिक मूल्यों से ही समाज और राष्ट्र का विकास पूरी तरह से संभव है।

भारतीय संस्कृति के नीतिमार्गी सिद्धान्तों में उद्घृत है कि विवेक हीन लोगों का पतन चारों दिशाओं से होता है। मूर्खता का इस सृष्टि में कोई उपचार और औषधि नहीं है। जल्दबाजी में किए गए कार्यों का परिणाम हमेशा ही गलत हुआ है। बुद्धि हीन मनुष्य पशु के समान है। बुद्धिमान व्यक्ति सत्संगति पाकर नीति एवं व्यवहार के कुशल मार्ग को सीखता है क्योंकि वाणी ही मनुष्य का श्रेष्ठ आभूषण है। इस प्रकार से नैतिकता के गुण ग्रहण करने के लिए इच्छा शक्ति का होना अत्यधिक आवश्यक है।[5] दृढ़ संकल्प शक्ति वाला व्यक्ति कुशल प्रशासक बनता है। ऐसे लोग ही राष्ट्र–निर्माण में सहभागी होते है। हमें धर्म, दृढ़ संकल्प, सदाचार, दानशील, शौर्य, त्याग और यशस्वी बनने के गुणों का अनुकरण करना चाहिए और नैतिक पतन से उभरने के लिए नैतिक मूल्यों को अपनाना चाहिए। इस सृष्टि में जन्में हुए सभी व्यक्तियों के जीवन को सुदृढ़ और संस्कृत एवं परिष्कृत करने के लिए संस्कारों की आवश्यकता होती है।[6] हमारे प्रत्येक आचरण के मूल में विज्ञान ही विद्यमान है। भारतीय संस्कृति की चिन्तन परम्परा सदाचार, शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की आधारशिला है। आचारः प्रभवो धर्मः यह महर्षि व्यास का वचन है अर्थात् आचार से ही धर्म उत्पन्न हुआ है। आचार ग्राहयति इति आचार्यः ऐसा कहकर निरुक्तकार यास्क ने श्रेष्ठ जन और आचार्यों का कार्य आचार का पालन कराना है। भारतीय संस्कृति में आचार ही परम धर्म माना गया है।[7] अर्थात् आचारहीन मानव को वेद भी पवित्र नहीं करा सकता है। इसलिए चारों वर्णों के लिए धर्म का पालन जरूरी है। भारतीय जीवन पद्धति में नैतिक मूल्यों और संस्कारों को करने से शरीर और आत्मा विशेष रूप से सुसंस्कृत हो जाती है और मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। अतः संस्कार निश्चय ही उत्कृष्ठ संस्थान है।[8] यह हमारी भारतीय संस्कृति सुखमय जीवन जीने की कला का निर्माण करती है। यह मानव जीवन को उत्कृष्ट मानवीय मूल्यों के प्रति समर्पित करना सिखाती है। जीवन तो पशु–पक्षी, जीव–जन्तु भी काट लेते हैं, शरीर को नियंत्रित कर लेते हैं, किन्तु मन को नियंत्रित करना, उसे चिन्तन और आस्था द्वारा संचालित करना मानव के मानवता के उच्च आदर्शो को प्राप्त करना है। यहाँ तक नैतिक मूल्यों के लिए मानव में नितप्रतिदिन योगाभ्यास, संयम, सदाचार, व्रत–उपवास, उपासना, तपश्चर्या, इन्द्रिय–निग्रह, बड़े–छोटे का सम्मान आदि के बल पर व्यक्ति अधिकाधिक निर्मल, उदार, सद्गुणी, संयमी एवं परमार्थपरायण आचरण बनाये जा सकते हैं। इसी में सभी जीवों का कल्याण है।

सन्दर्भ :–

1. डॉ. रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का अलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल बेनीमाधव, इलाहाबाद, 1961, पृष्ठ 339
2. पं. ब्रह्मशंकरमिश्रः, शुक्रनीति, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र.सं. 1968, श्लोक 1–6, पृष्ठ 125
3. स्वामी सुबोधानंद, मानस के मोती, भाग–1, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई, 2019, पृष्ठ 25–27
4. वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और विज्ञान, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, 2006, पृष्ठ 41–42
5. डॉ. भीमराज शर्मा, शास्त्री, संस्कृत साहित्य में नैतिक शिक्षा एवं राष्ट्रीय–चेतना, पृष्ठ 6
6. शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, मनुस्मृतिः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2017, श्लोक 2/12, पृष्ठ 95
7. शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, मनुस्मृतिः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2017, श्लोक 1/7 एवं 1/108, पृष्ठ 90
8. वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर् निषेकादिर् द्विजन्मनाम्। कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।, शिवराज आचार्यः कौण्डिन्न्यायनः, मनुस्मृतिः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2017, श्लोक 2/26, पृष्ठ 99

स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला

मध्य प्रदेश राज्य, जिला सीधी, ग्राम चुरहट के निवासी धर्म विजयी राव साहब चुरहट श्री शिव बहादुर सिंह एवं श्रीमती सरस्वती देवी के ज्येष्ठ पुत्र श्री रणबहादुर सिंह का जन्म 21 दिसम्बर 1928 ई. को हुआ था। आपका बचपन से ही अध्यात्म की तरफ झुकाव स्पष्टतः परिलक्षित होने लगा था। ग्राम सरपंच और सीधी लोकसभा क्षेत्र के लोकप्रिय निर्दलीय सांसद सहित अनेक रूपों में आप समाज सेवा करते हुए अपने आध्यात्मिक जीवन को उत्तरोत्तर विकसित करते रहे। आपके प्रयास से रीवा नगर से 12 किलोमीटर दूर लक्ष्मणपुर लौआ ग्राम में स्वामी चिन्मयानन्द जी ने सन् 1983 ई. में एक वानप्रस्थ आश्रम की स्थापना की, जिसमें 60 वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् कोई भी व्यक्ति आकर आध्यात्मिक वातावरण का लाभ लेते हुए जीवन यापन कर सकता है। स्वयं राव साहब रणबहादुर सिंह जी 60 वर्ष की आयु पूर्ण कर समस्त सुख एवं वैभव को त्यागकर अपनी धर्मपत्नी सहित आश्रम के एक कुटिया में वानप्रस्थी के रूप में आकर रहने लगे। लगभग 12 वर्षों तक एक कुटिया में साथ रहने के पश्चात् विधाता की लेखनी के अनुसार सन् 1999 में आपकी लक्ष्मी स्वरूपा धर्मपत्नी श्रीमती कृष्णा कुमारी जी का स्वर्गवास हो गया। वस्तुतः राव साहब श्री रणबहादुर सिंह जी का जीवन पूर्व में ही संन्यस्त हो चुका था, किन्तु धर्मशास्त्रीय मान्यतानुसार संन्यासी को विधिवत् दीक्षा लेकर संन्यास ग्रहण करना चाहिए। एतदर्थ चिन्मय मिशन के अन्तर्राष्ट्रीय प्रमुख पूज्य स्वामी तेजोमयानन्द जी ने महाशिवरात्रि पर्व के दिन सन् 2003 ई. को वानप्रस्थ रणबहादुर सिंह जी को वैदिक मंत्रोच्चार तथा धार्मिक विधि से संन्यास की दीक्षा दी। तत्पश्चात् श्री रणबहादुर सिंह जी का नामकरण स्वामी प्रशान्तानन्द जी के रूप में हुआ। लोककल्याण और लोग संग्रह का पर्याय रूप पूज्य स्वामी प्रशान्तानन्द जी का जीवन हम सभी के लिए सदैव प्रेरणास्रोत रहेगा।

परम पिता परमेश्वर एवं पूज्य स्वामी प्रशान्तानन्द जी की कृपा से दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) में "स्वामी प्रशान्तानन्द व्यावहारिक वेदान्त व्याख्यानमाला" की स्थापना हेतु स्थायी निधि के रूप में रूपये 50,000/– (पचास हजार) मात्र परिषद् के खाता में जमा करा दिया गया है। चूँकि स्वामी जी जीवन पर्यन्त वेदान्त की, विशेषकर अद्वैत वेदान्त की, युवा वर्ग के जीवन में उपयोगिता को लक्ष्य कर अपना संदेश देते रहे, इसलिए परिषद् से मेरा आग्रह है कि व्याख्यान मुख्यतः युवावर्ग में वेदान्त की उपयोगिता पर केन्द्रित हो।

यद्यपि प्रत्येक कार्य का वास्तविक प्रवर्तक अथवा कर्त्ता तो परमात्मा ही होता है किन्तु वह कार्य विशेष के लिए निमित्त अवश्य बनाता है। बहुत विनम्रता पूर्वक यह आग्रह है कि इस व्याख्यानमाला का प्रवर्तन प्रो. श्रीकान्त मिश्र, अध्यक्ष दर्शन विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा (म.प्र.) तथा वर्तमान सचिव, दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़) द्वारा किया जा रहा है।

ओम् तत् सत्।

स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव स्मृति योग व्याख्यानमाला

स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव जी का जन्म सन् 1870 में शरद पूर्णिमा को मंदरासार गाँव में हुआ था किन्तु बाद में फरीदपुर जिला के दासेर जंगल के पास विनोटिया ग्राम में आपका निवास हुआ। आपके पिता का नाम श्री तारणीचरण गंगोपाध्याय एवं माता का नाम श्रीमती नवदुर्गा देवी था। यद्यपि बचपन का नाम विप्रदेव शर्मा था, परन्तु बाद में काली किशोर शर्मा हो गया। आप साधरण गृहस्थ थे तथा मात्र सात रुपये महिने में किसी जमींदार के बच्चों को पढ़ाते थे। बचपन से ही परमहंस श्री रामकृष्ण जी महाराज की फोटो के सामने बैठकर ध्यान करना एवं आध्यात्मिक पुस्तकें पढ़ना आपको बहुत प्रिय था। धीरे–धीरे जब तीव्र वैराग्य का उदय हुआ तो गृहस्थी त्यागकर आप गुरु की खोज में काशी के लिए निकल पड़े। रास्ते में ही दिव्य स्वप्न हुआ कि पुरी जाओ और गुरु से मिलो। काशी यात्रा छोड़ आप पुरी के लिए चल पड़े। पुरी पहुँचकर खोज करते हुए स्वामी गंगाधर तीर्थ

जी महाराज से मिले। गंगाधर तीर्थ जी द्वारा पूछने पर अपने परिवार के सम्बन्ध में मिथ्या भाषण करते हुए स्वयं को अकेला बतलाया तथा उनसे संन्यास एवं शक्तिपात दोनों की दीक्षा प्राप्त कर स्वामी श्री नारायण देव तीर्थ नाम से सन्यस्त हो गये।

एक दिन गुरु जी ध्यान में उनके पारिवारिक स्थिति को देखकर बहुत क्रुद्ध हुए और उन्हें लताड़ लगाते हुए कहा कि "जाओ, तुम्हारी क्रियाएँ बन्द हो जाएँ, जैसे थे वैसे ही हो जाओ।" नारायण तीर्थ जी ने बहुत अनुनय विनय किया परन्तु गुरु पर उसका कोई असर नहीं हुआ। ग्लानिवश नारायण तीर्थ जी ने समुद्र के किनारे बैठकर अन्न, जल त्यागते हुए शरीर त्यागने की ठान ली। उनके हठ को देखकर गुरु जी ने बुलाया और कहा कि "ऐसी प्रतिज्ञा क्यों कर डाली।" नतमस्तक दशा में नारायण तीर्थ जी ने कहा कि आपकी कृपा पाने को यह प्रतिज्ञा की थी, अन्यथा आप मुझे वापस भेज देते। गुरु जी ने कहा कि "मेरा वचन झूठा नहीं हो सकता। कलिकाल में एक युग 12 वर्ष का होता है, अतः 12 वर्ष बाद मेरी दी हुई दीक्षा शक्ति पुनः क्रियावती होगी एवं तुम्हारे सकल मनोरथ सिद्ध करेगी। तुम पर भगवान की बहुत कृपा है। वापस जाकर गृहस्थ धर्म का पालन करो।" तब स्वामी श्री नारायण तीर्थ जी ने पूछा कि 12 वर्ष बाद आप कहाँ मिलेंगे? गुरु जी ने कहा कि "अब मिलने की आवश्यकता नहीं है, 12 वर्ष बाद स्वयं क्रियाएँ होने लगेंगी।"

गुरु को दण्डवत् प्रणाम कर स्वामी नारायण तीर्थ जी वापस आए और विनोटिया में काली मंदिर के पास एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे तथा गुरु प्रदत्त मंत्र का जाप एवं साधना करने लगे। एक दिन अपनी बहन के साथ झोपड़ी में बैठे थे कि मुर्च्छा आ गई और बहन की गोद में गिर पड़े। जब मुर्च्छा टूटी तो अनेक क्रियाएँ अपने आप होने लगीं।

सन् 1913 में उन्होंने काली मन्दिर का नाम "ज्ञानसंथम" रख दिया। स्वामी नारायण तीर्थ देव जी ने अपने अनन्य भक्त ब्रह्मचारी श्री आत्मप्रकाश, बाद में श्री शंकरपुरुषोत्तम तीर्थ जी महाराज, काशी एवं श्री योगानन्द जी महाराज, ऋषिकेष, मात्र दो को ही गुरुपद प्राप्त शिष्य बनाया। 1919 में स्वामी नारायण तीर्थ देव जी की इच्छा पर उनके अनन्य शिष्य स्वामी योगानन्द (योगेन्द्र विज्ञानी) महाराज ने हरिद्वार तथा ऋषिकेष के दर्शन कराये। वहाँ से वापस स्वामी जी विनौटिया में ही रहने लगे, जहाँ 1935 में इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज, इनके गुरु पूज्य श्री स्वामी शंकर पुरषोत्तम तीर्थ जी महाराज तथा स्वामी पुरुषोत्तम तीर्थ जी के गुरु स्वामी नारायण तीर्थ देव जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि योग विज्ञान की उपादेयता को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

श्री रमण महर्षि व्याख्यानमाला

भारत के तामिलनाडु प्रान्त में मदुरै से 30 मील दक्षिण तिरुचुली नामक एक गाँव है, जहाँ एक प्राचीन शिव मंदिर है, जिसकी अभ्यर्थना महान तमिल संत एवं कवि सुन्दरमूर्ति एवं माणिक्क वाचकर ने अपने गीतों में किया है। उन्नीसवीं सदी के अन्त में इस पवित्र गांव में सुन्दर अय्यर नामक वकील एवं उनकी पत्नी अलगम्माल रहते थे। ये आदर्श दम्पति भक्ति, उदारशीलता एवं दानशीलता से युक्त थे। सुन्दर अय्यर बहुत ही उदार थे, जबकि अलगम्माल एक आदर्शपत्नी थीं। वेंकटरामन, उनसे द्वितीय पुत्र के रूप में पैदा हुए जो बाद में समस्त विश्व में भगवान श्री रमण महर्षि के रूप में जाने गये। उनका जन्म आरुद्रा–दर्शन के दिन 30 दिसम्बर 1879 को हुआ। प्रत्येक वर्ष इस पावन दिन को नटराज शिव की मूर्ति जनसामान्य के दर्शन हेतु एक समारोह के रूप में निकाला

जाता है ताकि लोग शिव के अनुग्रह को अनुभव एवं प्राप्त कर सकें। आरुद्रा (1879) के दिन नटराज की मूर्ति तिरुचुली के मंदिर से विभिन्न समारोह के साथ नगर में निकली थी तथा पुनः मंदिर में प्रवेश करने वाली थी, उसी क्षण वेंकटरामन का जन्म हुआ।

जीवन के आरम्भिक वर्षो में वेंकटरामन में कुछ भी उल्लेखनीय नहीं था। उन्हें तिरुचुली के एक प्राइमरी स्कूल में तथा बाद में दिण्डुक्कल के एक स्कूल में भेजा गया। जब वे बारह वर्ष के थे तो उनके पिता का देहावसान हो गया। ऐसी स्थिति में उन्हें परिवार सहित अपने चाचा सुब्ब अय्यर के साथ मदुरै में रहने की आवश्यकता पड़ी। मदुरै में उन्हें पहले स्काट मीडिल स्कूल तथा बाद में अमेरिकन मिशन हाईस्कूल में भेजा गया। वेंकटरामन ने बचपन से ही अपनी अन्तः स्फुर्णा से अनुभव किया कि अरुणाचल कुछ महान, रहस्यमय एवं पहुँच से बाहर है। उनकी आयु के सोलहवें वर्ष में एक वृद्ध रिश्तेदार उनके घर मदुरै पहुँचे। वेंकटरामन ने उनसे पूछा कि वे कहाँ से आये हैं। 'अरुणाचल से', रिश्तेदार का उत्तर था। अरुणाचल के नाम मात्र से वेंकटरामन रोमांचित हो गये तथा अपनी उत्तेजना में उन्होंने कहा "क्या? अरुणाचल से! यह कहाँ हैं?" उनको उत्तर मिला कि तिरुवण्णामलै ही अरुणाचल है। उस घटना का वर्णन बाद में ऋषि अपनी रचना अरुणाचल स्तुति में करते हैं।

वेंकटरामन के ध्यान को अरुणाचल पर आकर्षित करने की इस घटना के शीघ्र बाद एक दूसरी घटना घटी, जिसने उनकी आध्यात्मिक उत्कंठा को तीव्र किया। उन्हें पेरिय पुराण की तमिल पुस्तक देखने को मिली जो प्रसिद्ध 63 शैव संतो के जीवन का वर्णन करती है। पुस्तक पढ़ते ही वह रोमांचित हो उठे। संतो के उदाहरण ने उन्हें रोमांचित किया तथा उनके ह्रदय को स्पर्श किया। 16 वर्ष की किशोर आयु में महर्षि ने मृत्यु के अनुभव मे सहज आत्म–विचार द्वारा आत्म–ज्ञान की प्राप्ति के बाद घर छोड़कर अरुणाचल में एक साधु का जीवन अपनाया तथा वहाँ वे अपने जीवन पर्यन्त रहे।

14 अप्रैल 1950 की रात्रि को आठ बजकर सैंतालिस मिनट पर जब महर्षि रमण महाप्रयाण को प्राप्त हुए, उनकी महासमाधि के समय आकाश मे एक तीव्र ज्योति का तारा उदय हुआ एवं अरुणाचल की दिशा में अ.श्य हो गया।

आध्यात्मिक जगत् के सूर्य सम्पूर्ण विश्व में सुविख्यात एवं आध्यात्मिक पथिकों के मार्गदर्शक श्री रमण महर्षि के अनुयायी तथा उनके शिक्षाओं से अनुप्राणित डॉ. गौतम कलोत्रा, दर्शन विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली द्वारा इस व्याख्यानमाला का प्रवर्तन किया गया है। इस हेतु डॉ. कलोत्रा द्वारा परिषद् को रूपये 50000/– की राशि स्थाई निधि के रूप में प्रदान की गई है तथा अपेक्षा की गई है कि परिषद् के वार्षिक अधि विशनों में अद्वैत वेदान्त तथा श्री रमण महर्षि के विचारों पर व्याख्यान आयोजित किया जाय।

स्वामी श्री विष्णुतीर्थ स्मृति वेदान्त व्याख्यानमाला

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज का जन्म हरियाणा के झज्जर तहसील में तिथि विजयादशमी को ब्रह्म मुहूर्त में हुआ था। आपके पिता जी रेलवे में स्टेशन मास्टर थे। आप अपने पिता जी के साथ रायपुर, जबलपुर आदि जगहों पर रहते हुए बी.ए., एम.ए. (गणित) तथा एल.एल.बी. तक की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त कुछ दिनो तक वकालत किए व स्वतंत्रता संग्राम आन्दोलन में भी भाग लिए। तत्पश्चात् शिक्षा विभाग में सहायक हेडमास्टर रहे। अपनी धर्मपत्नी के देहावसान के पश्चात् स्वामी श्री योगानन्द जी महाराज, ऋषिकेश से योग की दीक्षा प्राप्त कर चार वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। इसके बाद वाराणसी के स्वामी श्री पुरुषोत्तम तीर्थ जी महाराज से सन्यास की दीक्षा प्राप्त कर परिव्राजक रहे और भारत भ्रमण करते रहे। आपने सन् 1948 से मध्यप्रदेश के देवास जिले की नारायणकुटी में जीवन पर्यन्त निवास किया और 1969 में समाधि ली।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने दादा गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद्

म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,100/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यानमाला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि वेदान्त दर्शन के व्यावहारिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ नीति दर्शन व्याख्यानमाला

श्री प्रसन्न कुमार चट्टोपाध्याय एवं श्रीमती दुर्गा सुंदरी चट्टोपाध्याय नामक दम्पति के घर स्वामी शंकर पुरुषोत्तम जी का जन्म वैशाख शुक्ल षष्ठी सोमवार संवत् 1811 (सन् 1890) में जिला लक्ष्मीपुर, त्रिपुरा में हुआ था। स्वामी जी के बचपन का नाम रोहिणी कुमार चट्टोपाध्याय था। बचपन में ही माँ काली की पूजा करते समय आप ध्यान मग्न हो गये थे और समाधि में चले गए थे। इस अवस्था का अनुभव करने के पश्चात् आपने संसारी जीवन में प्रवेश न कर आजीवन बाल ब्रह्मचारी रहने का निर्णय किया और वैसा ही जीवन व्यतीत किया।

बाल्यावस्था के पश्चात् गुरु की खोज में महात्माओं की संगति हुई और यह बोध हुआ कि श्री रामकृष्ण परमहंस का पूजन व निवेदन कर कृपा प्राप्त करने पर गुरु की प्राप्ति अवश्य होगी। किशोर रोहिणी ने श्री रामकृष्ण परमहंस का चिन्तन व आराधना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन तन्द्रा में उन्हें लम्बे कद, लम्बी दाढ़ी एवं सांवले रंग के श्री रामकृष्ण जी का दर्शन हुआ। इसके थोड़े ही दिन पश्चात् रोहिणी कुमार चट्टोपाध्याय को ज्ञात हुआ कि बिनौटिया जिला फरीदपुर में निवासरत एक प्रतापी संत हैं। रोहिणी संत से मिलने पहुँच गए। ये संत वही थे जिन्होंने सपने में उन्हें दर्शन दिया था। इनका नाम था स्वामी नारायण तीर्थ देव जी महाराज। रोहिणी ने स्वामी नारायण तीर्थ जी को अपना गुरु मानकर उनसे शिक्षा प्राप्त करते हुए उनकी सेवा में तत्पर हो गए। सन् 1910 मार्ग शीर्ष संक्रान्ति में गुरु द्वारा शक्तिपात की शिक्षा दी गई तथा शिवमंत्र, शक्तिमंत्र एवं गुरुमंत्र कान में बतला दिया गया। अक्षय तृतीया को ब्रह्मचर्य की दीक्षा देकर ब्रह्मचारी आत्मानन्द प्रकाश नाम प्रदत्त किया। इनका अध्यात्मानुराग, संसार से विरक्ति, गुरु प्राप्ति का लगन, ब्रह्मचर्य एवं गुरु सेवा अनुकरणीय है। गुरु परिवार, अतिथि एवं आश्रम की सुव्यवस्था आदि को आप गुरु सेवा ही समझते थे। आठ वर्ष तक गुरु के सान्निध्य में रहकर साधना करने के पश्चात् गुरुपद एवं दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त कर आश्रम से जाने की अनुमति प्राप्त हुई। सन् 1926 में गोवर्धन पीठ पुरी के शंकराचार्य श्री स्वामी भारती कृष्ण जी महाराज से दीक्षा प्राप्त हुई तथा पीठ के उत्तराधिकारी पद के अधिकारी बने। सन्न्यास दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त आपका नामकरण स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज के रूप में हुआ।

1931 ई. में स्वामी जी ने उत्तरकाशी में आश्रम स्थापित किया। 1932 ई. में वाराणसी में आपके द्वारा शंकरमठ की स्थापना हुई, जहाँ पर श्री काली जी ने दर्शन दिया। यहीं पर स्वामी जी ने सिद्धयोग–साधन–संस्थान की भी स्थापना की। स्वामी जी आजीवन लोकसंग्रह के कार्यों में संलग्न रहते हुए दिनांक 28.09. 1958 को इस नश्वर शरीर का वाराणसी में परित्याग किया, जिसे मणिकर्णिका घाट में जल समाधि दी गई।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज तथा इनके गुरु पूज्य श्री स्वामी शंकर पुरषोत्तम तीर्थ जी महाराज के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,150/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि भारतीय दर्शन के नैतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज योग व्याख्यानमाला

काठियावाड़–जूनागढ़ राज्य के विरावल प्रभारा पट्टन् के ब्राह्मण परिवार में जन्मे 108 श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी के बचपन का नाम दयाशंकर था। आपके पिता श्री शंकरलाल अवदीच्य तथा माता श्रीमती महादेवी जी ने प्रारम्भिक शिक्षा हेतु पास के पाठशाला में भेजा, जहाँ आपने गुजराती, हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। बचपन से ही साधुओं की सेवा, सत्संग तथा शिवालयों व मंदिरों में जाकर घंटो ध्यान करना बालक दयाशंकर के आध्यात्मिक स्वभाव का परिचायक था। शनैः शनैः माता–पिता व अध्यापकों के मार्गदर्शन में बालक बड़ा होता रहा। किन्तु एक दिन अचानक पिता का देवलोकगमन हो गया, जिसके कारण दयाशंकर की पढ़ाई बंद हो गयी। अब दयाशंकर अपने बड़े भाई के साथ गृहकार्य में संलग्न हो गए। परन्तु पर्याप्त आय न होने के कारण चाचा के साथ बम्बई आ गए और उनके साथ दुकानदारी करने लगे, किन्तु सत्यनिष्ठा आड़े आने के कारण दयाशंकर गृहग्राम वापस आ गए।

दयाशंकर का जन्म उसी प्रभाष क्षेत्र में हुआ था, जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अपनी लीला संवरण की थी। उस क्षेत्र में गोमती नदी के किनारे एक मठ था, जिसका मठाधीश स्वामी श्री 108 श्री त्रिविक्रम स्वामी जी महाराज थे। सन् 1909 में युवा दयाशंकर जी भी गृहत्याग कर इसी मठ में आ गए और स्वामी श्री त्रिविक्रम जी के सान्निध्य में निवास करते हुए सेवाकार्य में लग गए। एकबार श्री त्रिविक्रम जी ने दयाशंकर को कहा कि बिखरे हुए शिवलिंगों को गोमती में प्रवाहित कर दो, जिसका अनुपालन करते हुए दयाशंकर ने उन शिवलिंगों को गोमती में प्रवाहित कर दिया, जबकि अन्य शिष्य गुरु के इस आदेश की अवहेलना कर जाते थे। दयाशंकर की निष्ठा देखकर श्री त्रिविक्रम जी ने उन्हें "बड़ा सिद्ध योगी" बनने का आशीर्वाद देते हुए उनकी रुचि पूछा। दयाशंकर ने उनसे योग सीखने की याचना की। श्री त्रिविक्रम जी के आदेश से सन् 1911 में श्री आत्मानन्द सरस्वती जी से हठयोग की शिक्षा प्राप्त करना प्रारम्भ किया। थोड़े दिन में ही विभिन्न दुरूह आसन एवं प्राणायाम में सिद्ध होकर आप अन्य योग गुरुओं से भी योग की शिक्षा प्राप्त करते रहे। वस्तुतः इनके आध्यात्मिक जीवन में अनेक साधुओं व महात्माओं का साथ हुआ और सभी से आपने कुछ–न–कुछ सीखा। किन्तु 1913 में मिले बाबा श्री कृष्णानन्द का साथ मिलने पर दयाशंकर ने इन्हें अपना गुरु मान लिया। जिनके साथ हरिद्वार, ऋषिकेश आदि स्थानों में विचरण करते हुए बाबा श्री कृष्णानन्द जी उन्हें लेकर 1918 में स्वामी श्री नारायण तीर्थ देव जी महाराज फरीदपुर जिले के दासेर जंगल के पास विनोटिया ग्राम पहुँचे, जहाँ नारायण तीर्थदेव जी ने शक्तिपात कर इन्हें पूर्ण योगी बनाया। तत्पश्चात् गुरु पद भी प्राप्त हुआ। अब इनका नामकरण 108 श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी महाराज के रूप में हुआ। जीवन पर्यन्त योग का प्रचार–प्रसार करते हुए तथा समाज सेवा करते हुए आपने "महायोग विज्ञान" नामक एक ग्रन्थ की भी रचना की। सन् 1934 में स्वामी श्री कृष्णानन्द जी से बिछोह हुआ, तत्पश्चात् 26 जून 1938 को आपने इस नश्वर शरीर का त्याग कर दिया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने गुरु प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव श्री स्वामी तारकेश्वरानंद तीर्थ जी महाराज के गुरु परम पूज्य श्री स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज तथा इनके योग गुरु स्वामी श्री योगेन्द्र विज्ञानी जी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि योग के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

संत कबीरदास दर्शन व्याख्यानमाला

संत कबीरदास 15वें सदी के रहस्यवादी कवि और संत थे। वे हिन्दी साहित्य के भक्ति काल के एक महत्वपूर्ण कवि हैं। एक मान्यता के अनुसार इनका जन्म 1398 ई. उत्तर प्रदेश के वाराणसी में लहरतारा नामक स्थान पर हुआ था। कबीरदास जी का पालन पोषण जुलाहा दम्पति नीरू और नीमा ने किया। कबीर का विवाह लोई नामक महिला से हुआ जिससे उन्हें कमाल और कमाली के रूप में क्रमशः पुत्र एवं पुत्री पैदा हुए। कबीरदास के गुरु प्रसिद्ध वैष्णव संत रामानन्द जी थे। कबीरदास जी का स्वर्गवास मगहर में 1518 ई. में माना जाता है। कबीरदास की रचनाओं में बीजक रचना (साखी, सबद, रमैनी तीन भाग), शब्दावली, कबीर ग्रन्थावली आदि महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने अपनी रचनाओं में सधुक्कड़ी भाषा का उपयोग किया।

कबीरदास जी निर्गुण, निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे। इनका मानना था कि ईश्वर कण–कण में विद्यमान है। यही कारण है कि वे अवतारवाद, बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा का खण्डन करते थे। उनके काव्य में समाज सुधार की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास की निन्दा की और सामाजिक बुराइयों की कड़ी आलोचना की थी तथा एक अनूठी जीवन शैली से समाज का परिचय कराया। यह जीवन शैली आडम्बर की नहीं, प्रत्युत् अपने आप को जानने की शैली है। यही कारण है कि संत कबीरदास आज भी प्रासंगिक हैं और भविष्य में भी प्रासंगिक बने रहेंगे।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा संत कबीरदास जी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि ा के रूप में रुपये 50,151/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि संत कबीरदास के दर्शन को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

संत रविदास व्याख्यानमाला

संत रविदास का जन्म 14वीं शताब्दी में काशी में माघ पूर्णिमा के दिन हुआ था। ये भारतीय संत परम्परा के एक महान संत, समाज सुधारक थे। इनके पिता का नाम संतोष दास और माता का नाम कलसा देवी था, पत्नी का नाम श्रीमती लोना जी और पुत्र का नाम श्री विजय दास था। रविदास जी चर्मकार कुल से होने के कारण जूते बनाने का कार्य करते थे। ऐसा करने में इन्हें बहुत खुशी मिलती थी और वे पूरी लगन तथा परिश्रम से अपना कार्य करते थे। उनकी समयानुपालन की प्रवृत्ति तथा मधुर व्यवहार के कारण उनके सम्पर्क में आने वाले लोग बहुत ही प्रसन्न रहते थे। बाल्यकाल से ही रविदास जी बहुत परोपकारी तथा दयालु थे और दूसरो की सहायता करना उनका स्वभाव बन गया था। साधु–सन्तों की सहायता करने में उन्हे विशेष आनन्द मिलता था। वे उन्हें प्रायः मूल्य लिये बिना जूते भेंट कर दिया करते थे। उनके इस स्वभाव के कारण उनके माता पिता उनसे अप्रसन्न रहा करते थे। इसी कारण उन्होंने कुछ समय पश्चात् रविदास और उनकी पत्नी को घर से निकाल दिया। रविदास पड़ोस में ही अपने लिए एक अलग घर बनाकर तत्परता से अपने व्यवसाय का काम करने लगे। व्यवसाय के उपरान्त उनका शेष समय ईश्वर भजन और साधु–सन्तों के सत्संग में व्यतीत होने लगा। संत कबीर की प्रेरणा से स्वामी रामानन्द जी महाराज को अपना गुरु बनाकर रविदास ने आध्यात्मिक ज्ञान अर्जित किया। संत रविदास का विश्वास था कि ईश्वर की भक्ति के लिए सदाचार, परहित–भावना तथा सद्व्यवहार का पालन करना अति आवश्यक है। अभिमान त्याग कर दूसरों के साथ व्यवहार करने और विनम्रता तथा शिष्टता के गुणों का विकास करने पर उन्होंने बल दिया। संत रविदास की वाणी भक्ति की सच्ची भावना, समाज के

व्यापक हित की कामना तथा मानव प्रेम से ओत प्रोत है साथ ही उनकी वाणी में सामाजिक भेद–भाव, अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियों का दृढ़ता के साथ विरोध भी दृष्टिगोचर होता है। उनके इन विचारों का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। 15वीं शताब्दी में इस महामानव का देहावसान हो गया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा संत रविदास जी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि संत कबीरदास के दर्शन को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

तैलंग स्वामी योग व्याख्यानमाला

तैलंग स्वामी भारत के एक महान योगी थे। इनका जन्म आन्ध्रप्रदेश के विजियाना नामक जनपद के होलिया नामक गाँव में 17वीं शताब्दी में हुआ था। इनकी माता भगवान शिव की उपासिका थीं। भगवान शिव के कृपा स्वरूप इनका जन्म मानने के कारण इनका नाम शिवराम रखा गया। बचपन से ही सहज वैराग्य एवं विषय विरक्ति का इनका स्वभाव था, जिसे इनकी माता भी समझती थीं। अपने इसी स्वभाव के कारण ये अविवाहित रहे। जब ये 40 वर्ष के हुए तभी इनके पिता का देहांत हो गया। उस समय अपनी माँ के कहने पर शिवराम ने भगवती काली की उपासना शुरू की। शिवराम की अपनी माता से इतना प्रेम था कि माँ के देहांत के बाद ये श्मशान में ही रहने लगे और वहीं अपनी साधना प्रारम्भ कर वहाँ 20 वर्ष तक साधना करते रहे। संयोगवश पंजाब के स्वामी भागीरथानंद सरस्वती से इनकी मुलाकात हुई और उनके साथ इन्होंने अपने गृह ग्राम होलिया का सदा के लिए परित्याग कर दिया। अनेक प्रदेशों का भ्रमण करते हुए ये दोनों पुरुष पुष्कर तीर्थ पहुँचे। वहीं पर 78 वर्ष की आयु में शिवराम ने भागीरथ स्वामी से संन्यास की दीक्षा ली तथा इनका नया नामकरण हुआ गणपति सरस्वती। दीक्षा ग्रहण करने के बाद ये गंभीर साधना में निमग्न हो गये। भागीरथानंद सरस्वती का पुष्कर तीर्थ में ही देहांत हो गया। इस पवित्र क्षेत्र में लगभग दस वर्षों तक कठोर साधना करने के बाद ये भारत के प्रसिद्ध तीर्थों की परिक्रमा के लिए निकले। इस समय इनकी आयु 88 वर्ष की थी। इस उम्र में भी उनका शरीर पूरी तरह सुगठित था और बुढ़ापा का कोई चिह्न नहीं था। इसके बाद नेपाल, तिब्बत, गंगोत्री, यमुनोत्री, मानसरोवर आदि क्षेत्रों में कठोर साधना करके इन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। नर्मदा घाटी, प्रयागराज आदि अनेक तीर्थ स्थानों में निवास एवं साधना करते हुए अन्ततः ये काशी पहुँचे। आन्ध्र प्रदेश के तैलंग क्षेत्र से आने के कारण काशी के लोग इन्हे तैलंग स्वामी के नाम से पुकारने लगे और इस प्रकार इनका नाम तैलंग स्वामी प्रसिद्ध हो गया। ऐसी मान्यता है कि इन्होंने 150 वर्षों तक काशी में प्रवास किया। काशी प्रवास के दौरान इनसे मिलने अनेक महान संत आये जिसमें रामकृष्ण परमहंस, लाहड़ी महाशय, स्वामी विवेकानन्द, लोकनाथ ब्रह्मचारी, बेनी माधव ब्रह्मचारी, महेन्द्रनाथ गुप्त, स्वामी अभेदानंद, भास्करानंद, विशुद्धानंद जैसे आध्यात्मिक विभूतियाँ प्रमुख हैं। तैलंग स्वामी से प्रभावित होकर रामकृष्ण परमहंस ने इन्हें काशी के सचल महादेव की उपाधि दी। काशी के इस महान योगी का 300 वर्ष की अवस्था में 1887 ई0 में महासमाधि हुई।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा तैलंग स्वामी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि योग दर्शन को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

स्वामी तारकेश्वरानन्द वेदान्त व्याख्यानमाला

पूज्य स्वामी तारकेश्वरानन्द जी का जन्म सन् 1928 ई. में राधा अष्टमी को ग्राम बोपनिया, जिला रोहतक, पंजाब में हुआ था। आपके पिताजी सरदार भगत सिंह के क्रान्तिकारी सहयोगी थे। जब अंग्रेजों का दबाव बढ़ा तो रोहतक छोड़कर आप होल्कर स्टेट में रहने लगे थे। आपकी प्राथमिक शिक्षा गरोथ, जो कि वर्तमान में जिला मंदसौर, मध्य प्रदेश में है, में हुई थी। माध्यमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा आपने इन्दौर से प्राप्त की। आपने सन् 1948 ई. में पी एम टी की परीक्षा उत्तीर्ण कर होल्कर स्टेट नॉमिनी के रूप में इन्दौर मेडिकल कॉलेज में एम बी बी एस की पढ़ाई प्रारम्भ की। सन् 1950 ई में आपका विवाह पुष्पा जी के साथ हुआ। 1953 ई. में एम बी बी एस पास करने के उपरान्त उसी वर्ष जून 1953 में पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री विष्णुतीर्थ जी महाराज के सम्पर्क में आये तथा उनसे शक्तिपात की दीक्षा प्राप्त किये। सन् 1958–59 में टी सी एम छात्रवृत्ति से यू एस ए (अमेरिका) में अध्ययन एवं शोध किया। सन् 1960 में शक्तिपात दीक्षा देने का अधिकार (गुरुपद) प्राप्त हुआ। अध्यात्म के क्षेत्र में उच्चतम स्थान ग्रहण करते हुए बहुत से भाग्यवानों को अध्यात्म के मार्ग पर आगे बढ़ाते हुए आपने दिनांक 09.10.2018 को इस नश्वर शरीर का परित्याग किया।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने परम पूज्य गुरुदेव स्वामी श्री तारकेश्वरानन्द जी के नाम से इस व्याख्यान माला का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,151/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। व्याख्यान माला के मुख्य वक्ताओं से डॉ. सिंह की यह अपेक्षा है कि वेदान्त दर्शन को केन्द्रित कर सर्व साधारण के मार्ग दर्शन हेतु अपना व्याख्यान प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे।

श्री श्याम सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला

स्वर्गीय श्री श्याम सिंह नेगी का जन्म उत्तर प्रदेश से पृथक् हुए देवभूमि कहे जाने वाले नए राज्य उत्तराखंड के पौड़ी गढ़वाल जिले के लैंसडाउन में अनुमानित 1907 में हुआ और अवसान दिनांक 5 दिसंबर 2009 में सागर मध्यप्रदेश में हुआ।

प्राकृतिक सौंदर्य से भरी पहाड़ी जमीन फल, फूलों से भरपूर है, परंतु मशीन की कमी लोगों को पारिवारिक पोषण के लिए मैदान में उतरने को विवश कर देती है। आठवी पास करने के बाद अपने छोटे भाई का हाथ पकड़, एक अंग्रेज अधिकारी के प्रभाव में पुलिस में भर्ती होने के लिए छोटे नागपुर आ गए। छोटे भाई ने नागपुर और उन्होंने छिंदवाड़ा से अपनी नौकरी की शुरुआत की। 45 वर्षों की सेवा के पश्चात् वे सागर के पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय के विधि विभाग से विधि के शिक्षक के रूप में सेवानिवृत्त हुए। गुलामी से आजादी की ओर संक्रमण की दास्तान, आर्थिक विपन्नता की पारिवारिक पृष्ठभूमि और उतार–चढ़ाव से भरे हुए जीवन के बावजूद शिक्षा के प्रति उनकी रुचि इतनी गहरी थी कि वह पहाड़ से अपने रिश्तेदारों के बच्चों को बुलाकर उनके अध्ययन का खर्च स्वयं वहन करते थे। अपने कार्यकाल के दौरान विस्तृत जनसंपर्क के कारण उन्होंने अंग्रेजी, हिंदी, संस्त और मराठी में संभाषण की रोचक शैली विकसित कर ली थी।

जिस समय उत्तर भारत में स्वामी दयानंद की शिक्षाओं का व्यापक जन प्रसार हो रहा था, तब वे भी स्वामी दयानंद के विचारों से अभिभूत हुए बिना नही रह सके। सागर की पुलिस ट्रेनिंग कॉलेज में मध्य प्रदेश कैडर के प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण देते हुए भी, वे सुबह शाम आर्य समाज मंदिर के लिए समय निकाल लेते थे। 15 मई 1965 ई. को जब वे सेवा निवृत्त हुए तब उन्होने सागर जिले के आर्य समाज मंदिर के प्रधान पद

को सुशोभित किया और राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब और महाराष्ट्र के आर्य समाजी शिविरों में अपने उद्‌बोधन से लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

वैदिक ज्ञान के प्रति उनकी अगाध निष्ठा के स्मृति स्वरूप श्याम सिंह नेगी जी के सुपुत्र प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी, भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर एवं दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) ने अपने पिता के नाम से इस वैदिक व्याख्यान माला का प्रवर्तन किया है। इस हेतु प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी जी ने परिषद् को रुपये 50000/ मात्र स्थाई निधि के रूप में प्रदान किया है।

श्री कीर्तियोग व्याख्यानमाला

श्रीकीर्तियोग व्याख्यानमाला का प्रवर्तन हमारे परिषद् के संस्थापक सदस्यों में से एक आदरणीया मैडम छाया राय, पूर्व अध्यक्ष, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर द्वारा अपने पिता श्री कीर्तिभानु राय एवं माता जी 'श्री' के स्मृति में किया गया है तथा अपेक्षा की गयी है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशन में योग से सम्बन्धित विषय पर व्याख्यान आयोजित किया जाय। इस हेतु प्रो. राय ने स्थाई निधि के रूप में रुपये 50000/ परिषद् को प्रदान किए हैं। इस व्याख्यानमाला का परिचय जिस प्रकार प्रो. छाया राय जी ने मुझे भेजा था, जस का तस आपके समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है–

मैंने यह व्याख्यान माला अपने माँ–बाबू जी की स्मृति में उन्हें श्रद्धा–सुमन अर्पित करने हेतु प्रारम्भ की है, क्योंकि मेरे व्यक्तित्व–निर्माण में उनका योगदान अविस्मरणीय है। उनसे ही मुझे सृजनात्मक चिन्तन, सद्भावनाओं के पोषण और सत्कर्म करने की शिक्षा मिली।

विश्वविख्यात पुरातत्त्ववेत्ता राय बहादुर डॉ. हीरालाल जी ने अपने इन्कम टैक्स कमिश्नर भाई के चार पुत्रों में से एक को डॉक्टर, दूसरे को वकील, तीसरे को इन्जीनियर बनाया, पर पिता जी को हवेली व जंगल सहित बन्धा गाँव खरीदकर प्रोत्साहित किया। इस गाँव का नाम ब्रिटिश शासन ने दादा जी के सम्मान में "हीरापुर (बंधा)" रखा। हीरापुर बन्धा के मालगुजार रहते हुए पिता जी ने ब्रिटिशकालीन मालगुजारों की तरह गरीबों का शोषण न करते हुए, ग्रामवासियों के हित में कार्य किया। उदाहरणार्थ सामाजिक ऊँच–नीच का भेद न करते हुए सभी एक ही कुँए से पानी पियेंगे। दादी द्वारा स्थापित शिव मन्दिर में ऊँच–नीच का भेद न करते हुए सभी पुजन–अर्चन करेंगे। आज भी हमारी पीढ़ी–दर–पीढ़ी गाँव के मन्दिर में नियुक्त पुजारी की उपस्थिति में पूजनादि करती आ रही है।

गाँव की लडकियों को अपनी ही पुत्रियाँ मानकर उनके विवाह पर भोजन, आवास की व्यवस्था करना पिताजी का स्वभाव था, जो मेरे कार्यशैली का हिस्सा बना। मुझे सर्वाधिक प्रभावित पिता जी की विभिन्न विद्याओं के अध्ययन की आदत ने किया। प्राकृतिक चिकित्सा, औषधि विज्ञान, घरेलू चिकित्सा आदि ग्रन्थ आज भी मेरे ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं। हमारे पैतृक आवास "रायवाड़ा" कटनी में जब राय ग्रन्थालय की स्थापना हुई, तब उसका दायित्व पिता जी ने ही निभाया। आज उक्त ग्रन्थालय की पुस्तकें सागर विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय में संरक्षित है।

माँ का नाम दादा जी ने विवाहोपरान्त 'श्री' रखा व मान–सम्मान दिया। माँ संयुक्त परिवार की समस्त जिम्मेदारियों का निर्वाह शान्त चित्त से करती थी। उत्तरदायित्व निर्वाह की यह आदत मेरे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गई। एक ही धुन है भारत को अन्तराष्ट्रीय स्तर पर विश्वगुरु सिद्ध करना।

अंत में इतना ही अनुरोध है कि भारतीय होने के नाते हम सब का दायित्व है कि भारतीय जीवन शैली अपनाएँ, जो आध्यात्मिक तो है ही, वैज्ञानिक भी है। पीढ़ियों के अवदान को न भूलें।

प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी स्मृति व्याख्यानमाला

प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी का जन्म 08 मई, 1946 को मध्यप्रदेश के सिवनी अंचल, छपारा में हुआ। इन्होंने श्री श्याम सिंह नेगी और श्रीमती श्यामा देवी की पाँचवी संतान और प्रथम पुत्ररत्न के रूप में जन्म लिया। चार कन्याओं के बाद जन्म लेने के कारण जहाँ ये अपनी माताजी को प्राणों से भी अधिक प्रिय थे, वहीं अपने थानेदार पिता के अनुशासन के प्रथम भागी भी बने। इनकी प्रारंभिक शिक्षा जबलपुर में हुई और उन्हीं दिनों ओशो रजनीश के संपर्क में आकर इन्हे दर्शन को पढ़ने की इच्छा जाग्रत हुई। सागर विश्वविद्यालय से आपने स्नातक 1965 में, स्नातकोत्तर 1967 में एवं पीएच. डी. की उपधि 1973 में प्राप्त की। अपनी दर्शन दीक्षा को अकादमिक स्वरूप प्रदान करते हुये, इन्होंने एस एन कॉलेज खंडवा में 1974 से 1976 तक शिक्षण–कार्य करके अपने अध्यापकीय जीवन की शुरूआत की। प्रो. नेगी 1976 में पुनः तदर्थ व्याख्याता के रूप में सागर विश्वविद्यालय लौटे और यहाँ पर उन्होंने प्रो. एस.एस. राय द्वारा संस्थापित एवं प्रो. रासबिहारी दास, प्रो. श्री कृष्ण सक्सेना, प्रो. दयाकृष्ण आदि के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित दर्शन–विभाग को क्रमशः व्याख्याता, उपाचार्य, आचार्य और विभागाध्यक्ष के रूप में 2008 तक पल्लवित और पोषित किया। दर्शन–विभाग के अतिरिक्त प्रो. नेगी संकाय–अध्यक्ष, कार्यकारिणी सदस्य एवं अनेकशः प्रभारी कुलपति के रूप में डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय को अपनी कारुणिक ऊर्जा से संवारते रहे। मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ दर्शन परिषद् को तो इसकी स्थापना से लेकर अंतिम समय तक प्रो. नेगी का स्नेह प्राप्त होता रहा है, साथ–ही–साथ अखिल भारतीय दर्शन परिषद् में भी वे अपने पूरे मन से आजीवन सक्रिय रहे।

अनेक पुस्तकों और अनेकों शोध–पत्रों का प्रकाशन प्रो. नेगी के नाम है, जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। लेकिन उनकी पुस्तकों में से "महाभारत : समाज संस्कृति दर्शन" एवं "न्याय वैशेषिक दर्शन", तथा सम्पादित पुस्तकों में से "भारतीय दर्शन", एवं समेकित दार्शनिक विमर्श आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं, जिनमें प्रतिपादित विचारों से आगामी दार्शनिक पीढ़ी अनुप्राणित रहेगी। उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त सागर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग का एक और महत कार्य "भारतीय दर्शन बृहद कोश" है, जो भारतीय दर्शन का अब तक का सबसे प्रामाणिक और सबसे बड़ा कोश है। इस कोश के निर्माण में भी प्रो. अर्जुन मिश्र एवं महामहोपाध्याय बच्चू लाल अवस्थी जी के अनन्य सहयोगी के रूप में प्रो. नेगी ने अपनी भूमिका का निर्वहन किया है।

सागर विश्वविद्यालय से अवकाश प्राप्त करने के उपरान्त प्रो. नेगी जीवन पर्यन्त दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के अध्यक्ष के दायित्व का सफलता पूर्वक निर्वहन किया। इस दायित्व अवधि के दौरान ही दिनांक 08 मई 2021 को अचानक प्रो. नेगी के स्वर्गवास का समाचार दर्शन जगत् के लिए स्तब्धकारी था। होनी के आगे सब विवश थे। प्रो. नेगी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पूर्व विद्यार्थियों, सहृदयी मित्रों व परिजन ने मिलकर उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए "स्व. प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी व्याख्यानमाला" हेतु स्थायी निधि के रूप में रूपये 50,000/–परिषद् को इस आशय के साथ प्रदान किये कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में स्वतंत्र दार्शनिक विषय पर व्याख्यान आयोजित किये जाएँ।

श्रीमती मालती देवी–श्री पून्नी लाल पटेल स्मृति पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला

ब्रम्हलीन श्रीमती मालती देवी एवं श्री पून्नी लाल पटेल की स्मृति में संयुक्त रूप से प्रो. भूपेन्द्र पटेल (अंग्रेजी विभाग), प्राचार्य, नवीन शासकीय महाविद्यालय, नवागढ़, जिला जांजगीर – चांपा, छत्तीसगढ़ तथा डॉ. श्रीमती त्रिवेणी पटेल (राजनीतिशास्त्र विभाग), प्राचार्य, संस्कृति महाविद्यालय, मेऊ (पामगढ़), जिला जांजगीर – चांपा, छत्तीसगढ़ द्वारा पर्यावरण दर्शन व्याख्यानमाला हेतु रूपये 50000 मात्र दर्शन परिषद् (मध्य प्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

को समर्पित किया गया है।

स्व. पुन्नी लाल पटेल अविभाजित सी.पी. एण्ड बरार तथा मध्यप्रदेश राज्य में प्राविंशियल फारेस्ट सर्विस में कार्यरत थे। मूलतः छत्तीसगढ़ के रायगढ़ जिला के अंतर्गत खरसिया तहसील के ग्राम ढिमानी में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता श्री बालकराम पटेल प्रगतिशील कृषक थे तथा बच्चों की शिक्षा दीक्षा के प्रति जागरूक थे। स्टेट नटवर हाई स्कूल रायगढ़ में अध्ययन के दौरान स्व. पटेल फुटबाल के राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी थे। इनका जन्म 26 नवम्बर 1920 तथा देहावसान 20 फरवरी 1973 को कांकेर बस्तर में अतिरिक्त सहायक वन संरक्षक के रूप में अपनी शासकीय सेवा के दौरान हुआ। सेवा काल के दौरान ये पर्यावरण संरक्षण, जैवविविधता संरक्षण के प्रति अत्यंत जागरूक थे तथा जहां भी इन्होंने कार्य किया– लाखों की संख्या में अपना निजी कार्य समझकर वृहद् शासकीय एवं सामाजिक पौध रोपण कराया, जिसे करगी रोड, कोटा, गौरेला, मरवाही, पेन्ड्रा, धरमजय, गढ़, जनकपुर, सरगुजा, वाड्रफ नगर, रामानुजगंज, बलरामपुर, कांकेर, केशकाल, बड़े डोंगर, छोटेडोंगर, बस्तर के जंगलों मे आज भी देखा जा सकता है। सेवाकाल के दौरान ब्रिटिश रूल होने के कारण ये राष्ट्रीय भावना से ओत–प्रोत थे। स्वतंत्रता के पूर्व एक बार इन्हें राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की ट्रेन यात्रा के दौरान साथ–साथ यात्रा का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ था। कालांतर में कन्याकुमारी में बन रहे स्वामी विवेकानंद रॉक मेमोरियल के निर्माण के दौरान इन्होंने अभियान के रूप में जनसामान्य से चंदा एकत्रित करते हुए स्वयं अपनी ओर से भी आर्थिक सहयोग किया था।

श्रीमती मालती देवी पटेल उनकी सहधर्मिणी थी। इनका अवतरण वर्ष 1934 तथा महाप्रयाण दिनांक 03.02.2002 में हुआ था। अपने पति के हर रचनात्मक कार्य में उनका हर संभव सहयोग, प्रेरणा एवं संबल था। शिक्षा के प्रति जागरूक होने के कारण इन्होंने अपने सभी पुत्र पुत्रियों का स्तरीय लालन पालन करते हुए उच्च शिक्षा प्रदान किया।

श्री हजारी लाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला

स्व. हजारी लाल चौरसिया नाथपंथ दर्शन एवं योग व्याख्यानमाला का प्रवर्तन स्व. हजारी लाल चौरसिया के पौत्र डॉ. संदीप कुमार चौरसिया, दार्शनिक परामर्शदाता एवं योग विशेषज्ञ, लखनऊ एवं पौत्रवधु डॉ. रेनू चौधरी, सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग, चौधरी महादेव प्रसाद पी.जी. डिग्री कॉलेज, प्रयागराज (अंगीकृत इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज) के द्वारा किया गया है। इस हेतु चौरसिया दम्पति द्वारा रूपये 50000/ हजार की धनराशि दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को प्रदान किया गया है।

स्व. हजारी लाल चौरसिया एक महान शिव भक्त थे। उनका जन्म 15 अगस्त 1923 में ग्राम बघुवामऊ, तहसील संडीला, जिला हरदोई, उ.प्र. एवं देहावसान 25 दिसम्बर 1999 को संडीला, हरदोई, उ.प्र. में हुआ था। आप गोरखनाथ मंदिर, गोरखपुर के नाथ पंथ एवं संत परम्परा से जुड़े थे। सादगी एवं सरल स्वभाव के धनी हजारीलाल जी निरंतर शिव नाम का जाप किया करते थे। आपको संत महात्माओं की संगति करना एवं दान करना अत्यधिक प्रिय था। योग शिक्षा एवं दर्शन के प्रति उनका समर्पण परिजन के लिए सदैव प्रेरणा स्रोत रहा। आपके चार पुत्रों में सबसे बड़े पुत्र डॉ. शिवकुमार चौरसिया के सुपुत्र डॉ. संदीप कुमार चौरसिया पर आपके जीवन का विशेष प्रभाव पड़ा। परिणाम स्वरूप डॉ. संदीप कुमार चौरसिया द्वारा नाथ परम्परा के दर्शन और योग पर आधारित "हठयोग प्रदीपिका का दार्शनिक विवेचन" विषय पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर शिक्षा के क्षेत्र में दर्शन एवं योग के प्रचार–प्रसार हेतु अनवरत प्रयास किया जा रहा है। चौरसिया दम्पति का आग्रह है कि उक्त व्याख्यानमाला में व्याख्यान का विषय सामान्यतः नाथ परम्परा एवं योग से सम्बन्धित ही रहे।

श्री झाडूराम मरावी श्रीरामचरितमानस व्याख्यानमाला

श्री झाडूराम मरावी का जन्म छत्तीसगढ़ के कँदा जमींदारी के अंतर्गत ग्राम सरईपाली जिला बिलासपुर में सन् 1938 में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री घासीराम मरावी था जो जमींदारी व्यवस्था के अन्तर्गत मुकद्दम थे। श्री झाडूराम मरावी जी की प्राथमिक शिक्षा जमींदार साहब के देखरेख में हुई। ये बचपन से ही धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उस जमाने में कँदा संगीत और साहित्य का गढ़ माना जाता था। यहाँ विशेष पर्वों में देश के जाने–माने संगीतज्ञ आया करते थे। साथ ही परमपूज्य स्वामी श्री सदानन्द जी, परमहंस अद्वैत आश्रम, बेलगहना, बिलासपुर का भी पिता जी पर अमिट प्रभाव पड़ा था। इसके अतिरिक्त छत्तीसगढ़ में रामचरित मानस का प्रचार–प्रसार ने भी उन्हें खूब प्रभावित किया। इस प्रकार रामचरितमानस से उनका प्रेम था। उन्हीं की प्रेरणा से मुझे हिन्दी और दर्शनशास्त्र में एम.ए. करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसीलिए मैंने (डॉ. डी. एस. मरावी) सोचा कि पूज्य पिता श्री की स्मृति में 'रामचरित मानस' पर एक व्याख्यानमाला दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) में प्रारंभ की जाय।

प्रस्तुत व्याख्यानमाला हेतु डॉ. डी. एस. मरावी, प्राध्यापक, ठाकुर छेदीलाल महाविद्यालय, चाँपा, छत्तीसगढ़ ने परिषद् को स्थाई निधि के रूप में रुपये 50000 (पचास हजार रुपये) मात्र प्रदान कर अपेक्षा की है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में श्री रामचरित मानस पर केन्द्रित व्याख्यान आयोजित किया जाय।

प्रो. अशोक कुमार चटर्जी बौद्ध व्याख्यानमाला

बहुधान्य नामक विक्रम सम्वत् 1982 के मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष द्वादशी शुक्रवार तदनुसार 27 नवम्बर 1925 को अशोक कुमार चटर्जी का जन्म प्रयागराज में हुआ था। उनके पिता का नाम था शिवराम चटर्जी और माता का नाम था नलिनी चटर्जी। चार भाइयों एवं तीन बहनों में प्रो० चटर्जी सबसे बड़े थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा सेण्ट्रल हिन्दू स्कूल, वाराणसी में हुई जहाँ उनके दादा प्रभासचन्द्र चटर्जी संस्कृत एवं अंग्रेजी के अध्यापक थे। इसी स्कूल से हाईस्कूल एवं इण्टरमीडिएट (प्रथम स्थान) के उपरान्त उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी. ए. (प्रथम स्थान) एवं दर्शनशास्त्र में एम.ए. (प्रथम स्थान) किया तथा बौद्ध दर्शन के प्रतिष्ठित विद्वान आचार्य टी. आर.वी. मूर्ति के निर्देशन में 'योगाचार विज्ञानावाद' पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया जो प्रोफेसर मूर्ति के शोध प्रबन्ध 'माध्यमिक डॉयलेक्टिक' (यह पुस्तक रूप में Central Philosophy of Buddhism नाम से हुयी) के समतुल्य थी। स्वयं प्रो० मूर्ति ने अपने परीक्षकीय प्रतिवेदन में यह स्वीकार किया कि प्रोफेसर चटर्जी का शोध प्रबन्ध योगाचार विज्ञानवाद की मात्र पुनर्प्रस्तुति नहीं है वरन् यह उसकी पुनर्व्याख्या एवं पुनर्निर्माण है।

प्रोफेसर चटर्जी दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 1947 से 1950 तक सयाजीराव गायकवाड़ फेलो थे। 1950 में ही उनकी नियुक्ति आगरा विश्वविद्यालय में हो गई और शीघ्र ही वे वहाँ दर्शन विभाग के अध्यक्ष बना दिये गये। 09 जुलाई 1963 को वे अपनी मातृसंस्था दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, जो अब सेण्टर ऑफ एडवान्स्ड स्टडी इन फिलॉसाफी बन गया था, की सेवा में लौट आये और क्रमशः रीडर, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष के पदों का सुचारु दायित्व निभाते हुये 1985 में सेवानिवृत्त हुये। किन्तु यह सेवानिवृत्ति मात्र आधिकारिक थी, वास्तविक नहीं, क्योंकि वे जीवनपर्यन्त विद्यार्थियों को निस्वार्थ पूर्ण मनोयोग से शिक्षा देते रहे और अनेक शोधार्थियों के 'वास्तविक' निर्देशक रहे। प्रो० चटर्जी को काशी में ही 21.04.2021 को शिवलोक की प्राप्ति हुई।

प्रो० चटर्जी ने अपने जीवनकाल में चार पुस्तकों 1. The Yogacara Idealism (1962), 2. Readings on Yogacara Buddhism (1971), 3. Factors of Buddhist Thought (1973), 4. The Concept of Sakshi in Advaita

Vedanta (1979) एवं 30 से अधिक शोध निबन्धों के माध्यम से दर्शन जगत् को समृद्ध किया।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने 1992 में प्रो0 चटर्जी को National Lectureship का सम्मान दिया जिसके अन्तर्गत उन्होंने भारत के अनेक शहरों में व्याख्यान दिये। Indian Philosophical Congress ने परिसंवादक (दिल्ली, 1965), तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा सत्र के अध्यक्ष (उस्मानिया विश्वविद्यालय, 1971), बुद्ध जयंती व्याख्यान प्रदाता (शिमला, 1973) आदि की भूमिका में थे।

Indian Philosophical Congress के दिल्ली विश्वविद्यालय में 1975 में आयोजित स्वर्ण जयन्ती समारोह के प्रधान सत्र (Plenary Session) में उन्होंने व्याख्यान दिया। 2011 में अन्नामलै विश्वविद्यालय में आयोजित Indian Philosophical Congress के 86वें अधिवेशन में प्रधान सभापति (General President) का स्थान उन्हें दिया गया। मन्जुश्री सम्मान द्वारा तिब्बत युनिवर्सिटी, वाराणसी ने उन्हें अलंकृत किया। दर्शन में उनके योगदान को देखते हुये भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद ने प्रो0 चटर्जी को 2014 में 'लाइफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड' प्रदान किया।

प्रोफेसर चटर्जी एक आदर्श अध्यापक थे। कक्षा में वे सदैव समय पर आते थे और पूर्णतः विषय केन्द्रित रहते थे। शोध छात्रों से उनको अपेक्षा रहती थी कि वे परम्परा की परिधि में रहते हुये नवोन्मेष भी करें। प्रो0 चटर्जी अनेक भाषाओं के जानकार थे। हिन्दी, बंगाली, संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रांसीसी एवं जर्मन भाषाओं पर उनकी अच्छी पकड़ थी। वे अद्भुत स्मरणशक्ति के धनी थे। उनके शारीरिक स्वास्थ्य का रहस्य था उनकी नियमित जीवन शैली। ब्रह्ममुहूर्त में उठना, कसरत करना, स्नानादि के पश्चात् पैदल सैर पर निकलना जो कभी–कभी 30–40 किलोमीटर तक होता था और भोजन का समय बीत जाने पर भोजन न करना। उनके मानसिक स्वास्थ्य का रहस्य था दर्शन, तर्कशास्त्र एवं शतरंज की गुत्थियों से उलझना और शास्त्रीय संगीत सुनना। उनमें कुछ ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि जो भी उनके संपर्क में आता था उनका बन जाता था। उन्होंने अपने जीवन काल में ही अशोक नगर (मध्यप्रदेश) की अपनी पैतृक सम्पत्ति अपने भाई–भतीजों के नाम कर दी और अपनी स्व–अर्जित सम्पत्ति विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को दान कर दिया। वाराणसी का अपना घर उन्होंने 'श्री गुरु कार्ष्णि विद्या भवन ट्रस्ट' के नाम वसीयत कर दिया जहाँ अभी उस मठ के विद्यार्थी शास्त्रों का अध्ययन करते हैं और कहते हैं कि इस स्थान में उनका पढ़ने में मन सहज लग जाता है एवं पाठ आसानी से जल्दी समझ में आ जाता है। निश्चित है एक गम्भीर चिन्तक, आदर्श आध्यापक, ऋषितुल्य त्यागी एवं सबसे आत्मीय गुरुवर प्रो0 चटर्जी की महती ऊर्जा एवं परिमल से वे प्रभावित होते हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि मध्यप्रदेश दर्शन परिषद की गोष्ठियों में उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का स्मरण सब के लिये प्रेरणास्पद होगा।

प्रस्तुत व्याख्यानमाला हेतु प्रो. एस. विजय कुमार एवं प्रो. अभिमन्यु सिंह, आचार्यद्वय, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने परिषद् को स्थाई निधि के रूप में रुपये 50000 (पचास हजार रुपये) मात्र प्रदान कर अपेक्षा की है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में बौद्ध दर्शन पर केन्द्रित व्याख्यान आयोजित किया जाय।

राय बहादुर डॉ. हीरालाल राय ग्रन्थ पुरस्कार

राय बहादुर डॉ. हीरालाल जी का जन्म 01 अक्टूबर 1867 को मुड़वारा में हुआ था। प्रथम संतति होने के कारण इनके माता–पिता ने उनका लालन–पालन बडे लाड़–प्यार से किया। हीरालाल जी बचपन से ही तीव्र बुद्धि एवं वाक्पटु थे। आप सदैव अपनी कक्षा में प्रथम रहा करते थे। सन् 1881 में आपने मिडिल स्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उस समय तक कोई विद्यार्थी मुड़वारा स्कूल से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण नहीं हुआ था, इसलिए स्कूल के सभी छात्रों और अध्यापकों ने मिलकर बड़ा हर्ष मनाया। हीरालाल जी को छात्रवृत्ति भी मिली।

फलतः कई शुभचिंतक सज्जनों ने उन्हें जबलपुर जाकर हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए उनके पिता से आग्रह किया, परन्तु उस समय छुआ–छूत का इतना ख्याल था कि यह बड़ी कठिन समस्या आ पड़ी

कि जबलपुर में रसोई का प्रबंध कैसे होगा। अंत में यही निर्णय हुआ कि हीरालाल जबलपुर अध्ययन के लिए जायें, परन्तु अपने हाथ से रसोई बनाया करें। अस्तु हीरालाल को दो–चार दिन में माता द्वारा पाक–शास्त्र की टूटी–फूटी शिक्षा मिली और वे जबलपुर जाकर गवर्मेंट हाई स्कूल में भर्ती हुए। सभी इनके अध्ययन और व्यवहार से प्रसन्न थे, परन्तु भोजन कला के नव–शिक्षित विद्यार्थी हीरालाल कच्ची–पक्की या जली–भुनी रोटी खाकर अपने पठन में जुटा करते थे। फलतः शीघ्र रोगी होकर घर आना पड़ा। स्वस्थ होने पर फिर जबलपुर पहुँचे, परन्तु अब अच्छी रसोई बनाने पर भी ध्यान रहता था।

दो वर्ष में इंट्रेंस पास करके गवर्मेंट कालेज में भर्ती हुए। स्वभाव के अच्छे और व्यवहार के सच्चे होने के साथ ही पढ़ने–लिखने में अत्यंत तीव्र बुद्धि होने के कारण उनके सहपाठी तथा अध्यापक उनको हृदय से चाहने लगे। उनकी योग्यता की धाक समस्त कालेज पर जम गई।

1888 में उन्होंने बी.ए. की डिग्री प्राप्त की। उनके सुन्दर–स्वभाव, कार्य–क्षमता तथा अन्य गुणों के कारण उनके प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, सभी उनसे प्रसन्न रहते थे। इसका फल यह हुआ कि बी.ए. की डिग्री प्राप्त करते ही, गवर्मेन्ट कौलेजिएट हाई स्कूल में एक अध्यापक के पद पर अस्थाई रूप से नियुक्ति हो गई। फिर लगभग 6 मास पश्चात् ही, आप मिडिल स्कूलों और हाईस्कूलों के मास्टरों को "पदार्थ–विज्ञान" पढ़ाने के लिए नियुक्त हुए। उस समय यह विषय पहले ही पहल स्कूलों में प्रचलित हुआ था। औरों को इसे पढ़ाने में बड़ी कठिनाई पड़ती, परन्तु इस कार्य को आपने बड़ी योग्यता के साथ सम्पन्न किया। अफसर लोग उनसे अत्यन्त संतुष्ट रहे। तत्कालीन इंस्पेक्टर जनरल आफ एज्युकेशन एलेक्जैंडर मनरो ने इनकी बड़ी प्रशंसा की।

इन दिनों की एक विशेषता उल्लेखनीय है। वह यह कि जिनको आप पढ़ाया करते थे उनमें कुछ इनके शिक्षक भी रह चुके थे। इन पुराने शिक्षकों को, जो अब उनके शिष्य आ बने थे, वे पहले ही जैसा सम्मान करते थे। एक ने इनसे कहा भी कि अब तो आप गुरु हैं और मैं शिष्य हूँ। अब क्यों मेरे आने पर आप खड़े हो जाते हैं और आदरपूर्वक प्रमाण करते हैं? उन्होंने उत्तर दिया कि जो एक बार मेरा परम पूजनीय गुरु हुआ, वह सदा ही मेरा पूजनीय रहेगा।

इस पद पर रहकर आपने स्थानिक कारीगरों द्वारा सरल वैज्ञानिक यंत्र बनवाने का प्रबल–प्रयत्न किया। जो यंत्र स्थानिक कारीगरों द्वारा नहीं बन सकते थे उन्हें विदेश से मँगाने के बदले पंजाब की वैज्ञानिक संस्था से मँगवा कर उस संस्था को इस कार्य में पूर्ण रूप से उत्साहित किया। केवल इतना ही नहीं, शिक्षा–विभाग के डायरेक्टर से अनुरोध कर यह नियम प्रचलित कर दिया कि विज्ञान की समस्त आवश्यक सामग्री, यथासंभव स्वदेशी संस्थाओं से मँगाई जाये।

इस ग्रन्थ पुरस्कार का प्रवर्तन परिषद् की संस्थापक सदस्य प्रो. छाया राय, पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर ने किया है। इस हेतु प्रो. राय ने परिषद् को रुपये 50,000/ की स्थाई निधि प्रदान की है तथा अपेक्षा की है कि इस राशि के ब्याज से प्रतिवर्ष पार्षदों द्वारा प्रकाशित किसी एक श्रेष्ठ ग्रन्थ के लिए यह पुरस्कार प्रदान किया जाय।

प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार

प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी जी का संक्षिप्त जीवन परिचय 'प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी व्याख्यानमाला' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत हो चुका है। उल्लेखनीय है कि प्रो. नेगी के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनके पूर्व विद्यार्थियों, सहृदयी मित्रों व परिजन ने मिलकर उनकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए "स्व. प्रो. सुरेंद्र सिंह नेगी ग्रन्थ पुरस्कार" हेतु भी स्थायी निधि के रूप में रुपये 50,501/–परिषद् को इस आशय के साथ प्रदान किये हैं कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में स्वतंत्र दार्शनिक विषय पर पार्षदों के प्रकाशित पुस्तक पर इसकी ब्याज राशि से पुरस्कार प्रदान किया जाय।

श्री श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार

स्वर्गीय श्री श्रीराम पाण्डेय जी का जन्म 11/04/1917 को एवं देहावसान 03/08/1993 को मध्यप्रदेश में हुआ। आपने सिविल इंजीनियरिंग की परीक्षा 1940 में नागपुर विश्वविद्यालय से द्वितीय श्रेणी में प्राप्त की। आप सागर नगर निगम में सहायक यंत्री एवं जल प्रदाय विभाग में अधीक्षण यंत्री के पद पर कार्यरत रहे। सागर शहर में जल प्रदाय विभाग की स्थापना भी आपने की। आप कर्मठ, ईमानदार, विनम्र स्वभाव एवं मिलनसार व्यक्तित्व के धनी थे। आप अपनी संतानों को प्रेरणा स्रोत के रूप में सदैव मार्गदर्शन करते रहे।

प्रत्येक कार्य हेतु वास्तविक प्रवर्तक तो परम पिता परमात्मा है परन्तु स्वयं के कर्तव्य निर्वहन एवं पितृ ऋण से उऋण होने हेतु विनम्रतापूर्वक उनकी सुपुत्री प्रो. दीपा पाण्डेय, सेवानिवृत्त प्राध्यापक, दर्शनशास्त्र, शासकीय के.आर.जी. महाविद्यालय, ग्वालियर तथा भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) ने अपने पिता स्व. श्री श्रीराम पाण्डेय के नाम से युवा दार्शनिक पुरस्कार हेतु रूपये पचास हजार (50000) की स्थाई निधि दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को प्रदान किया है। प्रो. दीपा पाण्डेय जी के आग्रहानुसार निम्न शर्तों के आलोक में यह पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।

1. स्थाई निधि के ब्याज राशि से यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. प्रतिवर्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
3. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
4. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में सर्वश्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
5. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्कार कर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी, परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

पंडित राम बिलास मिश्र युवा दार्शनिक पुरस्कार

बाद ग्राम, जिला –रोहतास, बिहार निवासी दम्पति पं. कौलेश्वर मिश्र एवं श्रीमती लखरानो देवी के घर सन् 1924 में पहले पुत्र ने जन्म लिया। किन्तु भगवान की लीला कौन जाने। पुत्र जन्म के चौथे दिवस ही माता श्रीमती लखरानो देवी शरीर त्यागकर स्वर्गवासी हो गयीं। अब घर में युवा पिता और चार दिन का बालक, मानो विधाता ने परीक्षा हेतु सबसे कठिन प्रश्नपत्र दे दिए हों। ऐसे में बालक की बुआ श्रीमती त्रिवेणी देवी, जिनका विवाह कोनार निवासी पं. गंगा सागर पाण्डेय जी के साथ हुआ था, ने बालक के पालन–पोषण का उत्तरदायित्व स्वीकार किया। बाद ग्राम से बालक को कोनार ले जाया गया, जहाँ नामकरण किया गया – राम बिलास मिश्र। बिन माँ का यह बालक बुआ के लाड़–प्यार में शनैः–शनैः बड़ा होता रहा। बाल्यावस्था में वह कभी–कभार पिता के पास बाद ग्राम में तो अधिकांश समय बुआ के पास कोनार में रहकर अपने अल्हड़ स्वभाव के साथ बड़ा होता रहा। इधर युवा पिता ने दूसरा विवाह कर लिया और नए परिवार मे व्यस्त हो गए। इस कारण पिता पहली धर्मपत्नी से जन्मे रामबिलास के पालन–पोषण से अन्यमनस्क हो गए। ऐसे में रामबिलास का अधिकांश समय बुआ के साथ ही बीतने लगा। समय बीतने के साथ बालक किशोरावस्था को प्राप्त हुआ और लगभग 15 वर्ष की किशोर आयु में अमरथा निवासी स्व. नान्ह बुटन पाण्डेय व श्रीमती राम कुँवर की 12 वर्षीया एकमात्र पुत्री नेपुरा के साथ दाम्पत्य सूत्र में बँध गया। बाद ग्राम में अपनी धर्मपत्नी को लेकर रामबिलास अपने पिता के साथ रहने लगे, किन्तु पिता और दूसरी माँ के साथ सामंजस्य स्थापित न हो पाने के कारण कुछ वर्षों के पश्चात् वे पिता से अलग होकर बँटवारे में प्राप्त जमीन से कृषि कार्य करते हुए जीवन यापन करने लगे।

पहली सन्तान के जन्म के उपरान्त ही स्वर्गवासी होने के उपरान्त रामबिलास व नेपुरा देवी ने शनैः शनैः अपनी गृहस्थी संभाली और शेष अपने चार पुत्रियों व दो पुत्रों क्रमशः रामावती, गोदावरी, सावित्री, सुनैना, शालीग्राम व श्रीकान्त का लालन–पालन कर उनमें नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों के संस्कार स्थापित किए।

पं. रामबिलास भगवान भोलेनाथ व भगवान कृष्ण के अनन्य भक्त थे। कृषि हेतु इतनी जमीन नहीं थी, जिससे पूरे परिवार के लिए ठीक ढंग से रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था हो सके, किन्तु उनकी प्रसन्नता पर कभी भी आँच नहीं आयी। वे आजीवन कहते रहे कि 'तीन लोक बैरी का करिहें जब खुश रहिहें भगवान'। ईश्वर के प्रति उनके प्रेम को देखकर उनके समकालीन ग्रामवासी अक्सर उन्हें प्रीतम अथवा पीरतम नाम से पुकारने लगे थे। प्रायः प्रतिदिन शाम को ढोलक लेकर गाँव के शिवालय में जाना व भोलेनाथ को अपने भजन सुनाना उन्हें बहुत प्रिय था। शिवालय से आकर रात का भोजन करने के उपरान्त घर के अन्दर बैठकर और उत्तर काल में पक्का घर बन जाने के उपरान्त छत पर बैठकर देर रात तक चिल्ला चिल्लाकर ढोलक के साथ भजन गाना और भक्त वत्सल आनन्द कन्द भगवान कृष्ण के कथा का वर्णन करना उनकी दिनचर्या में सम्मिलित था। परमात्मा की शक्ति पर पर अटूट श्रद्धा रखते हुए अल्हण स्वभाव के पं रामबिलास ने जीवन में कभी भी तनाव को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। सम्पूर्ण जीवन आर्थिक रूप से तंगहाल था, किन्तु ईश्वर भक्ति व प्रसन्नता में कभी कोई कमी नहीं आयी। मात्र दूसरी कक्षा तक पढ़ाई करने वाले रामबिलास जी आर्थिक अभाव होते हुए भी कभी अकेले तो कभी सपत्नीक देश के प्रायः सभी तीर्थस्थलों का दर्शन कर अपने सनातनी परम्परा का निर्वहन किया।

किसी के दबाव में आकर अपने नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों से उन्होंने जीवन में कभी भी समझौता नहीं किया, जिसके कारण अनेकशः पड़ोसियों से तकरार और झूमाझटकी के अवसर भी उत्पन्न हो जाते थे। परमात्मा के प्रति श्रद्धा और परमात्मा की कृपा वैसे तो उनके जीवन में सदैव रही, परन्तु उसका स्पष्ट प्रमाण उनके जीवन के आखिरी समय में देखने को मिलता है। वे अपने आखिरी 20–25 वर्षों में प्रायः कहते रहते थे कि मेरा देहावसान 85 वर्ष की आयु में होगा। सन् 2009 में उनके छोटे पुत्र द्वारा बार–बार आग्रह करने पर अपने सबसे प्रिय तीर्थस्थान मथुरा जाने के लिए तैयार हो गए। टिकिट आदि की व्यवस्था होने पर वे अपनी धर्मपत्नी, बड़े पुत्र व दो पुत्रियों के साथ मथुरा जी के लिए प्रस्थान किए। लगभग एक सप्ताह तक वहाँ दर्शन आदि का कार्यक्रम था। मथुरा जाने से पूर्व गाँव में ही उन्होंने कहा कि 'मुझे तुमलोग मथुरा में ही छोड़ देना और तुमलोग गाँव लौट आना'। यद्यपि इस कथन का मर्म उस समय कोई न समझ सका। खैर, वे मथुरा पहुँचकर तीन–चार दिनों तक प्रसन्नता के साथ मथुरा व वृन्दावन में विभिन्न मंदिरों में दर्शन करते रहे व यमुना जी में स्नान करते रहे। गाँव वापसी के तीन दिन पूर्व अचानक उनकी तबीयत खराब हो गयी और उन्हें वहीं अस्पताल में भर्ती करना पड़ा। दो दिन अस्पताल में रहने के उपरान्त 19 व 20 अक्टूबर 2009 की दरम्यानी रात में उन्होंने शरीर त्याग दिया। मानो उनके पूरे जीवन का परम प्रयोजन मथुरा में आकर भगवान कृष्ण के साथ एकाकार होना ही था। अब गाँव में कहे उनके कथन का अभिप्राय समझ में आया। उस समय उनकी आयु भी 85 वर्ष थी और वापस न लौट आने का संकल्प भी पूरा हो गया।

ऐसे दिव्यात्मा पं. राम बिलास मिश्र की स्मृति में उनके पुत्र प्रो. श्रीकान्त मिश्र एवं पुत्रवधु डॉ. स्मिता मिश्रा द्वारा अपने पिताजी के नाम से युवा दार्शनिक पुरस्कार हेतु रूपये पचास हजार (50000) की स्थाई निधि दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) को प्रदान किया गया है। स्थाई निधि के ब्याज राशि से यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा। श्री श्रीराम पाण्डेय युवा दार्शनिक पुरस्कार के बाद जो श्रेष्ठ आलेख होगी उन्हें निम्न शर्तों के साथ यह पुरस्कार प्रदान किया जाएगा।

1. प्रतिवर्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्‌घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
3. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में दूसरे श्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
4. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्कार कर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी, परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

श्रीमती बबनी सिंह–श्री बंशरूप सिंह युवा दार्शनिक पुरस्कार

स्व. श्री बंशरूप सिंह जी का जन्म ग्राम कुठिला, थाना जवा, तहसील त्योंथर, जिला रीवा (म.प्र.) में हुआ। छः माह की गर्भावस्था के समय ही आपके पिता श्री हरिप्रसाद सिंह का असामयिक निधन हो गया। सामान्य कृषक परिवार में जन्मे बालक बंशरूप का लालन–पालन ननिहाल में हुआ। ग्राम कुठिला में प्राथमिक शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त आप कृषि कार्य में संलग्न हो गये। लगभग सन् 1940 में आपका पाणिग्रहण संस्कार बबनी सिंह पुत्री श्री रामदीन सिंह ग्राम लोहरा, थाना शंकरगढ़, जिला इलाहाबाद (वर्तमान में प्रयागराज), (उ. प्र.) के साथ सम्पन्न हुआ, जिनसे श्री यज्ञनारायण सिंह (अधिवक्ता) एवं डॉ. हर्षनारायण सिंह (चिकित्सक) दो पुत्रों का जन्म हुआ। श्रीमती बबनी सिंह के पिता श्री रामदीन सिंह अपने क्षेत्र के प्रतिष्ठित वैद्य थे, जो वैद्य जी के नाम से जाने जाते थे। वैद्य जी के तीन पुत्र व तीन पुत्रियों में से बबनी सिंह को छोड़ सभी भाई बहन असमय काल कवलित हो गये, इसलिए श्री बंशरूप सिंह जी को गृहस्थ जीवन में ससुर के जायदाद को भी संभालना पड़ा। आप भगवान भोलेनाथ के अनन्य भक्त थे। अपने इष्ट देव शिव जी का मंदिर निर्माण कराना आपकी निष्ठा को दर्शाता है।

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय स्वामी श्री तारकेश्वरानन्द तीर्थ जी महाराज से श्री बंशरूप सिंह जी सपत्नीक दीक्षा ग्रहण कर आजीवन गुरु सेवा में संलग्न रहे। इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री यज्ञनारायण सिंह (एम ए, एल एल बी) ने स्वास्थ्य निरीक्षक के शासकीय पद को सुशोभित किया, किन्तु कुछ ही दिनों में शासकीय सेवा से इस्तिफा देकर बड़े स्तर पर कास्तकारी कर अनाज उत्पादन एवं हॉर्टीकल्चर का कार्य सम्पन्न कर रहे हैं। जबकि कनिष्ठ पुत्र डॉ. हर्षनारायण सिंह (एम बी बी एस, डी जी ओ) स्त्री रोग विशेषज्ञ, मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी के शासकीय पद से निवृत्त होकर वर्तमान में भी समाज को चिकित्सकीय सेवा दे रहे हैं। चार प्रपौत्रों में श्री शैलेष सिंह एवं यशलाल सिंह विद्यालय संचालन कर शिक्षा के क्षेत्र में मानवता की सेवा कर रहे हैं एवं डॉ. रविचन्दन सिंह एम बी बी एस, एम डी कर नोएडा के जे पी कॉर्पोरेट हॉस्पिटल में चिकित्सकीय सेवाएँ दे रहे हैं। दो पौत्रियाँ ऋचा सिंह पुत्री श्री यशलाल सिंह एवं तनुश्री सिंह पुत्री श्री शैलेष सिंह एम बी बी एस अंतिम वर्ष की छात्रा हैं। श्री बंशरूप सिंह का निधन लगभग 90 वर्ष की अवस्था में सन् 2010 तथा श्रीमती बबनी सिंह का निधन 92 वर्ष की अवस्था में सन् 2015 में हुआ।

रीवा, मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध चिकित्सक एवं पूर्व सी.एम.एच.ओ. डॉ. एच.एन. सिंह जी द्वारा अपने माता–पिता के नाम से इस पुरस्कार का दर्शन परिषद् म.प्र. एवं छ.ग. में प्रवर्तन किया गया है तथा स्थाई निधि के रूप में रुपये 50,000/ की राशि परिषद् को प्रदान की गई है। यह पुरस्कार श्री श्रीराम पाण्डेय एवं पं. रामबिलास मिश्र युवा दार्शनिक पुरस्कार के उपरांत तीसरे श्रेष्ठ आलेख को निम्न शर्तों के साथ प्रदान किया जाएगा –

1. प्रतिवर्ष दर्शन परिषद(म.प्र. एवं छ.ग.) के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
3. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में तीसरे श्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
4. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्का कर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी, परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

प्रो. हेमन्त नामदेव युवा दार्शनिक पुरस्कार

स्व. प्रो. हेमन्त नामदेव जी का जन्म 08 अक्टूबर सन् 1960 को माता लक्ष्मी देवी एवं पिता श्री धन्नालाल जी नामदेव के यहाँ प्राच्य नगरी उज्जयिनी में हुआ। प्रारंभिक शिक्षा काल से ही आप मेधावी रहे। आपने शासकीय माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय उज्जैन से उच्च शिक्षा प्राप्त कर देवी अहिल्याबाई विश्वविद्यालय, इन्दौर से 'पर्यावरण दर्शन–भारतीय दृष्टिकोण के विशेष सन्दर्भ में एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' विषय पर प्रो.

डी.डी. बन्दिष्टे के कुशल शोध निर्देशन में शोधोपाधि प्राप्त की। भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली के सौजन्य से "तनाव प्रबन्धन" सदृश सामयिक विषय पर पोस्ट डाक्टरेट रिसर्च प्रस्तुत किया। प्राध्यापक पद को सुशोभित करते हुए अपने 26 वर्षों की सुदीर्घ अध्यापन परम्परा का निर्वहन किया तथा अनेकशः राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में 35 के लगभग शोध पत्रों का वाचन किया। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में शोध निर्देशक के रूप में पदस्थ होकर दशाधिक शोधेच्छुकों को मार्गदर्शन प्रदान कर लाभान्वित किया। आप विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में कार्यविधि के दौरान बोर्ड ऑफ स्टडीज इन फिलॉसफी के चेयरमैन नियुक्त हुए, इसके साथ ही मध्यप्रदेश के अग्रणी विश्वविद्यालयों के बोर्ड ऑफ स्टडीज इन फिलॉसफी के सदस्य भी रहे। विषय विशेषज्ञ के रूप में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में चयन मण्डल के सदस्य रहते हुए संघ लोक सेवा आयोग, नई दिल्ली द्वारा सिविल सर्विस एग्जामिनेशन के मूल्यांकन हेतु आमंत्रित हुए। आपका एक लम्बा कार्यकाल महाविद्यालयीन प्राचार्य के रूप में तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के केन्द्राध्यक्ष आदि पदों पर प्रशासनिक अनुभव के साथ बीता है। आप अखिल भारतीय दर्शन परिषद् एवं मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ दर्शन परिषद् के आजीवन सदस्य तथा कई मानद् निकायों के सम्मानित सदस्य रहे हैं।

इस पुरस्कार का प्रवर्तन प्रो. नामदेव जी के शोध छात्र रहे डॉ. देवदास साकेत, अतिथि विद्वान, दर्शन विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा तथा सुश्री ज्योति गोयल, सहायक प्राध्यापक, शासकीय माधव कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, उज्जैन द्वारा किया गया है। इस हेतु प्रो. नामदेव के दोनों शोधार्थियों के द्वारा रुपये 12500/एवं 12500/ कुल 25000/ की राशि परिषद् को स्थाई निधि के रूप में प्रदान किया गया है। प्रारम्भ में यह पुरस्कार निबन्ध पुरस्कार के रूप में प्रचलित था किन्तु डॉ. देवदास साकेत की सहमति से सत्र 2023–24 से इसे युवा दार्शनिक पुरस्कार के रूप में स्थापित किया जा रहा है। निम्न शर्तों के साथ यह पुरस्कार प्रदान किया जाएगा –

1. प्रतिवर्ष दर्शनपरिषद्(म.प्र.एवं छ.ग.)के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
3. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में चौथे श्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
4. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्कार कर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी, परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

प्रो. अशोक कुमार चटर्जी युवा दार्शनिक पुरस्कार

प्रो. अशोक कुमार चटर्जी जी का संक्षिप्त जीवन परिचय 'प्रो. अशोक कुमार चटर्जी व्याख्यानमाला' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा चुका है। प्रो.एस.विजय कुमार एवं प्रो. अभिमन्यु सिंह, आचार्यद्वय, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने परिषद् को स्थाई निधि के रूप में रुपये 25000 (पचीस हजार रुपये) मात्र प्रदान कर अपेक्षा की है कि परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों में निम्न शर्तों के साथ यह पुरस्कार प्रदान किया जाय–

1. प्रतिवर्ष दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.) के वार्षिक अधिवेशन के समापन सत्र में यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
2. पुरस्कार प्राप्तकर्ता की आयु सम्बन्धित अधिवेशन के उद्घाटन दिवस को 35 वर्ष से अधिक न हो।
3. 35 वर्ष तक के अध्येताओं में पाँचवे श्रेष्ठ आलेख वाचक को यह पुरस्कार प्रदान किया जायेगा।
4. वर्तमान सत्र में प्राप्त पुरस्कारकर्ता को आगामी दो अधिवेशनों तक शोध आलेख प्रस्तुत करने की अनुमति होगी, परन्तु उसे यह पुरस्कार प्रदान नहीं किया जायेगा।

प्रो. श्रीकान्त मिश्र
सचिव
दर्शन परिषद् (म.प्र. एवं छ.ग.)

प्रायोजक - भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्

आयोजक - दर्शन एवं योग
प्रायोजक - भारतीय दार्शनिक